वैदिक साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

भाग-1

वैदिक साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

(भाग-1)

लेखक
डॉ० जयदेव विद्यालंकार
पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़

भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मन्त्रालय की प्रादेशिक भाषाओं मे विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ द्वारा प्रकाशित।

प्रथम सस्करण : 1991
प्रतिया : 1100
मूल्य : पचास रुपये (Rs 50 00)

मुद्रक : शांति मुद्रणालय, 29/62, गली न० 11, विश्वासनगर, दिल्ली-32

प्रस्तावना

वैदिक साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, (भाग एक) का प्रकाशन भारत सरकार की हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं में विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत किया गया है। विश्वविद्यालय स्तर की पढाई हिन्दी माध्यम से सभव कराने के लिए विभिन्न विपयों की पुस्तके तैयार करवाने की यह योजना वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के तत्वावधान मे विभिन्न ग्रन्थ अकादमियों एव पाठ्य पुस्तक प्रकाशन बोर्डो द्वारा क्रियान्वित्त की जा रही है। इस योजना के अन्तर्गत हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा अव तक 181 पुस्तके प्रकाशित की गई है तथा इनमे से 67 पुस्तको के द्वितीय/तृतीय/चतुर्थ संस्करण भी निकाले जा चुके है। प्रस्तुत पुस्तक इस योजना का 182 वा प्रकाशन है।

वैदिक साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (भाग एक) का लेखन पूर्व प्रोफेसर डा० जयदेव विद्यालकर, सस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक द्वारा किया गया है। पुस्तक मे विषय का प्रतिपादन सात अध्यायो मे किया गया है। पहले अध्याय में वैदिक साहित्य की पूर्व पीठिका पर विचार किया गया है। अध्याय-2 और 3 मे ऋग्वेद सहिता तथा अथर्व वेद सहिता पर व्यापक रूप में विचार किया गया है। अतिम अध्याय ब्राह्मण साहित्य तथा आरण्यक और उपनिपद पर रखे गए है। विषय का प्रतिपादन विद्वान लेखक द्वारा सरल एवं सुन्दर ढग से किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा साहित्य की विभिन्न विधाओं, प्रख्यात साहित्यकारो के कृतित्व तथा साहित्य के इतिहास सम्वधी मौलिक पुस्तकें लिखवाने की योजना के अन्तर्गत तैयार करवाई गई है। हमे विश्वास है विपय से सम्वद्ध पाठकों के लिए प्रस्तुत पुस्तक विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

एन० के० जैन
निदेशक
हरियाणा साहित्य अकादमी
चण्डीगढ

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

पूर्वपीठिका

तीन समस्याएं

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास-लेखक के सामने तीन समस्याएं मुख्य रूप से उपस्थित होती हैं—(1) वेद के वास्तविक अर्थ की समस्या, (2) वेदमन्त्रों के रचना-स्थल को निर्धारित करने की समस्या और (3) मन्त्रों की रचना और संकलन के काल-निर्धारण की समस्या। इन समस्याओ पर विचार करने से पूर्व वैदिक साहित्य की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

वैदिक साहित्य का अर्थ

वैदिक साहित्य का सरलार्थ है 'वेद सम्बन्धी साहित्य'। सभी वैदिक संहिताओं का नाम 'वेद' इस पद के साथ समाप्त होता है यथा—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इस 'वेद' शब्द का अर्थ नाना वर्गो के व्यक्तियो के लिए पृथक्-पृथक् है। 'जानना' इस अर्थ वाली संस्कृत की 'विद्-ज्ञाने' धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द से अभिप्राय वर्तमान मे एक विशिष्ट श्रेणी के धार्मिक ग्रन्थो से लिया जाता है जो नानाविध भारतीय धर्मो के मूल माने जाते हैं। तथापि इस शब्द का प्रारम्भिक अर्थ इतना विस्तृत नही था। इसका प्रथम अर्थ 'ज्ञान' तत्पश्चात् 'सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान' अर्थात् 'पवित्र और धार्मिक ज्ञान' हो गया। आगे चलकर इस शब्द से अभिप्राय एक सम्पूर्ण वाङ्मय से लिया जाने लगा जिसका विकास कई शताब्दियो मे जाकर हुआ। गुरु-परम्परा से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संक्रमित होने वाले इस सम्पूर्ण साहित्य को आगे चलकर कई शताब्दियो के बाद एक नवीन पीढ़ी ने 'पवित्रज्ञान' या 'दिव्यज्ञान' के रूप में स्वीकार कर लिया। इस प्रक्रिया के पीछे इसकी अत्यन्त प्राचीनता और इसमे सन्निविष्ट विषय की अगाधता दोनो ही विद्यमान थी। यह भावना किसी निर्धारित निर्णय के परिणामस्वरूप उत्पन्न नही हुई थी अपितु इसका प्रादुर्भाव सहसा ही प्रस्फुटित हुआ और आगे चलकर इसके अनुयायियो ने इस विषय की सत्यता मे कभी वास्तविक सशय भी नही किया।

वैदिक साहित्य का सीमा-क्षेत्र

वर्तमान मे 'वेद' के नाम से जो साहित्य जाना जाता है उसमे तीन श्रेणियो के साहित्यिक ग्रन्थ सम्मिलित किये जाते है—(1) सहिताए—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद; (2) ब्राह्मण साहित्य—ब्राह्मण ग्रन्थ, जो कि गद्यमय है, प्रत्येक संहिता के साथ सम्बद्ध है यथा—ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण आदि; (3) आरण्यक और उपनिषद—आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मणो के अन्तिम भाग है और उनके अंशभूत उपनिषद् ग्रन्थ है यथा —ऐतेरेय आदि आरण्यक, बृहदारण्यक आदि उपनिषदे। ब्राह्मणो, आरण्यको और उपनिषदों के अतिरिक्त वेदो के साथ एक अन्य प्रकार का साहित्य भी संलग्न है। यह साहित्य वेदाग साहित्य है और वेदाग मे मुख्यत. सूत्र साहित्य है। इन सूत्र ग्रन्थो में प्रमुख कल्प-साहित्य है जिसके तीन विभाग है—(1) कल्पसूत्र, (2) गृह्यसूत्र और (3) धर्मसूत्र। कल्पसूत्र के अन्तर्गत ही शुल्वसूत्र भी है। श्रौत-सूत्रो मे बड़े-बड़े यज्ञो को सम्पन्न करने की प्रक्रियाए वर्णित है। ये यज्ञ दैनिक से प्रारम्भ होकर वर्ष पर्यन्त चलने वाले होते थे। गृह्यसूत्रो मे दैनिक और नैमित्तिक क्रियाएं यथा—जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के समय किये जाने वाले सस्कार और विधियों के नियम निर्धारित किये गये है। धर्मसूत्रो मे धार्मिक और धर्माति-रिक्त नियमविधान आदि सगृहीत है। ये धर्मसूत्र ब्राह्मण धर्म को मानने वाले भारतीयों के प्राचीनतम विधिग्रन्थ कहे जा सकते है। यद्यपि इस साहित्य को 'वेद' के समान अपौरुषेय नही माना जाता और इनका परिगणन वेदागो मे किया जाता है पुनरपि ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के समान प्रत्येक वैदिक शाखा के साथ उसका अपना कल्पसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र होता था। इस प्रकार प्रत्येक संहिता की प्रत्येक शाखा अपने विशिष्ट ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्प (गृह्य-सूत्र तथा धर्मसूत्र) से संयुक्त थी। कल्पसूत्रो के समान ही शिक्षा के अन्तर्गत आने वाले प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी पृथक्-पृथक् संहिताओ से सम्बद्ध थे। इनमे से अधिकाश कालकवलित हो गये हैं और कुछ अब भी अवशिष्ट है। वैदिक संहिताओ की किसी समय मे अनेक शाखाएं विद्यमान रही थी पर अब तो केवल गिनी-चुनी ही अवशिष्ट है।

वेदार्थ की पद्धतियां

वैदिक साहित्य के विषय मे विद्वानो की धारणाए पृथक्-पृथक् है और उसी के अनुसार उन्होने वेद के अर्थ भी पृथक्-पृथक् पद्धति से किये हैं। वैदिक साहित्य मे आस्था रखने वाले विद्वानो को हम दो वर्गो मे विभक्त कर सकते है। प्रथम वर्ग उन लोगो का है जो ईश्वर द्वारा अग्नि, वायु, आदित्य और अगिरा नाम वाले चार ऋषियो के हृदय मे क्रमश. प्रकाशित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और

अथर्ववेद की संहिताओ को ही 'वेद' के अन्तर्गत मानते हैं और अतएव उसे स्वतः प्रमाण स्वीकार करते हैं। दूसरा वर्ग उन लोगो का है जो 'वेद' शब्द के अन्तर्गत मन्त्र और ब्राह्मण दोनो का ग्रहण करते हैं और वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ और याज्ञिक प्रक्रिया को मानते हैं। इनकी दृष्टि मे 'वेद' शब्द के अन्तर्गत वेद तथा ब्राह्मणान्तर्गत आरण्यक और उपनिषद् भी सम्मिलित है। अतः वैदिक सहिताओ से लेकर उपनिषदों तक के सभी ग्रन्थ इनके मत में अपौरुषेय हैं। अतएव स्वतः प्रमाण हैं। इन दोनो ही वर्गो के विद्वान् वेदांगो को ऋषिकृत मानते हैं और वेदार्थ को जानने में सहायक होने से प्रामाणिक मानते हैं। उपर्युक्त दोनों वर्गो के अनुयायी विद्वानो ने संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और वेदांगो के विभिन्न ग्रन्थों पर भाष्य और टीकाएं समय-समय पर लिखी हैं।

इन भाष्यकारों और टीकाकारों का वर्गीकरण यास्कीय निरुक्त मे उपलब्ध सामग्री के आधार पर निम्न रूप में किया जा सकता है—(1) अधिदैवतवादी, (2) अध्यात्मवादी, (3) आर्षवादी, (4) परिव्राजक प्रक्रियावादी, (5) यज्ञ-प्रक्रियावादी, (6) नैरुक्त प्रक्रियावादी, (7) वैयाकरण प्रक्रियावादी, (8) नैदान प्रक्रियावादी, (9) ऐतिहासिक प्रक्रियावादी और (10) आख्यान प्रक्रियावादी।

अधिदैवत प्रक्रिया

अधिदैवतप्रक्रिया के अनुसार वेदो में आये अग्नि, वायु, सूर्य, मरुत् आदि शब्दो के क्रमशः आग, हवा, सूर्य, आधी-तूफान आदि अर्थ किये जाने चाहिए क्योकि इनमे से अधिकांश का प्रकृतिपरक स्वरूप स्पष्ट है। जिन देवो का वेदों मे प्रकृतिपरक स्वरूप स्पष्ट नही है अधिदैवतवादियो ने उनका भी प्रकृतिपरक स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न किया है।

अध्यात्म प्रक्रिया

अध्यात्मवादी भाष्यकार वेदमन्त्रो की शरीरविद्या तथा ब्रह्मविद्यापरक व्याख्याए करते हैं। इस दृष्टि से अध्यात्मवादियो के दो वर्ग हो जाते है : प्रथम के अनुसार वेदमन्त्रो के अर्थ शरीर, वाक्, मन, प्राण, जीवात्मा आदि परक किये जाते है। द्वितीय वर्ग के विद्वान् परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभावतया मनुष्य द्वारा परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासनापरक वेदमन्त्रो की व्याख्या करते हैं। निरुक्त मे सत्रह स्थलो पर अध्यात्म शब्द के नाम के साथ वेदमन्त्रों की दूसरी व्याख्याओ के साथ अध्यात्मव्याख्या भी दी गई है। सायण से पहले के भाष्यकार आत्मानन्द ने अपने भाष्य के विषय मे स्वय लिखा है—'अधियज्ञविषयं स्कन्दादि-भाष्यम्। निरुक्तम् अधिदैवतविषयम्। इद तु भाष्यम् अध्यात्मविषयमिति।'

आर्ष प्रक्रिया

अध्यात्म पक्ष से मिलती हुई आर्षवादियो की प्रक्रिया है । निरुक्त मे आर्ष-वादियों के विषय मे लिखा है—'तस्माद् यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्ष तद् भवति।' इस शब्द का प्रयोग यास्क ने चार बार किया है । निरूक्त (1.20) मे ऐसा प्रसंग आया है कि जब साक्षात्कृद्धर्मा ऋषि नही रहे तो मनुष्यो ने जाकर देवताओ से पूछा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा ? इस पर देवताओ ने उन्हे तर्क रूपी ऋषि दिया। इसलिए प्रमाण, युक्ति, प्रतिभा और बुद्धि का प्रयोग करके जब तर्क द्वारा अर्थ का अनुसन्धान किया जाता है तो वह आर्ष प्रक्रिया द्वारा निष्पन्न अर्थ कहा जाता है ।

परिव्राजक प्रक्रिया

परिव्राजक प्रक्रिया का निरुक्त मे एक बार उल्लेख हुआ है । इस प्रक्रिया के अनुसार ऋग्वेद के 'अस्यवामीय' सूक्त के बत्तीसवे मन्त्र की चतुर्थ पक्ति 'बहु-प्रजा निर्ऋतिमाविवेश' के अर्थ की व्याख्या करते हुए यास्क ने लिखा है—'बहु-प्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजकाः, वर्षकर्मेति नैरूक्ताः' । इस ग्रन्थ मे आगे चलकर आरण्यको के प्रसग में जिन अरण्यवासियो के विषय मे विचार प्रस्तुत किया जायेगा ये परिव्राजक सम्भवतः उनके समकक्ष ही किसी सम्प्रदाय के लोग होगे और वैदिक मन्त्रों की व्याख्या मे अपनी एक नवीन ही पद्धति का प्रयोग करते होगे ।

याज्ञिक प्रक्रिया

यज्ञप्रक्रियावादी अथवा अधियज्ञवादी सम्प्रदाय वेदो का अर्थ करने मे सबसे प्रसिद्ध सम्प्रदाय रहा है । इस सम्प्रदाय का एक अन्य नाम याज्ञिक सम्प्रदाय भी दिया जा सकता है । वैदिक मन्त्रो की यज्ञपरक व्याख्या इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता है । निरुक्त मे लगभग एक दर्जन स्थलो पर इस सम्प्रदाय की चर्चा हुई है । ऋग्वेद के 10.71.5 मन्त्र की 'वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्' पंक्ति की व्याख्या मे 'अर्थ वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा' ऐसा निरूक्त मे आया है । निरुक्त के सातवे अध्याय मे 'देवता परीक्षाविधि' के प्रसंग मे यह निर्देश दिया गया है कि जिन मन्त्रो के विषय मे किसी देवता का निर्देश न हो वहा वह मन्त्र जिस यज्ञ या यज्ञाग मे पठित हो उस यज्ञ या यज्ञाग के देवता को ऐसे मन्त्र का देवता मान लेना चाहिए । यास्क ने अपने निरुक्त मे वैदिक व्याख्या-कारो की जितनी श्रेणिया गिनायी है उनमे सबसे अधिक महत्त्व अधिदैवत प्रक्रिया और अधियज्ञप्रक्रिया को दिया है ।

नैरुक्त प्रक्रिया

नैरुक्त प्रक्रिया का समर्थन वर्तमान मे केवल यास्क के निरुक्त में उपलब्ध होता है। इसका यह अभिप्राय नही है कि यास्क से पहले नैरुक्तप्रक्रिया विद्यमान नही थी। स्वयं यास्क ने अपने निरुक्त मे अपने से पूर्ववर्ती चौदह नैरुक्तों के नाम गिनाये है जिनमे से आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णवाभ, शाकपूणि प्रमुख हैं। नैरुक्त वेदों के समस्त नामपदों को यौगिक मानते हैं। इस मत को न मानने वाले गार्ग्य आदि आचार्यो की युक्तियो का खण्डन करते हुए यास्क ने सभी नामो के यौगिक होने के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया है। यास्क ने लगभग 1300 वैदिक शब्दों का निर्वचन देते हुए बहुत से वेदमन्त्रो का अर्थ अपने निरुक्त में किया है। इस पद्धति को नैरुक्त प्रक्रिया का नाम दिया जा सकता है। नैरुक्त प्रक्रिया वस्तुतः शब्दो के निर्वचन पर बल देती है तथा निर्वचन द्वारा अधिदैवत, अध्यात्म एवं याज्ञिक प्रक्रियाओ की विरोधी न होकर उनकी पूरक है।

व्याकरण प्रक्रिया

निरुक्त मे चार स्थलों पर व्याकरण की चर्चा आई है। यास्क की दृष्टि में निरुक्तशास्त्र और व्याकरणशास्त्र मे अन्तर है। यास्क ने इस विषय मे लिखा है—'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधक च' (नि० 1.15)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि निरुक्त व्याकरणशास्त्र का पूरक है और यह भी सूचना मिलती है कि निरुक्तशास्त्र और व्याकरणशास्त्र मे अन्तर है। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि निरुक्तशास्त्र केवल शब्दो का निर्वचनमात्र प्रतिपादित करता है और व्याकरणशास्त्र पदो के प्रकृति, प्रत्यय, आगम, विकार आदि का अनुसन्धान करके पद की सिद्धि निष्पन्न करता है। इस दृष्टि से निरुक्ति से आगे व्याकरण का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। वैयाकरणो का विशेष वर्णन निरुक्तकार ने ऋग्वेद के 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि(2.164.45) ऋचा की व्याख्या करते हुए किया है—'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणा.'(नि० 13.9)। वस्तुतः व्याकरण प्रक्रिया निरुक्त से पृथक् सत्ता रखते हुए भी वेदार्थ की दृष्टि से कोई पृथक् प्रक्रिया नही है अपितु वह नैरुक्त प्रक्रिया मे ही अन्तर्भूत हो जाती है।

नैदान प्रक्रिया

निरुक्तकार ने दो स्थलों पर नैदान सम्प्रदाय का उल्लेख किया है—प्रथम तो नैघण्टुक काण्ड मे 'स्याल' शब्द की व्याख्या करते हुए और द्वितीय दैवत काण्ड में 'सामन्' शब्द का निर्वचन करते हुए। नैदान सम्प्रदाय वेदार्थ की किसी प्रक्रिया विशेष का प्रवर्तक न होकर केवल पद-साधन को निष्पन्न करने वाला एक सम्प्र-

दाय मात्र है। यह सम्प्रदाय किसी सीधी धातु से पद निष्पत्ति न करके अर्थ को ध्यान में रखते हुए विधियो और परम्परा आदि के आधार पर पदनिष्पत्ति दिखाता है। यास्क ने कई स्थलो पर इस प्रक्रिया को स्वीकार किया है। ब्राह्मण ग्रन्थो में 'उलूखल' की निष्पत्ति 'उरू' और 'कर' के योग से दिखाई गई है। यह और ऐसी बहुत सी निष्पत्तियां इसी सम्प्रदाय के अनुसार हैं। संक्षेप में इस सम्प्रदाय का अन्तर्भाव भी नैरुक्त सम्प्रदाय मे किया जा सकता है।

ऐतिहासिक प्रक्रिया

वेद का अर्थ करने वालो मे ऐतिहासिक सम्प्रदाय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने अपने निरुक्त में बहुत से स्थलो पर किया है। इन्द्र और वृत्रयुद्ध पर विचार करते हुए यास्क ने लिखा है—'तत् को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः'(नि० 2.17)। इसी प्रकार अन्य अनेक स्थानो पर इत्यैतिहासिकाः' लिखकर यास्क ने अपने से प्राचीन समय से प्रसिद्ध ऐतिहासिक सम्प्रदाय का वर्णन किया है। स्वयं यास्क कुछ स्थलों पर ऐतिहासिक सम्प्रदाय की दृष्टि से अभिमत अर्थ को ही प्रदर्शित करता है। इसके विपरीत कुछ अन्य स्थलो पर उनके अभिमत अर्थ का खण्डन करके अधिदैवत अथवा अध्यात्म दृष्टि से मन्त्र का व्याख्यान करता है। सायण ने अनेक स्थलो पर यास्क की इस प्रवृत्ति की ओर अपने भाष्य में निर्देश किया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद 1.105.11 मन्त्र 'सुपर्णा एत आ'सते मध्य' आरोधने दिवः। ते से'धन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वती'रपो वितं मे' अस्य रो'दसी' की व्याख्या करते हुए सायण ने पहले तो ऐतिहासिक सम्प्रदाय की दृष्टि से अर्थ करते हुए लिखा है, 'कूपपतनात् पूर्वंत्रितं दृष्ट्वा एनं भक्षयितुं कश्चिदयश्वा महती नदी तितीर्षुः आजगाम। स च सूर्यरश्मीन् दृष्ट्वा अयमवसरो न भवतीति निववृते। अतो रश्मयो वृकं निषेधन्तीत्युच्यते। यास्कपक्षे तु आप इत्यन्तरिक्षनाम। यह्वतीरपो महदन्तरिक्षं पथः। पथा द्वादशराश्यात्मना मार्गेण तरन्तं वृकं चन्द्रमसं सूर्यरश्मयो निषेधन्ति। अहनि हि सूर्यरश्मिभिः निरुद्धश्चन्द्रमा निष्प्रभो दृश्यते। अतो निष्प्रभ कुर्वन्तीत्यर्थः।' यद्यपि इस मन्त्र की व्याख्या यास्क ने अपने निरुक्त मे नही की है फिर भी 'यास्क पक्षे' कहकर सायण ने ऐतिहासिकों से भिन्न नैरुक्त सम्प्रदाय की ओर इंगित किया है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर सायण ने ऐतिहासिक दृष्टि से मन्त्रो के अर्थ किए हैं। यद्यपि स्वयं उसने अपनी ऋग् भाष्य भूमिका में ऐतिहासिक पक्ष का खण्डन ही किया है।

अन्य भाष्यकारो ने भी ऐसा ही किया है। उन्होने भी बहुत से नामो को व्यक्ति विशेष के नाम मानकर उनका ऐतिहासिक पक्ष की दृष्टि से अर्थ दिया है, पुनश्च अधिदैवत या आध्यात्मिक अर्थ देते हुए उन नाम-पदों को यौगिक मानकर उनका अर्थ दिया है। स्कन्दस्वामी के भाष्य मे अनेक स्थलों पर यह प्रक्रिया दृष्टि-

गोचर होती है। ऋग्वेद 1.33.12 में आए हुए 'इलीविश' पद का अर्थ उसने 'मेघ' भी किया है और 'असुर' भी माना है। इसी प्रकार ऋ० 1.33.1 में आए 'अंगिरा' पद का अर्थ अंग की स्थिति के कारणभूत रस का 'कर्त्ता' और 'अंगिरा नामक ऋषि' दोनों ही अर्थ उसने किये हैं।

प्राचीन भाष्यकारो के भाष्यो का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए एक अन्य प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। कोई एक भाष्यकार किसी एक नाम को ऐतिहासिक व्यक्ति विशेष मानकर अर्थ करता है और दूसरा भाष्यकार उसी पद को यौगिक मानकर उसका अर्थ नैरुक्त शैली से करता है। ऋग्वेद 2.13.8 मे आए हुए 'पृक्ष' और 'दासवेश' पदो का अर्थ वेंकटमाधव ने उन्हे ऋषि विशेष मानकर किया है। किन्तु सायण इनमे से प्रथम पद का अर्थ 'अन्नलाभ' और दूसरे का अर्थ 'दस्यूनाम् विनाशः' मानकर करता है। यही बात 2.15.9 मे आए हुए 'रम्भी' पद पर लागू होती है। वेंकटमाधव ने इसे व्यक्तिवाचक पद माना है और सायण इसका अर्थ 'वेत्रधारी' करता है। इस प्रसंग मे ध्यान देने योग्य एक अन्य तथ्य यह है कि वेद मे ऐमे अनेक पद हैं जिनका अर्थ किसी भी प्राचीन भाष्यकार ने इतिहासपरक नही किया है, उदाहरणार्थ—महावीर (ऋ० 1.32.6), दशरथ (ऋ०1.126.4), वातापि(ऋ०1.187.8), धनंजय (ऋ०3.42.6), अजातशत्रु (ऋ० 5.34.1), विभीषण (ऋ० 7.104.21), पराशर(ऋ० 9.96.19), राम (ऋ० 10.93.14), लक्ष्मण्य (ऋ० 5.33.10) आदि। यदि इन पदों के आधार पर कोई वेद मे से इतिहास निकालना चाहे तो सम्पूर्ण वेद इतिहास के अतिरिक्त और कुछ नही रहता। चूकि किसी भी भाष्यकार ने ऐसा प्रयत्न नही किया है अतः यह आसानी से समझा जा सकता है कि वेदो का ऐतिहासिक अर्थ करने वाला सम्प्रदाय अपेक्षाकृत पीछे का तथा कल्पना-प्रधान रहा है।

इसी क्रम मे ऋग्वेद 6.83 मे वर्णित दाशराज्ञ युद्ध आधुनिक विद्वानो द्वारा आर्यो और दस्युओ के मध्य लड़ा गया युद्ध माना गया है परन्तु नैरुक्त सम्प्रदाय इन युद्धों को ऐतिहासिक नही मानता। उनकी दृष्टि में इस प्रकार के युद्धदेवासुर संग्राम के प्रतीक हैं जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक क्षेत्रों मे सदा होते रहते है।

आधुनिक युग के तीन वेद व्याख्याता—स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द और श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ऐतिहासिक पक्ष के प्रवल विरोधी हुए हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य मे सायण, महीधर आदि भाष्यकारो के ऐतिहासिक अर्थ का स्थान-स्थान पर खण्डन किया है। यजुर्वेद 3.62 मन्त्र मे आए हुए जमदग्नि और कश्यप पदों को व्यक्तिवाचक नाम न मानकर स्वामी दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण (8.1.2.3) तथा (7.5.1.5) का प्रमाण देते हुए इनका अर्थ 'चक्षु' और 'प्राण' किया है। इसी प्रकार ऋ० 1.18.1 मे आए हुए 'औशिजः' पद का अर्थ

सायण द्वारा किए गए 'उशिक् नामक माता का पुत्र' न करके स्वामी दयानन्द ने 'औशिज: य उशिजि प्रकाशे जात: स उशिक् तस्य विद्यावत: पुत्र' किया है। ऋ० 1.31.17 मे आए हुए 'ययातिवत्' पद का सायणकृत अर्थ 'ययाति' नामक राजा के समान है। स्वामी दयानन्द ने इस पद का अर्थ प्रत्यनवान पुरुष किया है। एक अन्य सन्दर्भ ऋ० 1.36.18 मे 'तुर्वश', 'यदु', 'उग्रादेव', 'नववास्तु', 'बृहद्रथ' और 'तुरवीति' पदो को सायण ने ऐतिहासिक राजाओं के नाम माना है। स्वामी दयानन्द ने इन पदो का यौगिक अर्थ किया है यथा—तुर्वशं=दूसरे के पदार्थो की कामना करने वाले को, यदु=दूसरे के धन के लिए प्रयत्न करने वाला, उग्रादेव= तीव्र स्वभाव वालो को जीतने वाला, नववास्तु=नए घरो वाला, बृहद्रथ=बड़े रथ वाला, तुरवीति=हिंसक दुष्ट। अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मे स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यदिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्रकुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूल-मस्तीति मन्तव्यम्।'

इसी प्रकार श्री अरविन्द ने अपने ग्रंथ 'वेद-रहस्य' (Secret of the Veda का हिन्दी अनुवाद) के पृष्ठ 295-296 पर भारतीय इतिहास द्रष्टाओ और ऐतिहासिक वेद-विचारकों को एक ही कोटि मे रखकर इनके द्वारा किए जाने वाले वेद के अर्थ की तथा उनकी पद्धति की समालोचना की है। श्री अरविन्द ने लिखा है—'जिस तरह प्राचीन ऐतिहासिक वेद की अलग-अलग ऋचाओ अथवा सूक्तो को आधार बनाकर नाना प्रकार का इतिहास तैयार करते थे, इनकी (पाश्चात्य विद्वानो की) भी ठीक वही प्रणाली है। अत: विचित्र, अतिप्राकृतिक घटनाओ से भरी विचित्र कहानी न घड़कर···ये (पाश्चात्य विद्वान्) आर्य तृत्सुराज सुदास् के साथ मिश्र जातियों वाले दस राजाओ के युद्ध, एक ओर वसिष्ठ और दूसरी ओर विश्वामित्र का पौरोहित्य, पर्वतगुहा निवासी द्रविड़ जाति द्वारा आर्यो के गोधन का हरण; नदी-प्रवाह का बन्धन; देवशुनी सरमा की उपमा के बहाने द्रविडो के पास आर्यो का राजदूती भोजन आदि सत्य या मिथ्या सम्भव घटनाओ को लेकर प्राचीन भारत का इतिहास लिखने की चेष्टा करते हैं। इस प्राकृतिक क्रीड़ा के परस्पर विरोधी रूपक मे और इस इतिहास सम्बन्धी रूपक मे मेल बैठाने की चेष्टा करते हुए पाश्चात्य पडित-मंडली ने जो गोलमाल किया है वह वर्णनातीत है।' इस प्रकार श्री अरविन्द के मत मे पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनो ही विद्वान् वेद-रहस्य से कोसो दूर है। उनकी दृष्टि मे वेद एक आध्यात्मिक रचना है जो एक विशिष्ट वर्ग के दीक्षित लोगो द्वारा दीक्षित लोगो के लिए ही लिखी गई थी। अत: इसका अर्थ दीक्षित वर्ग के लोग ही समझ सकते हैं।

श्री श्रीपाद सातवलेकर ने वेद का अर्थ सामाजिक संदर्भ मे किया है। यद्यपि उनके मत मे वेद का आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनो प्रकार

का अर्थ उपयुक्त है फिर भी अपने भाष्यों में उन्होने सामाजिक (अधिदैवत) पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। ऋग्वेद मे आने वाले कुछ पदों का अर्थ उन्होने इस प्रकार किया है—परब्रह्म = विश्व राज्य का राष्ट्रपति; परमात्मा = उपराष्ट्रपति; सदसस्पति = विधानसभा का अध्यक्ष; क्षेत्रपति = विधानसभा का उपाध्यक्ष; जातवेद: अग्नि = शिक्षामन्त्री; ब्रह्मणस्पति = उपशिक्षामन्त्री; इन्द्र = रक्षामन्त्री; रुद्र = सेनाध्यक्ष; मरुत. = सैनिक; अश्विनौ = स्वास्थ्यमन्त्री, (एक शल्य-चिकित्सा मे प्रवीण और दूसरा औषधिचिकित्सा मे प्रवीण), पूपा = खाद्यमंत्री, भग = अर्थमंत्री; विश्वकर्मा = उद्योगमंत्री; वास्तोष्पति = गृहनिर्माण मंत्री; त्वष्टा = शस्त्रास्त्र निर्माणमत्री; वरुण = यानमंत्री; पर्जन्य = कृषिमंत्री, अश्व = वाहन और सचारमंत्री। निश्चय ही वेद के ऐतिहासिक अर्थ को वह भी स्वीकार नही करते।

आख्यानवादी प्रक्रिया

निरुक्त मे कुछ स्थलों पर आख्यान शब्द का प्रयोग किया गया है। सामान्यतया इतिहास के साथ इसे भी ऐतिहासिक अर्थ से सम्बद्ध माना जा सकता है तथापि निरुक्त में यास्क ने कुछ स्थलों पर इतिहास और आख्यान में भेद दिखाया है। वास्तव मे घटी हुई घटना इतिहास के अन्तर्गत आती है और काल्पनिक वृत्त आख्यान के अन्तर्गत आता है। यास्क के दोनो प्रयोग 'इत्याख्यानम्' और 'तत्रेतिहासमाचक्षते' कुछ-कुछ संभ्रान्ति पैदा करने वाले हैं। उसने अश्विनौ देवता द्वारा वृक के मुख से वर्तिकामोचन के प्रसग को तथा पणियो के साथ सरमा के वार्तालाप को आख्यान माना है। इसी प्रकार यम-यमी के संवाद को भी आख्यान कहा है और इसी कोटि मे शुनःशेप की कथा को रखा है। इसके विपरीत, देवापि तथा मुद्गल भार्म्यश्व ऋषि के प्रसंग को इतिहास कहा है। इस प्रकार की व्याख्यान विषयक उलझन से यही परिणाम निकाला जा सकता है कि वेदार्थ निर्धारित करने मे आख्यान प्रक्रिया कोई स्वतन्त्र प्रक्रिया नही है केवल एक शैली मात्र है।

अन्य प्रक्रियाएं

इन उपर्युक्त प्रक्रियाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रक्रियाएं भी हैं जिनका नामत. वर्णन तो नही मिलता परन्तु वेदार्थ की दृष्टि से कुछ भाष्यकारो ने इनका आश्रय लिया है। इनमे अधिभूत-प्रक्रिया, अधिज्योतिष-प्रक्रिया तथा वैज्ञानिक प्रक्रियाएं हैं। ब्राह्मणो और आरण्यको मे किसी मन्त्र या आख्यान की व्याख्या के बाद 'इति उ एव अधिभूतम्' (शत० 14 6.7.20) 'वैद्युतः सन्धानम् इत्यधिज्योतिषम् इति' (तै० आ० 7.3) लिखा हुआ मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि वेदार्थ करने मे इन प्रक्रियाओ का भी प्रयोग किया जाता था। आधुनिक युग मे

कुछ विद्वानो ने वेदो मे वर्णित सृष्टि विद्या, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित और शिल्प आदि विषयो का वर्णन करने वाले मन्त्रों की व्याख्या तत्सम्बन्धी विज्ञान को ध्यान मे रखकर की है और इस दृष्टिकोण पर आधारित अर्थ को हम वैज्ञानिक प्रक्रिया-प्रधान कह सकते है।

प्रक्रिया-विवेचन

वेद के विषय में अपनी-अपनी व्यक्तिगत धारणा के अनुसार प्राचीन और अर्वाचीन भाष्यकारों ने पृथक्-पृथक् प्रक्रियाओ का आश्रय लेकर वेदमन्त्रों का अर्थ किया है और इसलिए उनके अर्थो मे स्वभावतः पार्थक्य और कभी-कभी विरोध दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन भाष्यकारो के अर्थ सामान्यतया अधिदैवत, अध्यात्म तथा अधियज्ञ प्रक्रियाओ मे संगृहीत किये जा सकते हैं। शेष प्रक्रियाओ का प्रयोग उन्होने इन्ही अर्थो को पुष्ट करने के लिए किया था।

आधुनिक युग मे पाश्चात्य विद्वान् और उनका अनुसरण करने वाले भारतीय विद्वान् मुख्यत. वेदों का अर्थ ऐतिहासिक और याज्ञिक दृष्टि से ही करते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया के साथ उनके अर्थो मे अधिदैवतवाद भी सगृहीत है। उनकी दृष्टि मे ऋग्वेद के अपेक्षाकृत बड़े देवता जड़, प्राकृतिक पदार्थों के ही कल्पित चेतन देवता स्वरूप हैं। इस प्रसंग मे मैक्डानल का यह कथन द्रष्टव्य है—'The higher Gods of the Rigveda are almost entirely personification of natural phenomena-such as Sun, Dawn, Fire, Wind' (HSL P.56)। इन विद्वानो की दृष्टि मे वैदिक साहित्य एक ऐतिहासिक प्रलेख है जिसकी सहायता से वेदकालीन भारत के इतिहास, भूगोल, समाज, संस्कृति और सभ्यता का सम्यक् अध्ययन किया जा सकता है। वेद का अर्थ करने मे इन विद्वानो ने वेद के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से भी सहायता ली है। ऐसा करने के लिए उनकी युक्ति यह रही है कि आधुनिक विद्वान् ग्रीक और अवेस्ता के गाथा शास्त्र, इतिहास, और तुलनात्मक भाषाविज्ञान, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन, गाँथिक, लिथुआनियन तथा इंग्लिश आदि भाषाओं के ज्ञान की सहायता लेकर भारतीय भाष्यकारो की अपेक्षा ऋग्वेद और वैदिक साहित्य को समझने मे अधिक सक्षम हैं। न केवल इतना ही, वैदिक साहित्य को समझने के लिए बहुत से विद्वान् पुरातत्त्वविज्ञान (Archaeology), मानवविज्ञान (Anthropology), मानवजातिविज्ञान (Ethnology), तथा समाजशास्त्र (Sociology) आदि की सहायता लेते है। इसलिए पाश्चात्य विद्वानो के वेदाध्ययन सम्बन्धी परिश्रम की कितनी भी प्रशंसा की जाए तथापि इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि उनका वेद सम्बन्धी दृष्टिकोण पारम्परिक भारतीय विद्वानों की तरह ही एक विशेष प्रकार के पूर्वाग्रह से युक्त होता है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि अधिकांश पाश्चात्य वैदिक विद्वान् वैदिक साहित्य, संस्कृति और सभ्यता के विषय में कुछ इस प्रकार का भाव मन में रखकर अग्रसर होते है कि वे भारतीय विद्वान् जिनका मत उनके मत से नही मिलता, अवश्य ही प्रतिवद्धता के शिकार होते हैं और इसलिए उनके मत हेय है। इस विपय मे एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। उपनिषदों के काल के विपय मे विचार करते हुए विन्टरनित्स ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' के पृ० 208 पर पादटिप्पणी सख्या 2 में डा० एस. राधाकृष्णन् का मत इस रूप मे उद्धृत किया है—'S Radhakrishnan, Indian Philosophy I, PP. 141 f. Says, "The accepted dates for the early upanisadas are 1000 B.C. to 300 B.C." By whom are these dates 'accepted' ? उपर्युक्त विवेचन से यह तो परिणाम निकाला ही जा सकता है कि सामान्यत: वैदिक साहित्य के विपय मे और विशेपत: वेदार्थ की प्रामाणिकता के विषय में विभिन्न पद्धतियो का अनुसरण करने वाले विद्वानो मे इतना मत वैपम्य है कि इस विषयक किसी सर्वसम्मत सिद्धान्त का प्रतिपादन कर पाना असम्भव है। दो पाश्चात्य विद्वानो के मतो मे एक ही ग्रन्थ की विपय-वस्तु के वारे में कितना महान अन्तर है—यह वात उस विपय के दो दिग्गज विद्वानों के विचारो की तुलना से स्पष्ट हो जायेगी। ऋग्वेद के सूक्तो के विषय में केगी ने कहा है : 'ऋग्वेद का अधिकांश भाग देवताओ की स्तुति और महिमा के गुणगान से परिपूर्ण है। इसके मुख्य स्वर मे संसार की शाश्वत शक्तियो के प्रति प्रार्थना, उपासना और भक्ति के उद्‌गार है। वैदिक स्तोता प्रत्येक वस्तु को देवताओं का प्रसाद समझकर ग्रहण करता है और उसे इसी मे परम सन्तोप की प्राप्ति होती है। उनका तो कहना है कि मैं जो कुछ गाता हूं वह भी उस परमदेव की अपनी ही वाणी है, उसकी ही प्रेरणा है जो अपने आप मेरे अंत.करण को माध्यम बनाकर फूट निकली है। (Kaegi, A. Der Rigveda Die Altiste litteratur der Inder) केगी की ही हृत्तन्त्री से झकृत जॅ ल मी ने गायत्री मन्त्र का भावानुवाद इन शब्दो प्रस्तुत किया है—'Let us bring our minds to rest in the glory of Divine truth. May Truth inspire our Reflection—(Hymns of the Rig-Veda).

उपर्युक्त उद्‌गारों के विपरीत-रूप की झांकी ओल्डनवर्ग की तीखी और कर्णकटु ध्वनि मे देखी जा सकती है। 'यद्यपि ऋग्वेद भारतीय साहित्य और धर्म की प्राचीनतम कृति है तथापि उसमे वौद्धिक ह्रास के स्पष्ट चिह्न उत्तरोत्तर वढ़ते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं। इन वर्वर और क्रूर पुरोहितो के देवता भी वर्वर और क्रूर ही थे जिनका काम—जव चाहा घोड़ो और रथो पर आसमान को चीरते हुए थोड़े से पुरोडाश, थोड़े से घी, मास के एक टुकड़े और एक प्याली सोम के लिए —दौड़ते चले आने के अतिरिक्त और कुछ नही होता था : और इसी को ऋग्वेद-

कालीन ऋषि परात्पर शक्ति का प्रमाण समझते हैं ! ऋग्वेद के ये चाटुकार पुरानी लीक का अनुसरण करते हुए गीत पर गीत बनाते और सोमयाग के समय अपने देवता की खुशामद करते है—'आप ऐसे है आप वैसे हैं' बढ़ाचढाकर नई से नई अतिशयोक्तियां घड़ते हैं जिनमें सत्य का जरा-सा भी अंश नही होता ! जिन पुरोहित का सम्पर्क लोक-जीवन से ही न हो उनकी कविता में भी लौकिकता अथवा सच्चाई कैसे आ सकती है। (Religion der Veda) ओल्डनवर्ग को इस सच्चाई का दर्शन शायद ऋग्वेद के इन तीन मन्त्रों—उपरि उद्धृत गायत्री मन्त्र और निम्न दो-मे हुआ हो !

विश्वा'नि देव सवितु र्दुरितानि परा' सुव । यद् भद्रं तन्न आ सु'व (ऋ० 5.82.5)
हे प्रेरक देव ! सब पापो को हम से दूर हटा। जो भद्र है वह हम सबको प्राप्त करा।

उपह्वरे गि'रीणां सं'गथे च' नदीनाम्। धिया विप्रो' अजायत (ऋ० 8.6.28)
पर्वतो की उपत्यकाओ मे और नदियो के संगम पर मनन द्वारा ज्ञानी का जन्म हुआ।

यह सत्य है कि ऋग्वेद की सम्पूर्ण कविता एक समान उदात्त विचारो से पूर्ण और प्राञ्जल काव्यमयी भाषा मे निर्मित नही है पर वह निश्चय ही 'बर्बर और क्रूर' पुरोहितो की रचना भी नही है। ऋग्वेद के ऋषियो की प्रारम्भिक रचनाएं यज्ञविद्या और याज्ञिक प्रक्रियाओ के आविष्कार से बहुत पूर्व रची जा चुकी थी। इसलिए याज्ञिक प्रक्रिया को मुख्य मानकर ऋग्वेद के मन्त्रो की तदनुसार तोड़-मोड़ करना तथ्यो के विपरीत जाना होगा। इसके दोषी केवल पाश्चात्य विद्वान् ही नही हैं, स्वयं भारतीय विद्वान् भी है। ब्राह्मण-ग्रन्थो और आरण्यको मे यज्ञो की प्रतीकात्मकता की ओर पर्याप्त रूप मे ध्यान खीचा गया है तथापि अदीक्षितो ने उनके स्थूल रूप को ही प्रमुखता दी।

ऋचाओं का रचनास्थल

ऋग्वेद के विश्लेषण के साथ एक अन्य समस्या गुँथी हुई है—और वह है इन ऋचाओं की रचना किस स्थल पर हुई। ऋग्वेद की रचना का स्थान भिन्न-भिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे स्वीकार किया है। ये प्रदेश उत्तरी ध्रुव से लेकर-उत्तर पश्चिमी भारत के भूभाग तक विस्तृत हैं। ऋग्वेद मे वर्णित शाश्वती उषाओ के वर्णन तथा अन्य ज्योतिष सम्बन्धी सकेतो के आधार पर श्री बाल गगाधर तिलक ने ऋग्वेद के कम से कम कुछ मन्त्रों का रचना-स्थल उत्तरी ध्रुव माना है।

कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानो ने इनकी रचना का स्थल मध्य यूरोप कुछ अन्य ने मध्य एशिया और बहुत से भारतीय विद्वानो ने भारत का उत्तर-पश्चिमी

भूभाग स्वीकार किया है। अधिकाश पश्चिमी विद्वानो की सम्मति मे ऋग्वेद भारतीय आर्यों की रचना उतनी नही है जितनी की मूल भारोपीय भाषाओ को बोलने वाली जाति की है। कुछ अन्य विद्वानो की सम्मति में ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना तो भारोपीय भाषाओ को बोलने वाली जाति ने नही की पर उनकी संस्कृति और विश्वासों के कुछ तत्त्व ऋग्वेद मे अवश्य विद्यमान हैं। एक तीसरा वर्ग उन विद्वानों का है जो ऋग्वैदिक ऋचाओं के रचयिताओं का मूल स्थान मध्य एशिया को तो स्वीकार करता है पर उसकी दृष्टि मे भी मन्त्रो की रचना मध्य एशिया में नही हुई। मध्य एशिया मे रहने वाली ये जातियां आगे बढ़ती हुई ईरान और अफ़गानिस्तान मे पहुंची और यहां से अवेस्ता के साथ तुलना के आधार पर ऋग्वेद के प्रारम्भिक मन्त्रों की रचना होने लगी। नाना 'कुलो' मे विभाजित इन जातियो के लोग अन्ततोगत्वा भारत के उत्तर-पश्चिमी भू-भाग मे पहुचे और इस प्रदेश मे ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों की रचना पूर्ण हुई।

इन उपर्युक्त प्रतिपादित मतो के मूल मे कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनकी व्याख्या विद्वानों ने अपने-अपने मत की स्थापना के लिए अपने-अपने तरीके से की है। ऐसा करते हुए कभी-कभी तो उन्होने ऋग्वेद मे उपलब्ध होने वाले सकेतों की विच्छिन्न और विपरीत व्याख्या की है। ऋग्वेद मे समुद्र का नाम और वर्णन स्पष्ट रूप से विद्यमान है तथापि मध्य यूरोप को आर्य जाति का प्रथम निवास-स्थान मानने वाले समुद्र से अभिप्राय या तो अन्तरिक्ष का लेते हैं या किसी नदी के विस्तार मे फैले हुए प्रवाह से लेते हैं। उनके मत मे भारोपीय परिवार की भाषाओ मे मिलने वाली समानता इसी कारण है कि इनको बोलने वाले लोग एक लम्बे समय तक चारो ओर आल्प्स और कार्येजियन पर्वतमालाओ से घिरे स्थान मे रहे थे और वहां से जनसंख्या के दवाव के कारण समय-समय पर मूल-स्थान से प्रवासित होकर अन्यत्र फैलते रहे।

एक अन्य तथ्य, जो ऋग्वैदिक आर्यों के मूल-निवास को भारत से दूर पश्चिम एशिया के उत्तर मे किसी स्थान पर होने की वात को पुष्ट कर सकता है, वह बोगाज़क्यूई की खुदाई मे मिली हित्ती और मित्तानी जातियो में की गई सन्धि के प्रमाण मे मिली हुई मृत्पट्टिकाओ के रूप मे है। इनमें इन्द्र, वरुण, नासत्यौ आदि ऋग्वैदिक देवताओ का नाम भी मिलता है। एक तीसरा तथ्य ऋग्वेद की भाषा और अवेस्ता की भापा तथा धर्म और संस्कृति मे मिलने वाली समानता के रूप मे है। एक अन्य भी तथ्य है, जो आर्यों के वाहर से आकर भारत मे वसने के मत के पक्ष में उपस्थित किया जाता है। यह तथ्य विलोचिस्तान की पहाड़ियो से घिरे प्रदेश मे द्रविड़ परिवार से सम्बद्ध 'ब्राहुइ' भाषा की उपस्थिति के रूप मे है।

आर्यों के भारत से वाहर के किसी प्रदेश से भारत में आकर वसने के विरुद्ध एक अन्य मत यह है कि आर्य लोग भारत में कही वाहर से नहीं आये अपितु वे

इसी देश के मूलनिवासी थे । इस मत को मानने वालों में अधिक संख्या भारतीय विद्वानो की है । आर्यो के भारत से बाहर के निवासी होने के पक्ष मे जो उपरि-लिखित तथ्य उपस्थित किये जाते हैं उनकी व्याख्या इस मत के अनुसार भी की जा सकती है । तथ्यों की बात केवल इतनी ही है कि आर्यो का आव्रजन और प्राव्रजन तो अवश्य हुआ परन्तु यह आव्रजन और प्राव्रजन किस प्रदेश से किस प्रदेश की ओर हुआ यह विवादास्पद है। यह तो कुछ दुर्भाग्य की ही बात है कि आर्यों के मूलस्थान को भारत में मानने वाले विद्वानो में अधिक संख्या भारतीय विद्वानो की है और इसलिए अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् इस मत को हीन दृष्टि से देखते हैं। (Gonda, HIL, P. 23,f. n, 27)

भाषाविज्ञान के आधार पर यदि भारोपीय भाषाओ की ध्वनियो के विकास और परिवर्तन पर दृष्टिपात किया जाए तो वे वैदिक संस्कृत से अवेस्ता आदि की ओर गति करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। मूल-भारोपीय भाषा की ध्वनियों और शब्दो के परिकल्पित रूप को निर्धारित करते समय वैदिक संस्कृत की ध्वनि और शब्दो के रूप अधिक स्वीकार किये जाते हैं। सस्कृत का नभस् रूप अंग्रेजी के nebula की अपेक्षा भारोपीय के Nebhos*के अधिक समीप है। संस्कृत का वृकः Lupos की अपेक्षा भारोपीय के U̱lkos* (व्लृक्व) के अधिक समीप है। वैदिक संस्कृत का ~ गृध् अंग्रेजी के Greed की अपेक्षा भारोपीय Ghrdhos* के अधिक समीप है। इसी प्रकार ध्वनियो का विकास वैदिक सस्कृत से अवेस्ता की ओर दिखाया जा सकता है न कि अवेस्ता से सस्कृत की ओर। अभी तक उपलब्ध तथ्य और प्रमाण इतने नही हैं कि आर्यों के मूलस्थान का तथा ऋग्वेद की प्रारम्भिक् ऋचाओ की रचना का स्थल अकाट्य रूप मे निर्धारित किया जा सके। ऋग्वेद मे उपलब्ध वर्णन से इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसकी ऋचाओं के प्रणेता हिममण्डित पर्वतो और वेगवती नदियो के प्रवाह से वहुत परिचित थे। उनकी उपमाए इसी तथ्य की ओर इंगित करती हैं।

ऋग्वेद के काल की समस्या

वैदिक साहित्य का अध्ययन करने वाले के सामने वैदिक साहित्य के विभिन्न ग्रन्थो के रचनाकाल का प्रश्न एक कठिन समस्या के रूप मे उपस्थित होता है। समस्या का सवसे मुख्य पहलू यह है कि इस साहित्य का कोई भी ग्रन्थ—जिस रूप मे वह अव हमे उपलब्ध होता है—अपने समग्र रूप मे न तो किसी एक व्यक्ति की रचना है और न ही किसी एक काल की। इनमें से अधिकाश ग्रन्थो के मूल भाग की रचना हो जाने के वाद उनका संकलन और सम्पादन किसी अन्य व्यक्ति ने वहुत पीछे जाकर तैयार किया। काल-निर्धारण के क्रम मे समस्या का पहला ही चरण इस साहित्य की सर्वप्रथम और सवसे मुख्य रचना—ऋग्वेद—के काल-

निर्धारण की है। इस ग्रन्थ के 'ऋग्वेद संहिता' नाम से ही स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ एक संग्रह है। इसलिए इस ग्रन्थ के काल-निर्णय की समस्या पर विचार करते समय कुछ अन्य पहलू हमारे समक्ष उपस्थित होते है यथा—(1) क्या ऋग्वेद की सभी ऋचाएं एक ही काल की रचनाएं है? (2) क्या इन ऋचाओं का जो संकलन हमे भिन्न-भिन्न नाम वाले ऋपिओ के नाम के साथ जुड़े हुए मण्डलों के रूप मे मिलता है—वह उन ऋपि वंशों द्वारा पहले स्वयं संकलित किया गया और पीछे से किसी अन्य सम्पादक ने उन्हे संकलित किया ? (3) वर्तमान मे उपलब्ध संकलन को अन्तिम रूप कव प्राप्त हुआ ?

इन सव पहलुओ पर एक साथ विचार करने से यह परिणाम तो निश्चित रूप मे प्राप्त होगा कि इस विपय मे कोई एक सर्वस्वीकार्य मत उपस्थित नही किया जा सकता। ऋग्वेद के अन्तरग साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रो की रचना निश्चय ही पृथक्-पृथक् काल मे हुई। भाषा, शैली और रचना के आधार पर तथा स्वय ऋपिओ की वाणी के आधार पर ऐसा दिखाया जा सकता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ऋग्वेद के मूलमन्त्रों की रचना यज्ञ-संस्था और याज्ञिक-प्रक्रिया के आविर्भाव से बहुत पूर्व ही हो चुकी थी। शुद्ध स्तुति प्रधान ऋचाए ऋषिओं की अपने आराध्य देव के प्रति आस्था और श्रद्धा को व्यक्त करने के लिए प्रस्फुटित हुई थी। इन ऋचाओ की भाषा और शैली यज्ञों के विकास के वाद निर्मित गीतो से अलग है। दूसरी ओर यज्ञविधि और याज्ञिक-प्रक्रिया के पश्चात् रचित मन्त्रो की शैली प्रथम प्रकार की ऋचाओ की शैली से निश्चय ही पृथक् होगी। इतना ही नही, स्वयं ऋग्वेद का ऋषि अपने मन्त्रो मे पूर्वकालिक और नवीन ऋषिओ की वात कहता है—अग्निःपूर्वेभि ऋषिभि रीड्यो नूतनैरुत (ऋ० 1.1.2)। ऐसी ही स्थिति ब्राह्मण ग्रन्थो, आरण्यको और उपनिपदो की भी है। वैदिक साहित्य का शायद ही कोई ऐसा ग्रन्थ हो जिसमे प्राचीन और नवीन अशो को मिलाकर एकत्र उपस्थित न किया गया हो। ऐसी परिस्थितियो मे इस साहित्य के किसी ग्रन्थ का निश्चित काल-निर्धारण न केवल असम्भव है अपितु उपहासास्पद भी होगा। तथापि इसके विपरीत यह भी सत्य है कि इस सम्पूर्ण साहित्य के निर्माण और संकलन की पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सीमाए तथा क्रमिक कालानुपूर्वी निर्धारित की जा सकती हैं।

सीमा-निर्धारण का यह कार्य इन ग्रन्थो मे प्राप्त संकेतो के आधार पर ही किया जाना चाहिए। जव से प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास-लेखन का कार्य प्रारम्भ हुआ है तव से इस विषय मे विद्वान् लोग अपने-अपने मत प्रकट करते रहे हैं। श्लेगल (Quoted by A.F.J. Remy, The influence of India and Persia on the poetry of Germany, New York. 1901) और वेवर जैसे विद्वान् वेदो के रचना-काल की कोई निश्चित तिथि सुझाये विना ऐसा विचार

व्यक्त करते हैं कि इन ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा संसार के आदिकालीन मानव के इतिहास पर प्रकाश पड़ेगा जो कि अब तक अन्धकाराच्छन्न था। वेबर ने लिखा है—The literature of India passes generally for the most ancient literature of which we possess written records and justly so. HIL P.2.) अपने ऐसे मतो की पुष्टि मे दोनो ही विद्वानो ने कोई ठोस प्रमाण नही दिये।

मैक्समूलर का मत

वैदिक साहित्य के तिथिक्रम को निर्धारित करने का सर्वप्रथम प्रयास मैक्समूलर ने किया था। अपनी 'हिस्ट्री ऑफ एंश्येण्ट संस्कृत लिटरेचर' (History of Ancient Sanskrit Literature) नामक पुस्तक मे, जो सन् 1859 में प्रकाशित हुई थी, मैक्समूलर ने बुद्ध के आविर्भाव की तिथि (लगभग ई० पू० 500) को स्थिर करके, एकमात्र कल्पना के आधार पर ऋग्वेद का काल 1000 ई०पू० निश्चित किया। मैक्समूलर की युक्ति परम्परा कुछ इस प्रकार थी—बौद्ध धर्म प्राचीन वैदिक और ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के रूप मे विकसित हुआ था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उसके विकास से पहले वैदिक कर्मकाण्ड का सम्पूर्ण साहित्य (वेदांगो को छोड़कर) विकसित हो चुका था। वेदाग साहित्य को वह बौद्ध धर्म का कुछ कम या अधिक समकालिक स्वीकार करता है अतः इस साहित्य का रचना-काल 600 ई० पू० से 200 ई० पू० तक माना जा सकता है। यह वेदाग-सूत्र-साहित्य सम्पूर्ण ब्राह्मण-साहित्य को अपने से पूर्ववर्ती मानकर चलता है। इसलिए इस ब्राह्मण-साहित्य की रचना 600 ई० पू० से पहले ही हो चुकी होगी। ऐसा मानना इसलिए उचित प्रतीत होता है कि विषयवस्तु की एकरूपता और क्रमिकता के कारण कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों का निर्माण ब्राह्मण-साहित्य के रचनाकाल से निश्चय ही जुड़ा रहा होगा। ब्राह्मणग्रन्थ भी—जिनमे पूर्ववर्ती और पश्चाद्वर्ती दोनो ही प्रकार के ग्रन्थ सम्मिलित हैं और जिनमे विभिन्न आचार्यो के सम्प्रदायों की लम्बी-लम्बी सूचियां दी हुई हैं—निश्चय ही एक से अधिक शताब्दियों के काल मे विकसित हुए होगे। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थो का काल वेदांग साहित्य से 200 वर्ष पूर्व अर्थात् 800 से 600 ई० पू० तक माना जा सकता है।

यह ब्राह्मण-साहित्य संहिताओ को अपने से पूर्ववर्ती मानता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि इन ब्राह्मणो में जिन श्रौतयज्ञो के विषय मे विवेचन किया गया है उन श्रौतयज्ञो मे प्रयुक्त होने वाले देवताओं की स्तुति-विषयक मन्त्रो का संग्रह वैदिक सहिताओ मे उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर सहिता-मन्त्रो की रचना और उनका सकलन ब्राह्मण ग्रन्थो से एक-दो शताब्दी पूर्व हो चुका होगा। इस प्रकार संहिताओं मे सबसे प्राचीन ऋग्वेद संहिता का सकलन-

काल ब्राह्मण साहित्य से 200 वर्ष पूर्व अर्थात् 1000 ई० पू० मैक्समूलर ने स्वीकार किया है। इस संहिता में संकलित किये जाने से पहले ऋग्वेद के प्राचीनतम मन्त्रो की रचना का समय जो मैक्समूलर की परिगणन प्रक्रिया के आधार पर अधिक से अधिक दो शताब्दी का रहा होगा—यदि और जोड़ लिया जाए तो ऋग्वेद की रचना का काल 1200 ई०पू० तक ले जाया जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मैक्समूलर के अनुयायियो की दृष्टि मे ऋग्वेद के रचना की पूर्व सीमा 1200 ई० पू० से पहले किसी भी तरह नही ले जायी जा सकती।

इस तिथिक्रम के निर्धारण मे सूत्र-साहित्य, ब्राह्मण-साहित्य और संहिताओं के रचना और सकलन के लिए मैक्समूलर के द्वारा स्वीकार किया गया चार तथा दो-दो शताब्दियो का यह काल युक्तिप्रमाणशून्य है अतएव पूर्णत. अवैज्ञानिक और यादृच्छिक है। स्वयं मैक्समूलर भी 1200 से 1000 ई० पू० तक के मन्त्र रचना-काल को अन्तिम रूप से अकाट्य तथ्य के रूप मे स्वीकार नही करता था। सन् 1889 मे भौतिक धर्म विषय पर दिये गये अपने गीफफोर्ड लेक्चर (लन्दन से सन् 1901 मे प्रकाशित) मे उसने यह स्वीकार किया था कि संसार में कोई भी शक्ति यह निश्चित नही कर पायेगी कि वैदिक सूक्तो की रचना 1000 अथवा 1500 अथवा 2000 अथवा 3000 ई० पू० हुई होगी। यह आश्चर्य की बात रही है कि वैज्ञानिक विचारधारा के युग मे भी मैक्समूलर द्वारा पूर्णतः यादृच्छिक रूप मे सुझाया गया यह मत वैज्ञानिक दृष्टि से सिद्ध किये गये तथ्य के रूप मे स्वीकार किया जाता रहा। ह्विटने ने (Oriental and Lingistic Studies I Series, New York, 1872, P. 78) अन्धानुकरण के रूप मे स्वीकार की जाने वाली इस प्रवृत्ति की, कि ऋग्वेद का काल मैक्समूलर ने 1200 से 1000 ई० पू० निर्धारित किया था, पर्याप्त भर्त्सना की है। तथापि मैक्समूलर द्वारा ऋग्वेद के कालनिर्णय के विषय मे किये गये प्रयत्न के बाद विद्वानो में इस विषय पर अपने विचार व्यक्त करने की स्पर्धा-सी लग गई।

ऋग्वेद को प्रथम सहस्राब्दी से पश्चाद्वर्ती मानने वाले मत

एक ओर कुछ विद्वान् ऋग्वेद का रचनाकाल और अधिक प्राचीनता की ओर ले जाने का यत्न कर रहे थे और दूसरी ओर उससे भी अधिक हठधर्मिता के साथ इस काल को ईसा की प्रथम सहस्राब्दी से भी इस ओर लाने का यत्न कर रहे थे। ऋग्वेद को ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी से पहले की रचना मानने वाले मत के विरोध मे प्रायः यह तर्क दिया गया कि उस समय तक भारोपीय परिवार की विभिन्न जातियां अपने मूल स्थान से पृथक् नही हुई थी। यद्यपि इस पिछले मत मे अधिक सार नही है फिर भी यह मत उन लोगो को अधिक प्रिय है जो ऋग्वेद की रचना और भारतीय सस्कृति के प्रारम्भ के काल को ईसा के जन्म से 1000

वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं मानना चाहते। हर्टल ने यह सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की थी कि ऋग्वेद की रचना भारत में न की जाकर जरथुष्ट्र के जन्म से कुछ ही वर्ष पहले ईरान मे की गई थी। उसके मत में जरथुष्ट्र का समय 500 ई० पू० था।

जी० ह्यू सिंग इससे भी एक कदम आगे बढ़कर यह प्रतिपादित करता है कि ई० पू० 1000 वर्ष के आसपास भारतीय आर्य आर्मीनिया से भारत की ओर प्रस्थान कर रहे थे जहां ऋग्वेद की रचना प्रारम्भ हुई थी। अपने इस मत की पुष्टि मे उसने बोगाज़क्यूई की मृत्तिकापट्टिकाओं पर कीलाक्षरों में उत्कीर्ण कुछ नामों का सादृश्य भारतीय राजाओं के नामों के साथ कल्पित किया है। इन पट्टिकाओं की ओर पहले भी संकेत किया जा चुका है। ह्यू सिंग के अनुसार आगे चलकर आर्यों को अफगानिस्तान से भारत की ओर खदेड़ दिया गया जहां उन्होंने अपने धर्म, साहित्य और संस्कृति का विकास किया। ब्रन्नहॉफर के सुझाव का अनुकरण करते हुए ह्यू सिंग ने ऋग्वेद के राजा कानीत पृथुश्रवस् और सीरियन राजा कानीट्स को एक माना है। इस राजा का नाम ग्रीकशिलालेखों तथा एक सिक्के पर मिलता है। इसका समय ई० पू० दूसरी शताब्दी है। ब्रन्नहॉफर के अनुयायियो के मत का सार यह निकलता है कि ऋग्वेद के मन्त्रों का संग्रह ई० पू० दूसरी शताब्दी तक भी नहीं हो पाया था। ऋग्वेद के रचनाकाल की इतनी अधिक पीछे की कल्पना अभी तक और किसी ने नहीं की। इस मनोवृत्ति का मूल कारण भारत और भारतीयों को गुलाम देश और गुलाम देश के नागरिक मानना रहा है।

मैक्समूलर के सुझाये समय के आसपास वैदिक संहिताओं की रचना या संकलन का काल स्वीकार करना एक फैशन सा हो गया है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् अब भी 1200-1500 ई०पू० ऋग्वेद का रचनाकाल स्वीकार करते हैं। (Keith , CHI, Cambridge 1922, P. 112; Gonda, HIL, P. 23)। संहिताओं की रचना या संकलन के लिए ईसा के जन्म से समीप से समीपतर कालनिर्धारण करने का आधार वेद और अवेस्ता की भाषा और धार्मिक विचारो मे समानता को माना गया है। 'Encyclopaedia of Religion and Ethics' (Vol. 7, 1914 P. 49) में प्रकाशित अपने लेख मे प्रोफेसर मैक्डॉनल ने विचार व्यक्त किया है कि इस परिणाम से बचना असम्भव प्रतीत होता है कि भारतीय आर्य लोग ईरानियों मे ईसा के जन्म से 1300 वर्ष मे अधिक पहले पृथक् हुए हों। दूसरी ओर विन्टरनिट्स जैसे विद्वानों की सम्मति मे वेद और अवेस्ता मे वर्णित धर्म की समानता के विपरीत उनमें असमानताएं भी उतनी ही हैं जो पूर्व मतावलम्बियो को निरुत्तर कर देती हैं। दोनों मे मिलने वाली समानताओं की व्याख्या तो अन्य प्रकार से भी आसानी से की जा सकती है। यह बात सदा ध्यान में रखी जानी चाहिए कि भारतीय ईरानी लोग प्राग्वैदिक और प्रागवेस्ता काल

में एक ही आर्य सांस्कृतिक इकाई थे और दोनों जातियाँ पृथक् हो जाने के बाद भी लम्बे समय तक एक दूसरे की पड़ोसी रही थी। भाषा के सम्बन्ध के विषय मे यह निश्चित कर सकना असम्भव है कि कितने समय मे दो परस्पर सम्बद्ध भाषाएं परिवर्तित होकर एक दूसरे से पृथक रूप मे पहचानी जा सकती हैं। कुछ भाषाए बड़ी जल्दी परिवर्तित होती हैं और कुछ अन्य भाषाएं बहुत लम्बे समय तक अपरिवर्तित रहती है। वैदिक संस्कृत और अवेस्ता जैसी भाषाएं जिनका प्रयोग पौरोहित्य कार्यो के लिए अधिक हुआ था ऐसी ही भाषाये थी जो लम्बे समय तक अपरिवर्तित रह सकती थी।

ऋग्वेद सम्बन्धी मैक्समूलर के मत से प्राचीनतर मत

श्रोएडर ने मैक्समूलर द्वारा निर्धारित ऋग्वेद के रचनाकाल से पूर्व यानी 1500 से 2000 ई० पू० या इससे भी अधिक पहले सुझाने का साहस किया। हर्मन याकोबी ने जब ज्योतिष गणना के आधार पर भी ऋग्वेद का काल ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी से भी पहले निर्धारित करने वाला अपना मत उपस्थित किया तो अधिकांश पश्चिमी विद्वानो ने इस मत का जोरदार विरोध किया। वे यह भूल गये कि ऊपर निर्दिष्ट मैक्समूलर का सामान्यतया स्वीकृत मत, जिसका कि वे समर्थन करते थे, कितने अस्थिर आधार पर टिका हुआ था। ज्योतिष के आधार पर कालनिर्धारण की यह प्रक्रिया सर्वथा अप्रामाणिक या अयुक्तियुक्त नही कही जा सकती। वैदिक साहित्य में—ब्राह्मणो में और वेदाग साहित्य मे—यज्ञादि धार्मिक कृत्यो को एक निश्चित मुहूर्त्त मे प्रारम्भ करने के लिए सूर्य तथा चन्द्र के ग्रहण और इनके सताईस नक्षत्रो मे भ्रमण आदि विषयों पर विचार किया गया है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलो पर यह वर्णन मिलता है कि एक विशेष यज्ञ प्रक्रिया को एक विशेष नक्षत्र में सम्पन्न किया जाना चाहिए। 'नक्षत्र के काल से' यह अभिप्राय था कि उस समय चन्द्रमा उस नक्षत्र के समीप मे स्थित हो। भारतीय पञ्चाङ्ग मे महीनो के नाम भी चन्द्रमा की बारह विशिष्ट नक्षत्रो के साथ युति के आधार पर रखे गये हैं। प्रारम्भ मे महीनो के ये नाम केवल चान्द्रमास के लिए प्रयुक्त होते थे और फिर आगे चलकर ये ही नाम सौर महीनो के लिए भी प्रयुक्त होने लगे। वैदिक समय मे ही यह प्रयत्न किया गया कि चान्द्रवर्ष और सौर वर्ष की कालावधि एक समान कर दी जाये। इस दृष्टि से विचार करने पर स्वभावतः यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या वर्ष के प्रारम्भ, ऋतुओं के साथ सम्बन्ध तथा पूर्णमासी के चन्द्र की विशिष्ट नक्षत्रों के साथ युति को देखकर पञ्चाङ्ग गणना के आधार पर वैदिक काल निर्धारण के विषय मे किसी परिणाम पर नही पहुचा जा सकता ?

कालगणना सम्बन्धी प्रश्न के समाधान की दृष्टि से विचार करते हुए

1893 मे दो विद्वान् स्वतन्त्र रूप से आश्चर्यजनक परिणामों पर पहुंचे। भारतीय विद्वान् बालगगाधर तिलक तथा जर्मन विद्वान् हर्मन याकोवी ने यह विचार व्यक्त किया कि ब्राह्मणो के काल मे वसन्त सम्पात कृत्तिका नक्षत्र मे पड़ता था। उस समय की नक्षत्र गणना इसी नक्षत्र से प्रारम्भ होती थी। दूसरी ओर सहिताओ के वैदिक मन्त्रो मे ऐसे सकेत भी मिलते है कि उस काल मे वसन्त सम्पात मृगशिरष् नक्षत्र मे आता था। वर्तमान मे आने वाले वसन्त सम्पात से पीछे की ओर गणना करके यदि देखा जाए तो कृत्तिका नक्षत्र मे पड़ने वाले वसन्त सम्पात का समय 2500 ई० पू० और मृगशिरष् नक्षत्र मे पड़ने वाले वसन्त सम्पात का समय 4500 ई० पू० होगा। वालगंगाधर तिलक इससे भी आगे बढ़कर ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं का समय 6000 ई० पू० तक ले जाते है। याकोवी ने यह समय 4500 ई० पू० तक स्वीकार किया है। उसके मत मे 4500 से 2500 ई० पू० तक का समय वैदिक सम्भता के विकास का काल रहा होगा। इस प्रकार संहिताओं के संकलन का समय याकोवी के मत से ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी के द्वितीयार्ध तक सिद्ध होता है।

याकोबी ने अपने मत की पुष्टि में एक अन्य ज्योतिष का प्रमाण भी उपस्थित किया। प्राचीन भारत मे गृह्यसूत्रो के अनुसार विवाह-विधि मे वर-वधू को ध्रुव-दर्शन करवाता था। इस ध्रुव-दर्शन की वात तभी समझ मे आ सकती है जब कोई चमकीला तारा उत्तर की ओर ध्रुव के स्थान के समीप स्थिर रूप मे स्थित दिखायी देता हो। यह सर्वविदित है कि पृथिवी के उत्तरीय ध्रुव का केन्द्र छोटे सप्तर्षि मण्डल मे से किसी एक तारे की ओर इंगित करता रहता है जिसे हम ध्रुव तारे के नाम से जानते हैं। गृह्यसूत्रों के समय मे ध्रुव का केन्द्र बिन्दु किसी ऐसे तारे की ओर इगित कर रहा होगा जो इस मण्डल के अन्य तारो की अपेक्षा अधिक चमकीला दिखायी देता हो। इस समय छोटे सप्तर्षि मण्डल का द्वितीय श्रेणी (Second magnitude) का 'एल्फा' नामक तारा ध्रुव के स्थान पर है। वैदिक समय मे इस तारे को ध्रुव तारे के रूप मे नही समझा जा सकता था क्योकि 2000 ईसा पूर्व यह तारा ध्रुव के स्थान से पर्याप्त दूरी पर था और तब इसे ध्रुव के रूप मे समझना सम्भव नही था। 2780 ई० पू० के समय मे एल्फा ड्राकोनिस (Alpha draconis) की स्थिति ऐसी थी कि आगे आने वाले 500 वर्षो तक यह तारा ध्रुव के रूप मे दृष्टिगोचर रहा होगा। इस दृष्टि से ध्रुव-दर्शन की यह प्रथा उस काल मे प्रारम्भ हुई होगी जब 'एल्फा ड्राकोनिस' ध्रुव तारे के रूप मे दृष्टिगोचर होता था। यह स्थिति तीसरी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध मे विद्यमान थी। ऋग्वेद और अथर्ववेद मे वर्णित विवाह सम्बन्धी विधि मे ध्रुव दर्शन का कोई वर्णन ही नही है। इसलिए ऋग्वैदिक सभ्यता का काल तीसरी सहस्राब्दी से पहले ही रहा होगा।

तिलक और याकोबी के मत का बहुत जोरदार विरोध हुआ। कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त सम्पात के आधार पर निर्धारित किये गये तिथिक्रम के विषय मे सबसे गम्भीर आक्षेप यह किया गया कि अत्यन्त प्राचीन काल मे भारतीयों का ज्योतिष विषयक दृष्टिकोण नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा की युति देखने तक सीमित था। वे सूर्य की गति के आधार पर नक्षत्र आदि के विचार से अनभिज्ञ थे। इसके अतिरिक्त अत्यन्त प्राचीन काल में दिन-रात की समानता के बारे मे कोई वर्णन नही मिलता। शतपथ ब्राह्मण मे वर्णित कृत्तिका नक्षत्र मे अग्न्याधान के प्रसंग मे 'कृतिकास्वग्निमादधीत'''एता वै प्राच्याः दिशो न च्यवन्ते' प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ विन्टरनित्स आदि विद्वानों ने भिन्न प्रकार से करके यह सिद्ध करने का यत्न किया कि यह काल 1800 ई० पू० के आसपास ठहरता है। वसन्त सम्पात मे नव वर्ष के प्रारम्भ विषयक युक्ति का परिहार यह कहकर किया गया कि इन प्रश्नों का उत्तर ढूढना सम्भव नही है; क्योकि वैदिक मंत्रों के मूल पाठ मे वर्ष का प्रारम्भ कभी वसन्त मे, कभी शरद् मे और कभी वर्षाकाल मे दिखाया गया है। इसी प्रकार ऋतुओ के विषय मे यह तर्क उपस्थित किया गया कि ब्राह्मणो मे ऋतुओं की संख्या 3,5,6 आदि रूप मे भिन्न-भिन्न बताई गयी है। शतपथ ब्राह्मण 12-8-2-35 मे यह कहा गया है कि सभी ऋतुएं प्रथम हैं, सभी मध्य है और सभी अन्त मे है। विन्टरनित्स ने ज्योतिष के आधार पर उपस्थित किये गये मतो के विषय में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि ऋग्वेद मे ध्रुवदर्शन की प्रथा का वर्णन न होने के आधार पर किसी परिणाम का निकलना न्यायसंगत नही है; क्योकि ऋग्वेद के विवाह सूक्तो मे सभी प्रथाओ का परिगणन नही किया गया है। ऐसी अवस्था मे इस एक प्रथा के अभाव को लेकर मतविशेष को उपस्थित करना तर्कसंगत नही।

याकोबी और तिलक द्वारा ज्योतिष विषयक तथ्यो के आधार पर उपस्थित किये गये मत को यद्यपि पाश्चात्य जगत् मे मान्यता तो नही मिली पर दूसरी ओर पुरातत्त्व विषयक नई खोजो तथा वैदिक साहित्य मे वर्णित सभ्यता और संस्कृति, राजनैतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक इतिहास के आधार पर बीसवी शती के अधिकांश विद्वानो ने यह तो स्वीकार कर लिया कि ऋग्वेद का काल मैक्समूलर द्वारा सुझाये गये 1200 ई० पू० या 1500 ई० पू० से तो निश्चय ही अधिक प्राचीन है।

जार्ज ब्यूहलर ने सन् 1894 मे 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' में प्रकाशित एक लेख मे 1500 से 1200 ई० पू० तक माने गये मत का खण्डन करके वैदिक साहित्य का एक नया काल स्थापित किया। उसके अनुसार उपलब्ध शिलालेखो के आधार पर यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि 300 वर्ष ई० पू०

मे दक्षिण भारत में भारतीय आर्यो का राज्य स्थापित हो चुका था और उस क्षेत्र मे ब्राह्मण-सभ्यता का प्रभाव व्याप्त हो गया था। उसी काल में रचे गये कुछ सूत्र-ग्रन्थ, यथा—बौधायन, आपस्तम्ब आदि हमे उपलब्ध होते हैं। इनका प्रादुर्भाव दक्षिण भारत मे हुआ था, ऐसा सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सूत्र-ग्रन्थों के दक्षिण मे रचे जाने से बहुत पहले ही—अर्थात् 7वी-8वी शताब्दी ईसा पूर्व में आर्य जातियां वहां बस चुकी थी। भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने में बसने वाले आर्यो द्वारा दक्षिण भारत की समुद्र पर्यन्त सीमा तक विजय प्राप्त करने के तुरन्त पश्चात् सम्पूर्ण देश में आर्य ब्राह्मण सभ्यता के पूर्णत: बद्धमूल हो जाने से पहले उपर्युक्त प्रकार के वैदिक सम्प्रदायो का सुदूर दक्षिण जैसे दूरवर्ती क्षेत्र मे विकसित होना सम्भव नहीं था। ब्यूहलर के मत के अनुसार यदि ई० पू० 7वी-8वी शताब्दी मे भारतीय आर्य दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त कर चुके थे तो यह मानना कि वह ई० से 1200 या 1500 पूर्व भारत के उत्तर पश्चिमी किनारे पर रहते थे अयुक्तियुक्त होगा। यह मानना अत्यन्त हास्यास्पद होगा कि वैदिक कालीन भारतीय आर्य, जो बहुत से कबीलो मे विभक्त थे और प्राय: परस्पर झगड़ते रहते थे, 500 या 700 वर्षो मे पंजाब से, आसाम और बर्मा को छोड़कर, शेष सम्पूर्ण भारत को जीत सके और अनेक सुव्यवस्थित राज्यो को इस सारे भू-भाग में स्थापित करने तथा इस प्रदेश पर अपने धर्म और संस्कृति को विजित जातियो पर प्रभावी बनाने मे सफल हुए। ऐसी सफलता डेढ़-दो सहस्राब्दी से कम समय मे प्राप्त नही की जा सकती थी।

इस मत के विरोध मे ओल्डनबर्ग ने उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के विस्तृत मैदानो मे यूरोपीय जातियो के फैलाव का उदाहरण देकर यह तर्क प्रस्तुत किया कि 700 वर्षो के समय की अवधि आर्यो के लिए दक्षिण भारत के भू-भाग पर विजय प्राप्त करने के लिए कम नही है। ओल्डनबर्ग के मत को अस्वीकार करते हुए विन्टरनित्स का कहना था कि उपर्युक्त दोनों घटनाओ की तुलना नही की जा सकती। भारत विजय की तत्कालीन परिस्थिति और यूरोपवासियो द्वारा अमेरिका विजय की परिस्थितियो मे महान् अन्तर है। वैदिक साहित्य में ऐसे संकेत पर्याप्त रूप मे मिलते हैं कि आर्यो के विभिन्न कुलो और कबीलों मे अत्यन्त प्राचीन काल से परस्पर युद्ध होते थे। भारत के इतिहास में ऐसी परम्परा बहुत समय तक चलती रही है। इस प्रकार की परिस्थितियो मे भारत विजय बहुत शनै:-शनै: और प्रत्येक कदम पर कड़े विरोध का सामना करते हुए प्राप्त की गई होगी। यदि हम भारतीय साहित्य की दो प्राचीनतम सतहो की परस्पर तुलना करे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि आर्यो का पूर्व और दक्षिण की ओर विस्तार बहुत ही धीमी गति से हुआ होगा। ऋग्वेद मे जिन नदियो का नाम मिलता है उनका प्रवाह जिस भू-भाग मे होता था वह अफगानिस्तान के पूर्वी क्षेत्र तथा पाकिस्तान

के उत्तरी क्षेत्र तक सीमित था। स्वयं ऋग्वेद की ऋचाओ का रचना काल कई शताब्दियो मे विस्तृत रहा है। यह वात ऋग्वेद के पृथक्-पृथक् सूक्तो मे प्रयुक्त भाषा और वर्णन के आधार पर देखी जा सकती है। अनुक्रमणिकाओ और ब्राह्मणो मे जिन ऋषिओं को सूक्तों और मन्त्रो का कर्ता कहा गया है वे स्वयं अपनी रचनाओं में अपने से अत्यधिक पूर्ववर्ती ऋषिओ को 'पूर्वेभिर्ऋषिभि.' और 'पूर्वे पूर्वजना.' कहकर सम्बोधित करते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के लगभग साढ़े दस हजार मन्त्रो में से कोई 1500 मन्त्र अथवा उनके पृथक्-पृथक चरण पूर्व रचित मन्त्रो की आवृत्ति मात्र हैं। स्पष्ट है कि बहुत से नवीन ऋषिओ ने प्राक्तन ऋषियों के मन्त्रो की या उनकी पक्तियो को अपनी रचनाओ मे स्थान दिया होगा।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि ऋग्वेद सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मे प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसकी भाषा वैदिक-गद्य-प्रधान ग्रन्थो की भाषा की अपेक्षा अधिक प्राक्तन है। नवीन और प्राचीन कृतियो मे वर्णित धार्मिक विचार और सभ्यता की अवस्थाएं एक दूसरे से भिन्न हैं। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ऋग्वेद तथा अथर्ववेद संहिता के मन्त्रों और प्रार्थनाओ को निश्चय से अपने से अत्यधिक पूर्ववर्ती काल की रचनाएं मानकर चलते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणों और आरण्यको मे वर्णित आख्यानो के रूप और उन्ही आख्यानो के ऋग्वेद वर्णित रूप में बहुत भेद है जिससे प्रतीत होता है कि उनका प्राक्तन रूप ब्राह्मणो और आरण्यको के समय तक भुलाया जा चुका था। गुरु और शिष्य मे श्रुति परम्परा द्वारा सम्प्रेषित होने वाले इस साहित्य मे शिष्यो और आचार्यो की कई पीढ़िया बीत जाने के बाद इस साहित्य के पाठ मे कुछ स्थिरता आयी होगी जिसका पृथक्-पृथक् रूप नाना शाखाओं मे उपलब्ध है। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि भाषा, साहित्य और सस्कृति के आधार पर ऋग्वेद के प्रथम सूक्तो की रचना और संहिता के रूप मे उनके संकलन के मध्य मे कई शताब्दियों का समय व्यतीत हो चुका था।

ऋग्वेद का संकलन एक अत्यन्त प्राचीन काल की अवधि की समाप्ति का सूचक है। ऋग्वेद तथा अन्य सहिताओ और ब्राह्मणो के उपलब्ध वर्तमान रूप की प्राप्ति तक जिस संस्कृति का विकास हुआ उसके लिए भी कई शताब्दी लम्बे व्यवधान की अपेक्षा है। स्वयं ब्राह्मणों मे विविध शाखाओ और प्रशाखाओ का वर्णन मिलता है जिनकी ऋषि परम्पराओं की लम्बी सूचिया तथा नये और पुराने ऋषिओं अथवा उनके कुलों के प्रति मिलने वाले बहुत से सकेत उपर्युक्त तथ्य के पोषक हैं। इस सम्पूर्ण साहित्य तथा ब्राह्मण-संस्कृति, धार्मिक ज्ञान और पुरोहितों को प्राप्त होने वाली सर्वातिशायी शक्ति के विकास के लिए कई शताब्दियो के समय की आवश्यकता है। इसी के साथ उपनिषदो की भाषा और विषय-वस्तु अपनी रचना के एक नये ही काल की सूचना देते हैं; क्योकि ये भी अपनी विषय-

वस्तु के विकास क्रम मे कुल क्रमागत ऋषिओं की लम्बी परम्परा को मानकर चलती है। इस लम्बी अवधि मे अर्थात् ऋग्वेद की प्राक्तन ऋचा की रचना से लेकर उपनिषद् काल की समाप्ति तक, आर्य लोगो ने सिन्धु नदी से गङ्गा नदी तक के आपेक्षिक रूप मे छोटे भू-भाग पर ही विजय प्राप्त की। यदि अफ़गानिस्तान की पूर्वी सीमा से लेकर गङ्गा के समुद्र मे मिलने तक फैले हुए भू-भाग को विजय करने तथा उस पर अपने धर्म और सस्कृति का प्रभाव जमाने में आर्यो को सहस्राब्दी से अधिक लम्बा समय लगा तो सम्पूर्ण उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत को जीतने मे उससे दोगुना समय तो लगा ही होगा। हॉफकिन्स और रैप्सन आदि कुछ विद्वानो का यह मत रहा है कि प्राचीनतम उपनिषदो का समय छ शताब्दी ई० पू० से पूर्व नही रखा जा सकता। इस प्रकार उनका मत मैक्समूलर द्वारा निर्धारित मत के विपरीत जाता है जिसके अनुसार उसने सहिताओ, ब्राह्मणो और उपनिषदो को बुद्ध से पूर्ववर्ती अर्थात् 500 ई० पू० से पहले का माना था। ओल्डनवर्ग ने यह सिद्ध किया है कि प्राचीनतम उपनिषदो और प्राचीनतम बौद्ध साहित्य के बीच मे कई शताब्दियो का अन्तर रहा है। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य न केवल वेदो को अपितु वेदाङ्गो को भी और वस्तुतः सम्पूर्ण वैदिक-साहित्य और विज्ञान को अपने से पूर्ववर्ती और पहले से विकसित मानकर चलता है। बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव मे पहले भी भारत मे बहुत से ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय विद्यमान थे जो वेदो मे आस्था नही रखते थे। इनमे से एक सम्प्रदाय जैनो का भी था। भारत के विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायो के कालक्रम के विषय मे इनकी परम्परा बहुत से विद्वानो को पर्याप्त विश्वसनीय प्रतीत हुई है और इस आधार पर हम उनकी इस सूचना मे विश्वास कर सकते है कि उनके सम्प्रदाय के संस्थापक का जीवन-काल 750 ई० पू० के आसपास था। ब्यूहलर के मत मे वेद और ब्राह्मण धर्म विरोधी सम्प्रदायों का समय जैनो से भी अधिक प्राचीन काल का है। इस प्रकार समग्र वेदाङ्ग-सहित वैदिक-साहित्य इन नास्तिक सम्प्रदाओ से भी पूर्ववर्ती रहा होगा।

ऋग्वेद के काल-निर्णय का प्रश्न हल करने मे एक ओर पुरातत्व सम्बन्धी वैज्ञानिक खोज कुछ सहायता पहुंचा सकती है। सन् 1907 मे ह्यूगो विक्लेयर ने वर्तमान टर्की देश में बोगाज़क्यूइ नामक स्थान पर एक महत्वपूर्ण खोज की। इसमे प्राचीन हिट्टाइट साम्राज्य की राजधानी के राजकीय अभिलेखो की मृत्तिका पट्टिकाएं भी शामिल थी। इन पर मितानी और हिट्टाइट राजाओं के बीच 1400 ई० पू० मे हुई सन्धि के अभिलेख लिखे हुए थे जिनमें दोनो राज्यो के देवताओं की इस सन्धि के संरक्षको के रूप मे स्तुति की गई है। इन देवताओ की सूची मे बैबिलोनियन और हिट्टाइट देवताओ के साथ-साथ मितानी के देवताओ मे आर्यो के पूर्व वर्णित मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यो के नाम भी सम्मिलित हैं।

इस खोज के परिणामस्वरूप प्रश्न यह उठा कि भारतीय आर्यों के देवताओं के नाम एशिया माइनर में मितानी जाति के पास कैसे पहुंचे ? इस प्रश्न के समाधान के लिए विभिन्न विद्वानों ने नाना मत उपस्थित किये।

एडवर्ड मेयर और पी० जाइल्स का मत यह रहा है कि ये देवता उस काल के हैं जब भारतीय और ईरानी जन भाषा और धर्म की दृष्टि से एक ही अविभाजित राष्ट्र के रूप में निवास करते थे। उस समय एक ओर तो कुछ 'आर्य' कुल पश्चिमी मेसोपोटेमिया और सीरिया की ओर अग्रसर हो रहे थे और दूसरी ओर कुछ अन्य कुल भारत और पाकिस्तान के उत्तर पश्चिमी सीमान्त मे एक पृथक् विकास की कड़ी के रूप मे बसने प्रारम्भ हो चुके थे। उस समय इस शाखा के धार्मिक गीतों की रचना ऋग्वेद के प्राचीनतम मन्त्रो के रूप मे प्रारम्भ हो चुकी थी। यह काल 1500 ई० पू० के आसपास का रहा होगा। एक ही मूल जाति से विकसित होने के कारण पश्चिम और पूर्व की ओर गये कुलो की धार्मिक मान्यताएं एक समान रही होंगी और इसी समानता का दर्शन हमे मितानी के मित्र, वरुण आदि देवताओ मे दृष्टिगोचर होता है। ओल्डनबर्ग का मत भी इस मत से मिलता-जुलता ही है। उसके विचार मे ये देवता किसी ऐसी पश्चिमी आर्य कबीले के देवता थे जो कबीला भारतीय आर्यो के कबीले से सम्बद्ध था और दोनों ही कबीलो के लोगो ने अपने किसी समान मूल से कुछ समान विशेषताएं विरासत के रूप में प्राप्त की होंगी। पश्चिम और पूर्व की ओर बढने वाले ये कबीले जरथुष्ट्र से पूर्ववर्ती ईरानियों के उत्तराधिकारी थे या किसी अन्य 'आर्य' शाखा के उत्तराधिकारी थे—इस प्रश्न पर ओल्डनबर्ग मौन है तथापि उसका यह विश्वास था कि इस खोज के कारण वैदिक काल को अधिक प्राचीन मानना उचित नही।

यह तथ्य है कि मित्र और वरुण तथा इन्द्र और नासत्यौ अपने नाम के इन रूपों में ऋग्वेद मे देखे जा सकते है। इस आधार पर याकोबी, हिलेब्राण्ट, कोनोव और विन्टरनित्स इस बात पर सहमत है कि ये देव ऋग्वेद मे वर्णित भारतीय आर्यो के ही देवता हैं। ऐसी अवस्था मे यह स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है जिस प्रकार आर्य कुलो का मध्य एशिया से भारत की ओर आवर्जन हो रहा था उसी प्रकार कुछ थोड़े से कुल पश्चिम की ओर भी पुन: वापस जा रहे थे। पश्चिम की ओर होने वाले ये आवर्जन परस्पर विवाह आदि के कारण भी हुए हो अथवा युद्ध रूपी साहसिक अभियान के कारण हुए हो यह निश्चय से नही कहा जा सकता। साथ ही यह तथ्य भी नही भुलाया जा सकता कि ऋग्वेद की रचना के समय भारतीय आर्य भौगोलिक दृष्टि से पश्चिमी क्षेत्र के अधिक समीप रहे होंगे। बोगाजक्यूइ की खुदाई मे मिले अभिलेखो के आधार पर तिथिक्रम या कालक्रम के विषय मे इतनी ही बात कही जा सकती है कि द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य मे अर्थात् 1500 ई० पू० के आसपास कुछ जातिया जो वैदिक देवताओ की पूजा करती थी

काफी समय पहले से भारत पाकिस्तान के उत्तर पश्चिमी किनारे पर बस चुकी थीं। इनमें से कुछ कुल 1400 ई० के आसपास सुदूर पश्चिम की ओर वापिस गए होंगे। अतः इस कारण एक ही समान विरासत वाले उत्तराधिकारियों में एक समान देवताओं का होना आश्चर्यकारक नही है।

संसार की विभिन्न भाषाओं और भाषा शाखाओं के इतिहास का ज्ञान हमे यह स्वीकार करने को बाधित करता है कि कोई भी भाषा अनगिनत हजारों-लाखों वर्षों तक की बात तो दूर, दो-तीन सहस्राब्दी से अधिक समय तक परिवर्तित हुए बिना नहीं रह सकती। इस कारण वेद के काल के विषय में भूगर्भ विद्या के आधार पर सुझाई गई अकल्पनीय तिथियां यथा —16000 या 25000 ई० पू० नितान्त असम्भव हैं। इन तिथियो को स्वीकार करने का मतलब यह होगा कि इतने लम्बे युग मे वर्णन करने योग्य किसी भी प्रकार की सांस्कृतिक उन्नति वैदिक आर्यो मे नही हुई। भारतीयो जैसे प्रतिभा-सम्पन्न लोगो के विषय में ऐसा मानना बहुत ही अधिक हैरानी की बात होगी। काल सम्बन्धी ये संख्यायें सर्वथा असम्भव हैं क्योंकि वैदिक और ब्राह्मण-संस्कृति के मध्य मे निरन्तरता की व्याख्या किसी अन्य प्रकार से नहीं की जा सकती। यह समस्या धर्म के विकास के विषय में और भी अधिक उलझन पैदा करने वाली होगी। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणो की भाषा के आधार पर पाणिनि द्वारा अपने व्याकरण मे परिनिष्ठित रूप मे स्थापित की गई लौकिक भाषा और सम्राट् अशोक के शिलालेखो मे लिखी गई भाषाओं मे इतना गहन सम्बन्ध है कि इतने हजारो वर्ष का समय इन दोनो के बीच मे गुजरा होगा, यह सोचना भी सम्भव नही। संक्षेप मे यह कह सकते हैं—(1) ज्योतिष के आधार पर वेद के काल का निर्धारण हमे किसी निश्चित परिणाम पर नही पहुंचा सकता क्योंकि वेद के मूल पाठ मे ऐसे सदर्भ भी हैं जिनका अर्थ अनिश्चित है। ज्योतिष के आधार पर की गई गणना कितनी भी सही हो परन्तु उससे कुछ भी सिद्ध नही किया जा सकता जब तक उस गणना के आधारभूत मूल पाठ असंदिग्ध रूप से सुस्पष्ट न हो। (2) ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर उपस्थित किए गए मत यथा—बोगाजक्यूइ के मृत्तिका पट्टिकाओं पर त्रिकोणात्मक लिपि मे लिखे गए शिलालेखो मे वर्णित देवताओ की वेदकालीन देवताओ के साथ तुलना और उसके आधार पर आर्य (भारत ईरानी) और भारोपीय काल तक वेद की प्राचीनता सिद्ध करना अपने आप मे अनिश्चित तत्व हैं और नाना प्रकार के परस्पर विरोधी परिणामों पर पहुंचा सकते हैं। तथापि हमारे पास प्राचीन भारत और पश्चिमी एशिया के सम्बन्धों के प्रमाण इस रूप मे उपलब्ध हैं जिससे यह सिद्ध किया जा सकता है कि द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य मे आर्य लोगो की एशिया माइनर मे उपस्थिति और वैदिक सभ्यता का विकास इस काल मे वहां पर अवश्य था। (3) एक ओर वैदिक भाषा और अवेस्ता मे तथा दूसरी ओर

वैदिक भाषा और लौकिक संस्कृत में अत्यधिक समानता के आधार पर स्वीकार किया गया भाषागत तथ्य हमें किसी भी निश्चित परिणाम पर नही पहुंचाता। (4) यह तथ्य हमें इस बात की चेतावनी देता है कि हमें ज्योतिष और भूगर्भ विज्ञान की कल्पनाओं के आधार पर वेद की तिथि को अकल्पनीय काल में निर्धारित नहीं करना चाहिए। (5) बाह्य प्रमाणों के अभाव मे हमें वेद का काल-निर्णय करने के लिए भारतीय साहित्य के इतिहास में उपलब्ध होने वाले प्रमाणों को आधार बनाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस विषय मे सर्वाधिक सुनिश्चत तथ्य यह है कि पार्श्व, महावीर और बुद्ध सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को जो अपने विभिन्न पहलुओं में परिपूर्णता प्राप्त कर चुका था—अपने से पहले स्वीकार करते हैं। इस सीमा का हमें अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। यदि हम 1200 या 1500 ई० पूर्व वैदिक साहित्य के प्रारम्भ का काल स्वीकार करें तो हम इस सम्पूर्ण साहित्य के विकास की समुचित व्याख्या नही कर सकते। हमें संभवत: इस साहित्य के विकास का प्रारम्भ ई० से 3500 से 2500 वर्ष पूर्व और इसकी समाप्ति ई० से 750 या 500 वर्ष पूर्व माननी चाहिए। सबसे अधिक समझदारी की बात तो यह होगी कि हमें निश्चित तिथियों से दूर रहते हुए और दोनो प्रकार की अति से बचते हुए मध्य मार्ग को अपनाना चाहिए।

निष्कर्ष—ऊपर किए गए विवेचन से यह निष्कर्ष तो सहज ही निकाला जा सकता है कि वेद के अंतिम अर्थ, ऋग्वेद की ऋचाओं के रचनास्थल एव आर्यो के मूल स्थान और ऋग्वेद के आदि रचना काल के विषय मे कोई सर्वसम्मत मत उपस्थित नही किया जा सकता। ऋग्वेद तथा अन्य सहिताओं की भाषा और वर्ण्य विषय की विषमता इस बात के तो अवश्य ही द्योतक है कि इन संहिताओं के मंत्रों की रचना पृथक्-पृथक् काल में भिन्न-भिन्न उद्देश्य से हुई थी। मन्त्रों और ऋचाओं की रचना चाहे कभी भी हुई हो—संहिताओ का संकलन ब्राह्मणो के संकलन से तो निश्चय ही पहले हो चुका था और इन दोनो का संकलन भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में—जिसके साथ मनुस्मृतिवर्णित मध्यदेश भी संयुक्त था—हुआ था। कर्मकाण्ड प्रधान ब्राह्मणो की रचना के साथ ही साथ यज्ञों की प्रतीकात्मक और आध्यात्मिक व्याख्या का श्रीगणेश भी हो चुका था। न केवल ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग मे—जो आरण्यको के नाम से जाने जाते हैं—अपितु उनके मुख्य प्रतिपाद्य विषय मे भी ऐसी व्याख्याएं पर्याप्त मात्रा मे मिलती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ब्राह्मणो और आरण्यको की रचना समानान्तर काल में, पर पृथक्-पृथक् उद्देश्य से भिन्न-भिन्न स्थानों में—ग्राम मे और अरण्य मे—हुई। प्राचीन उपनिषदो की रचना के समय तक कर्मकाण्ड अपनी सत्ता खो चुका था और उसका स्थान ज्ञानकाण्ड ने ले लिया था। इस प्रकार आपेक्षिक कालक्रम की दृष्टि से सहिताओ, ब्राह्मणो, आरण्यको और उपनिषदो की क्रमिक काल-क्रमता देखी जा सकती है।

द्वितीय अध्याय

खण्ड-क

स्तुति-प्रार्थना (1)

ऋग्वेद-संहिता

निर्विवाद रूप से सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मे ऋग्वेद संहिता सबमे प्राचीनतम है जिसे सक्षेप मे ऋग्वेद के नाम से जाना जाता है। 'ऋग्वेद-संहिता' का शाब्दिक अर्थ 'ऋचाओ के ज्ञान का संग्रह' है। 'ऋग्वेद' इस समस्तपद के पूर्वपद में प्रयुक्त 'ऋक्' शब्द '√ऋच् स्तुतौ' धातु से निष्पन्न है। इस प्रकार 'ऋक्' या 'ऋचा' का अर्थ 'स्तुति' अथवा 'छन्द में निबद्ध स्तुतिमय रचना' होगा। इसलिए 'ऋग्वेद' का सामान्य अर्थ 'ऋचाओ या स्तुतियों का ज्ञान' हुआ।

चरणव्यूह के अनुसार, जो सूत्रकाल में एक परिशिष्ट के रूप में निबद्ध किया गया था, ऋग्वेद की पांच शाखाओं का उल्लेख मिलता है—(1) शाकल, (2) वाष्कल, (3) आश्वलायन, (4) शाङ्खायन और (5) माण्डूकेय। इनमें से आश्वलायन और शाङ्खायन शाखाओ में ऋग्वेद के मूल पाठ में कोई भेद नही है; शाकल शाखा से इनकी एकमात्र विशेषता यह है कि आश्वलायन शाखा के 8वे मण्डल मे 48वें सूक्त के पश्चात् प्राप्त होने वाले 11 वालखिल्य सूक्तो (80 मन्त्रों) को परिशिष्ट के रूप मे स्वीकार करती है और शाङ्खायन ने भी इन सूक्तो को इसी रूप मे स्वीकार किया है किन्तु उनमे से कुछ मन्त्र कम कर दिये हैं। इसलिए पुराणो की पश्चात्कालीन परम्परा में ऋग्वेद की तीन ही शाखाओं—शाकल, वाष्कल, माण्डूकेय—का वर्णन मिलता है। माण्डूकेय शाखा के अपने विशिष्ट पाठ थे—इसका वर्तमान में कोई प्रमाण नही मिलता। इस प्रकार विवेचन के लिए ऋग्वेद की दो ही शाखाएं अर्थात् शाकल और वाष्कल उपलब्ध हैं। पीछे की वैदिक परम्परा मे इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि वाष्कल शाखा का शाकल शाखा से भेद, 8 अतिरिक्त सूक्तों को स्वीकार करने और प्रथम मण्डल के कुछ सूक्तों को एक पृथक् वर्ग के रूप मे स्वीकार करने तक, सीमित है। परिणामतः हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद की शाकल शाखा का पाठ परम्परा की दृष्टि से सर्वशुद्ध रूप मे हमें उपलब्ध है।

ऋग्वेद संहिता का विभाजन दो स्थूल रूपो मे उपलब्ध होता है। प्रथम विभा-

जन के अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद 10 मण्डलों मे विभक्त है। ये मण्डल विभिन्न संख्या वाले सूक्तो में विभक्त हैं तथा ये सूक्त पृथक्-पृथक् मन्त्रो मे विभक्त है। ऋग्वेद के छोटे-से-छोटे सूक्त की मन्त्र सख्या एक और बड़े-से-बड़े सूक्त की मन्त्र संख्या 58 तक मिलती है। ऋग्वेद के प्रथम तथा दशम मण्डल मे सूक्तो की संख्या 191 है। शेष मण्डलों मे सबसे छोटा मण्डल द्वितीय है जिसकी सूक्त सख्या 43 है। शेष मण्डलों की सूक्त संख्या अनियमित है। दसों मण्डलो की कुल सूक्त-संख्या 1017 है और आठवें मण्डल के बालखिल्य सूक्तो को मिलाकर यह सख्या 1028 हो जाती है। ऋग्वेद के मन्त्रों का सर्वयोग 10552 है। ऋग्वेद का दूसरा विभाजन, अष्टक, अध्याय और वर्गो मे किया गया है। इसके अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद 8 अष्टकों मे विभाजित है और प्रत्येक अष्टक का विभाजन 8 अध्यायों मे किया गया है। इन अध्यायों का विभाजन वर्गों मे है। वर्ग सख्या की दृष्टि से षष्ठाष्टक सबसे बड़ा है जिसमे वर्गो की संख्या 313 है। सबसे छोटे द्वितीय अष्टक की वर्ग संख्या 221 है। सूक्तों की संख्या की दृष्टि से अष्टको की संख्या मे बहुत अधिक भेद नही है। सबसे कम सूक्तो की सख्या सप्तम अष्टक मे 116 और सबसे अधिक सूक्तों की संख्या अष्टम अष्टक मे 146 है। प्रत्येक मण्डल का अनुवाकों में भी विभाजन किया गया था किन्तु इनमे संगृहीत सूक्तों और मन्त्रो की सख्या पृथक्-पृथक् हैं। कुछ अनुवाक केवल मात्र तीन सूक्तो के और बड़े-बडे अनुवाक 15-16 सूक्तों के हैं।

ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ मे ऋषि, देवता और छन्द विषयक सूचना दी हुई होती है। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 164वें सूक्त के प्रारम्भ में सूक्त के ऋषि, देवता और छन्द के विषय मे निम्नांकित सूचना मिलती है—52-दीर्घतमा औचथ्यः, 91-41 विश्वेदेवाः; 42 आद्यर्धर्चस्य वाक्, द्वितीयस्य आपः; 43 आद्यर्धर्चस्य शकधूमः, द्वितीयस्य सोम; 44 केशिनः (अग्निः सूर्यो वायुश्च); 45 वाक्; 46-47 सूर्य, 48 संवत्सरकालचक्रम्; 49 सरस्वती; 50 साध्यः; 51 सूर्यः, पर्जन्याग्नयो वा; 52 सरस्वान् सूर्यो वा। त्रिष्टुप्; 12, 15, 23, 29, 36, 41 जगती; 42 प्रस्तारपंक्तिः; 51 अनुष्टुप्। इस सूचना के अनुसार सूक्त की कुल मन्त्र संख्या 52 है जिनका दर्शन करने वाले ऋषि का नाम दीर्घतमा औचथ्य है। प्रथम मंत्र से 41वें मन्त्र तक के विश्वेदेवाः देवता हैं। 42वें मन्त्र की प्रथमार्ध की देवता वाक् है और द्वितीयार्ध के आपः हैं; 43वें मन्त्र के प्रथमार्ध के देवता शकधूम और द्वितीयार्ध के देवता सोम है; 44वें मन्त्र के देवता केशिनः (अग्नि, सूर्य, वायु) हैं, 45वीं ऋचा की देवता 'वाक्'; 46 और 47वें के देवता सूर्य; 48वें के संवत्सरकालचक्रम्; 49वें के देवता सरस्वती; 50वें के साध्याः; 51वें का सूर्य अथवा पर्जन्य व अग्नि; 52वें मन्त्र का देवता सरस्वान् अथवा सूर्य है। इस सूक्त के 12, 15, 23, 29, 36

और 41, 42, 51 मन्त्रों को छोड़कर शेष मन्त्रो का छन्द त्रिष्टुप् है; 12, 15, 23, 29, 36 और 41 जगती छन्द मे है, 42वे का छन्द प्रस्तारपंक्ति है। 51वां मन्त्र अनुष्टुप् छन्द मे निबद्ध है। इस प्रकार ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ मे दी हुई ऋषि, देवता और छन्दो की सूची सर्वानुक्रमणिका मे दी हुई है।

मण्डलो मे विभाजित ऋग्वेद मे संगृहीत सूक्तो के ऋषिओ के अनुसार द्वितीय से सप्तम मण्डल तक ऋग्वेद का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इन्हे हम वश-मण्डल भी कह सकते है क्योकि अधिकाशत: इन मण्डलो मे सगृहीत सूक्तो के ऋषि एक ही वंश या कुल के थे। इनके ऋषि क्रमश: गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ है। इनके वंशज ऋषियो को भारतीय परम्परा मन्त्रो के 'कर्ता' नही 'द्रष्टा' मानते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण वेद ईश्वर द्वारा चार ऋषियो को प्रकाशित किये गये। इस परम्परा के अनुसार ऋग्वेद आदि चारो वेदो का प्रकाश क्रमश: अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ऋषियो के हृदय में हुआ था[1]। तत्पश्चात् सूक्तो के साथ निर्दिष्ट नाम वाले ऋषियो ने उनमे वर्णित ज्ञान का 'दर्शन' किया इसलिए "ऋषियो मन्त्रद्रष्टार.' ऐसा कहा जाता है। आधुनिक विद्वान् इन ऋषियो को मन्त्र का रचयिता मानते है। इन ऋषियो मे कई स्त्री ऋषिकाओ के नाम यथा—रोमशा,ब्रह्मवादिनी, लोपामुद्रा, विश्ववारात्रेयी, अपाला आत्रेयी—आदि मिलते है। अनुक्रमणिकाओ मे दिये गये इन ऋषियो के नाम व्यक्ति विशेष के न होकर वंश के नाम ही परिचायक है क्योकि इनमे से बहुत से ऋषि विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि ब्राह्मणो, पुराणो, राम-यण और महाभारत तक मे वर्णित है। स्वय ऋग्वेद मे यह वर्णित है कि उस समय तक इन ऋषिवशो की अनेक पीढ़िया व्यतीत हो चुकी थी—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवा एह वक्षति[2]।

आठवे मण्डल मे वर्णित सूक्तो मे एक पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है जो अन्य वंश मण्डलो की अपेक्षा किसी दृष्टि से कम नही है। उनमे से कुछ सूक्तो के मन्त्रो की अन्तिम पंक्ति बार-बार दोहराई गई है। उदाहरणार्थ—'नभन्तामन्यके समे' 39, 40 और 41वे सूक्तों के मन्त्रो के अन्तिम चरण के रूप मे विद्यमान है। इसी प्रकार की पंक्तियो के उदाहरण 'विश्वेह देवौ सवनाव गच्छतम्', 'सोम' सुतं महिषेवाव गच्छथ:'; 'प्रजां च धत्त द्रविणं च धत्तम्'; 'मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम', हतं रक्षासि सेधतममी'वा:', आदित्यैर्यातमश्विना';'शचीपत इंद्र विश्वाभिरूतिभि:' आदि हैं। तथापि इस कारण हम इन सूक्तों को एक ही वंश के ऋषियो द्वारा निर्मित नही कह सकते है। यह सत्य है कि आठवे मण्डल मे कण्व वंशियो के सूक्तो की सख्या पर्याप्त है पर उनके साथ आङ्गिरस, आत्रेय और भार्गव तथा कुछ अन्य ऋषि वशों के सूक्त भी संगृहीत हैं। इस मण्डल के कण्व वंशीय सूक्तों

के साथ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 50 सूक्तों में से 28 के साथ एकवंशता प्रतीत होती है क्योंकि इनके ऋषि काण्व हैं। इनमें छन्द और भाव की दृष्टि से कुछ चरण दोहराये भी गए हैं और बहुत से चरण एक जैसे ही हैं। इतना सब होने पर भी इस समय यह निर्णय कर सकना कठिन है कि इन दोनों में से कौन-सा अंश पूर्ववर्ती है और इन्हें क्यों पृथक् करके संगृहीत किया गया है। यह निश्चित प्रतीत होता है कि इन सूक्तों को पूर्वतः संगृहीत वंश मण्डलों के प्रारम्भ और अन्त में जोड़ा गया था।

नवें मण्डल में नाना ऋषियों के सूक्तों का संग्रह है परन्तु उन सबका विषय सोम है। यह सोमरस जहां एक ओर पेय के रूप में वर्णित है वहां एक वनस्पति, चन्द्रमा और एक पूर्ण विकसित देवता के रूप में भी वर्णित है। इस मण्डल में सोम के लिए 'इन्दु' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। ये दोनों ही शब्द बाद के भारतीय साहित्य में चन्द्रमा के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद का यह सोम जिसकी तुलना देवताओं के पेय अमृत के साथ की गई है प्राचीन अवेस्ता में 'हओम' के नाम से जाना जाता था। ऋग्वेद के नवीनतम मन्त्रों का संग्रह प्रथम व दशम मण्डल में किया गया है। इनके ऋषि भी पृथक्-पृथक् हैं और देवता भी पृथक्-पृथक् हैं। दोनों मण्डलों में एक ही दृष्टि में आ जाने वाली समानता उनकी सूक्त संख्या 191 है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रथम मण्डल में संगृहीत सारे ही सूक्त नवीन नहीं हैं, यहां तक कि उसके कुछ सूक्त तो भाषा की दृष्टि से ऋग्वेद की प्राचीनतम भाषा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

ऋग्वेद के अन्त में हमें परिशिष्ट के रूप में 36 खिल[3]सूक्त मिलते हैं। इनमें वर्णित कुछ विषय तो पौराणिक गाथाओं और वर्णनों की याद दिलाते हैं[4]। उदाहरणार्थ—(1) 'मत डर तू मरेगा नहीं मैं तेरी चारों ओर से रक्षा कर रहा हूं। आए हुए बिच्छू को घन से और साप को डण्डे से मारता हूं' (2) 'आदित्य के रथ के वेग से और विष्णु के बाहुबल के साथ और गरुड़ के पखों की गति से हे महान् यश वाले तू भूमिगत हो जा'। (3) 'गरुड़ के गिरने (उतरने) मात्र से तीनों लोक कांप गये और पर्वत वन तथा कानन सहित सारी पृथ्वी कांप गई'। (4)'छिप गये हैं चन्द्र और सूर्य जिसमें ऐसा प्रकाशयुक्त आकाश (अब) प्रकाशित नहीं हो रहा है। सब देवता भयभीत हैं और हवा भी गति नहीं कर रही हैं'। (5) 'हे भद्र सर्प! तेरा कल्याण हो। हे महाविष तू दूर चला जा। जन्मेजय के यज्ञ के अन्त में (कहे गए) आस्तीक के वचन को स्मरण कर'। (6) 'आस्तीक के वचन को सुनकर जो सांप लौट नहीं जाता वह शिंश वृक्ष के फल के समान सिर पर सौ भागों में विदीर्ण हो जाता है।' (7) 'प्रातःकाल नर्मदा के लिए नमस्कार है। रात्रि में नर्मदा के लिए नमस्कार है। हे नर्मदे! तुझे नमस्कार हो; (हे नर्मदे) विष वाले सांप से मेरी रक्षा कर' इसी प्रकार श्री सूक्त के नाम से दिया 11वां खिलसूक्त है जिसकी मन्त्र

संख्या 29 है।

मन्त्रों का जो पाठ स्वराङ्कन सहित हमे उपलब्ध होता है उसे संहिता पाठ कहा जाता है। संहिता नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ भी दो प्रकार के हैं।[5] एक प्रकार के ग्रन्थ वे हैं जिनमे केवल मन्त्र मात्र हैं; उदाहरणार्थ—ऋग्वेद संहिता, शुक्ल यजुर्वेदीय वाजसनेयि माध्यन्दिन संहिता आदि। दूसरे प्रकार के सहिता ग्रन्थ वे हैं जिनमे मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग दोनो साथ-साथ मिश्रित रूप मे मिलते हैं यथा—कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणीय सहिता आदि। सहिता के निर्भुज और प्रतृण ये दो भेद होते हैं। निर्भुज शब्द संहिता का वाचक है परन्तु प्रतृण शब्द पद संहिता का वाचक है। मैक्डानल[6] आदि पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि जिस रूप मे संहिता पाठ हमे अब उपलब्ध है वह बाद मे जाकर निर्धारित किया गया था। ब्राह्मण ग्रन्थो मे हमे कुछ ऐसी निश्चित सूचनाए मिलती हैं जिनके अनुसार एक शब्द या शब्द-समूह मे वर्णों की निश्चित संख्या का उल्लेख है। उपलब्ध सहिता पाठ के साथ यह संख्या मेल नही खाती जिसका कारण सन्धि के परिणामस्वरूप दो स्वरध्वनियों मे हो जाने वाले संकोच हैं। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि संहिता पाठ को अन्तिम रूप ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हो जाने के पश्चात् दिया गया होगा। इस सहिता पाठ को सुरक्षित रखने के लिए 8 प्रकार की विकृत्तियो का प्रयोग किया जाता था। ये विकृत्तिया क्रमशः जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन थी। ये सभी क्रमपाठ या प्रतृण के आधार पर निर्दिष्ट की जाती हैं। इनमे जटा और दण्ड प्रधान है। जटा के अनुसार शिखा-पाठ होता है और दण्ड के अनुसार माला, रेखा, ध्वज और रथ पाठ होता है। घन-पाठ, जटा और दण्ड दोनो का अनुसरण करता है[7]। इनके अतिरिक्त सामान्यतया पदपाठ और क्रमपाठ आदि द्वारा मन्त्र मे प्रयुक्त प्रत्येक पद का स्वतन्त्र रूप जाना जा सकता था। उदाहरणार्थ—निम्नाकित सहिता मन्त्र का पदपाठ और क्रमपाठ इस प्रकार लिखा जायेगा—

ओषधय संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन्पारयामसि॥ (ऋ० 10.17.22)

पदपाठ

ओषधयः। सं। वदन्ते। सोमेन। सह। राज्ञा।
1 2 3 4 5 6
यस्मै। कृणोति। ब्राह्मणः। तं। राजन्। पारयामसि॥
7 8 9 10 11 12

क्रमपाठ

ओषधयः स। सं वदंते। वदते सोमेन। सोमेन सह।
1 2 2 3 3 4 4 5

बृहद् राजा । राजेति राजा ॥
5 6 6 6
मन्त्रं कृणोति । कृणोति ब्राह्मणः । ब्राह्मणस्त्वं । त्वं राजन् ।
7 8 8 9 9 10 10 11
राजन् पारयामसि । पारयामसीति पारयामसि ।
11 12 12 12

ऋग्वेद की शाकल संहिता का पद पाठ शाकल्य द्वारा तैयार किया गया था। यह कार्य संहिता पाठ के निर्धारित होने के पश्चात् शीघ्र ही सम्पन्न हुआ होगा। संहिता पाठ और पदपाठ की रचना के समकालिक न होने में यह भी एक प्रमाण है कि शाकल्य के पदपाठ में निस्सन्देह भ्रान्तियाँ विद्यमान हैं जिनकी ओर यास्क ने अपने निरुक्त में इङ्गित किया है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में 18 मन्त्र ऐसे हैं जिनका शाकल्य ने पदपाठ नहीं दिया है। ऋ० 7.59 सूक्त मरुद्देवता का है और 12वाँ मन्त्र 'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्' मरुतों के साथ रुद्र की भिन्नता के कारण पीछे से जोड़ा गया है। मैकडानल की सम्मति में इसका कारण यही होगा कि शाकल्य इन मन्त्रों को ऋग्वेद के मूलमन्त्र न मानता होगा।

ऋग्वेद की भाषा के साथ जो विशेषता से ध्यान देने योग्य विषय वैदिक छन्दो-विधान है। ये छन्द लौकिक संस्कृत साहित्य के पद्यों से अत्यन्त भिन्न हैं। इन वैदिक छन्दों का लौकिक छन्दों में कोई समकक्ष रूप नहीं मिलता। साथ ही साथ लौकिक भाषा में प्रयुक्त होने वाले कुछ छन्द ऐसे भी हैं जिनका वैदिक भाषा में कोई प्रारूप नहीं मिलता। कुछ ऐसे भी वैदिक छन्द हैं जो बाद के साहित्य में पुनः प्रयुक्त हुए हैं। इस अवस्था में इन छन्दों की लय का प्रयोग अधिक कठोरता के साथ हुआ है। सामान्यतया प्राचीन वैदिक छन्दों के चरणों में वर्णों की मात्रा तो निर्धारित थी किन्तु वर्णों की गुरु, लघुता उतनी कठोरता से निर्धारित नहीं थी। वैदिक छन्द 8, 11 या 12 वर्णों वाले चरणों के होते हैं; 13 वर्णों वाले चरणों के छन्दों की संख्या अत्यन्त सीमित है। इन पंक्तियों को पाद कहा जाता था और प्राचीन छन्दों की ये इकाईयाँ थीं। इन पादों के अन्तिम चार या पाँच वर्ण लय की दृष्टि से निर्धारित थे। पुनरपि अन्तिम वर्ण गुरु या लघु हो सकता था। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ऋग्वेद में प्रयुक्त चार चरण वाले अनुष्टुप् छन्द की एक पाद में से 5, 6 और 7 वर्ण की गुरु लघुता ही निर्धारित थी। इस प्रकार के तीन चरण वाले छन्द का नाम गायत्री था। ऋग्वेद में अनुष्टुप् की अपेक्षा गायत्री छन्द अधिक लोकप्रिय था। यह संहिता पाठ में प्रथम दो चरणों को मिलाकर एक पंक्ति के रूप में लिखा जाता था। तृतीय चरण द्वितीय पंक्ति के रूप में पृथक्तया लिखा जाता था। उदाहरणार्थ गायत्री छन्द में निबद्ध ऋग्वेद 1.1.1 के तीन

चरण इस प्रकार है—अग्निमीळे पुरोहितम् । यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्न धातमम् । इसका सहिता पाठ प्रथम दो चरणो को जोड़कर एक पंक्ति के रूप मे इस प्रकार लिखा जाएगा—अग्निमी'ळे पुरोहिंतं यज्ञस्य देवामृत्विजम् । होतार रत्नधातमम् । पाच चरणो वाले पंक्ति और महापक्ति छन्द जिनमे क्रमशः आठ वर्णो वाली 5 और 6 पक्तिया होती थी सख्या मे बहुत कम प्रयुक्त हुए है। 11 वर्णों वाले त्रिष्टुप् छन्द के एक चरण मे चार या पाच वर्णो के पश्चात् यति होती थी और अन्तिम चार वर्ण अर्थात् 8, 9, 10, 11वा ह्रस्व, दीर्घ, ह्रस्व, दीर्घ रूप मे नियत थे। 11वे वर्ण की ह्रस्वता तथा दीर्घता ऐच्छिक थी। ऐसी ही क्रमबद्धता जगती छन्द के चरण मे विद्यमान थी। इसके भी प्रथम चार या पाच वर्णों के पश्चात् यति होती थी तथा अन्तिम पाच वर्ण गुरु, लघु के क्रम से निर्धारित थे। निम्न उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

अस्य वामस्यं पलितस्य होतुंस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृंष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्वपतिं सुप्तपुंत्रम् ॥
(ऋ० 1. 164. 1)

0000 ‖ 000—U—U
00000 ‖ 00—U—U

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सुप्तचंक्रे षळर आहुरर्पितम् ॥
(ऋ० 1. 164. 12)

0000 ‖ 000—U—U—U
00000 ‖ 00—U—U—U

कुछ छन्दो मे पृथक्-पृथक् वर्णो वाले चरणों का प्रयोग होता था और इस प्रकार के मिश्रित छन्द नए नामो से अभिहित किए गए हैं। उष्णिक् और बृहती छन्द इस प्रकार के छन्दो के उदाहरण हैं जिनके पादो मे 8 या 12 वर्ण होते थे। ऋग्वेद मे कुल मिलाकर 20 प्रकार के छन्द गिनाए गए हैं। इनमे से मुख्य के नाम इस प्रकार हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, शक्वरी, अष्टि आदि।

ऋग्वेद का संहिता पाठ अन्य सहिताओ तथा शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण के समान स्वराङ्कित रूप मे उपलब्ध होता है। वेद को धार्मिक पवित्रता की कोटि प्राप्त हो जाने के बाद यह आवश्यक था कि उसका उच्चारण शुद्ध रूप मे किया जाए। इसके लिए सस्वर पाठ का ज्ञान अभीष्ट था। वैदिक स्वर सगीतात्मक था और सामान्यतया एक पद मे एक ही वर्ण उदात्त स्वर से उच्चरित होता था। शेष वर्ण अनुदात्त होते थे और उदात्त के पश्चात् आने वाले प्रथम अनुदात्त पर स्वरित का चिह्न (।) दिया जाता था। उदात्त से पूर्ववर्ती अनुदात्त को एक अधोरेखा (—) से

चिह्नित किया जाता था। यथा—स्वधर्या। स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्त वर्णों के नीचे अधोरेखा तब तक चिह्नित नही की जाती थी जब तक कि उस अनुदात्त वर्ण के तुरन्त बाद मे कोई उदात्त वर्ण न आता हो। ऋग्वेद मे उदात्त ध्वनि पर किसी प्रकार का चिह्न निर्देश नही किया जाता था। यद्यपि पाणिनि के समय तक वैदिक भाषा की संगीतात्मक स्वरात्मकता भाषा मे भी विद्यमान थी पर शनैः-शनैः आगे चलकर इसका लोप हो गया। लौकिक संस्कृत साहित्य की समकालीन बोलचाल की भाषाओं में सस्वरोच्चारण का कोई चिह्न नही रहा था।

ऋग्वेद के बाह्य रूप की इस संक्षिप्त समीक्षा के बाद अब इसकी विषय-वस्तु का विवेचन आवश्यक है। इसे हम दो मुख्य भागो मे विभाजित कर सकते हैं। प्रथम के अन्तर्गत ऋग्वेद के देवताओं का विवेचन किया जाएगा और दूसरे मे शेष अन्य विषय। देवता विषयक विचार आरम्भ करते हुए यह जानना आवश्यक है कि इनका ऋग्वेद से क्या सम्बन्ध है ? जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है कि ऋग्वेद से तात्पर्य 'स्तुतियो के वेद' से है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऋग्वेद में वर्णित यह स्तुतिया कितनी हैं ? ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के आरम्भ में दी गई सूचना के अनुसार उनमें एक या एकाधिक विषयो का वर्णन मिलता है। स्थूल रूप मे इसी वर्ण्य विषय को सूक्त या मन्त्र का देवता कहा जाता है। अनु-क्रमणिकाओ के अनुसार इन देवताओं की संख्या लगभग 200 है। इनमें से कुछ नाम एक-दूसरे के पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। यथा—'वात' और 'वायु,' 'सविता' और 'सूर्य' आदि। तथापि यह यहां ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद मे इन देवताओं को साथ-साथ स्वतन्त्र देवता के रूप मे भी वर्णित किया गया है। यदि इन देवताओ का स्थूल वर्गीकरण किया जाए तो हम इन्हे मुख्य रूप से 11 वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं : (1) प्राकृतिक शक्तियां—अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य, आप· आदि (2) प्रकृति के रूप—पृथिवी, नदी आदि, (3) मनुष्य—विश्वामित्र, यम, चित्र, अत्रि आदि (4) पशु—अश्व, गौ आदि, (5) पक्षी—सुपर्ण, श्येन आदि, (6) कृषि—कृषि, सीता, क्षेत्रपति आदि, (7) युद्ध सामग्री—रथ, दुन्दिभि, वर्म, धनु, ज्या आदि, (8) यज्ञ का पात्र—यूप, उलूखल, ग्रावन् आदि, (9) अमूर्त-भाव—मन, ज्ञान, मन्यु, दक्षिणा, श्रद्धा आदि, (10) जडपदार्थ—अक्ष, अन्न आदि, (11) देव और दैवी शक्तिया—इन्द्र, वरुण, पूषा, विष्णु, अश्विनौ, माया-भेद, देवपत्नी आदि। स्पष्ट ही इनमे से मनुष्य, पशु, पक्षी, जडपदार्थ, यज्ञ-पात्र, युद्ध सामग्री आदि को हम उस रूप मे देवता स्वीकार नही करते जिस अर्थ में देवता शब्द का वर्तमान में प्रयोग होता है।

ऋग्वेद के प्रधान देवताओं पर स्वतन्त्र रूप मे पृथक्-पृथक् विचार करने से पूर्व हमे उनके सामान्य स्वरूप और वर्गीकरण के विषय मे कुछ अधिक विस्तार से यहां विचार करना चाहिए। सामान्यतः वेदो की देवता विषयक धारणा की दो

प्रमुख विशेषताएं कही जा सकती हैं। प्रथम तो उनमे से प्रत्येक के स्वरूप की रूप-रेखा का पूरा-पूरा निर्धारण नही किया जा सकता और द्वितीय उन पर आरोपित व्यक्तित्व का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जड़-चेतन, मूर्त-अमूर्त, प्रकृति आदि को मानवीकृत रूप मे उपस्थित करने के बाद उनका एक सामान्य रूप हमारे सामने उभरकर आता है कि वे सभी देव मानवाकृति रूप मे हमारे सामने उपस्थित होते हैं। उनका उज्ज्वल वर्ण स्वर्णमय है, उन्होने स्वर्ण के आभूषण धारण किये हुए होते है, वे स्वर्णिम रथ पर बैठकर हमारे सामने आते हैं, वे शक्तिशाली है और नाना ऐश्वर्यों के स्वामी है, अपनी स्तुति करने वाले गायक को वे उसकी इच्छानुरूप ऐश्वर्य प्रदान करते है। इनमे से बहुत से देवताओ के वर्ग भी एक जैसे वर्णित किए गए हैं—जैसे सूर्य, उषस् और अग्नि, तीनो ही ज्योतिषमान् हैं, तीनो ही अन्धकार को दूर हटाते है और तीनो का आविर्भाव प्रातःकाल के समय होता है। इस प्रकार इन देवताओ का परस्पर पार्थक्य और भी कम दृष्टिगोचर होता है जब विभिन्न देवता एक ही प्राकृतिक दृश्य या घटना के नानाविध पक्षो से सम्बद्ध बताये जाते हैं। परिणामतः उनकी सामान्य विशेषताएं जैसे प्रकाश-मत्ता, शक्तिमत्ता, वदान्यता और प्रज्ञाशालिता एक ही रूप मे वर्णित रहती है। यास्क के अनुसार देवो का दृश्य रूप एकान्तत मानवीय नही है—'अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्। अपि तु यद्दृश्यतेऽपुरुषविध तत्। यथाऽग्निर्वायुरादित्य. पृथिवी चन्द्रमा इति।[10]। कुछ इस प्रकार की सामान्य विशेषताएं हैं जो छोटे और बड़े सभी देवताओ मे एक समान रूप से वर्णित की गई हैं। उदाहरण के लिए स्वर्ग और पृथिवी को स्थिर रखने का कार्य जैसे इन्द्र आदि देवताओ का बताया गया है उसी प्रकार वह दर्भ या कुशा के साथ भी जोड़ा गया है। यथा—जो पैदा होते हुए पृथिवी को दृढ रखता है और जिसने द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक को धारण किया हुआ है तथा धारण करने वाले जिस दर्भ को पापी नही जानता है वह यह दर्भ हमारा अधिवक्ता और रक्षक हो।[11] लगभग एक दर्जन देवताओ को दोनो लोको की सृष्टि करने वाला बताया गया है। इससे भी अधिक सख्या वाले बहुत से देवता सूर्य को उत्पन्न करके उसे आकाश मे स्थिर रखते है और उसके लिए द्युलोक मे भ्रमण का मार्ग तैयार करते है। इसी प्रकार अग्नि, इन्द्र, पर्जन्य, पूषन्, सविता और सूर्य आदि अनेक देवता चर, अचर के स्वामी बताये गये है।

अधिकाश देवताओ मे इस प्रकार के सामान्य गुण-वर्णन ने उनके व्यक्तिगत विशिष्ट गुणो को अस्पष्ट बना दिया है। अधिकांश स्तुति सूक्तो मे देवताओ के इन्ही सामान्य गुणो को विशष महत्त्व के साथ वर्णित किया गया है। इसलिए प्रकृति के नानाविधि रूपो और पक्षो से सम्बद्ध होने पर भी जब उन देवताओ के सामान्य गुण एक जैसे हैं तो ये सभी देवता एक दूसरे के समीप दृष्टिगोचर होते हैं। अग्नि जो अपने प्रधान रूप मे पृथिवी स्थानीय है अपने प्रकाश से अन्धकार के

दैत्य को नष्ट करता है तो अन्तरिक्ष स्थानीय इन्द्र अपनी शक्ति विद्युत् द्वारा वृत्र रूपी दैत्य का नाश करता है। इस प्रकार अग्नि देव सम्बन्धी कल्पना में अन्तरिक्षस्थ विद्युत् अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है। देवताओं के इस एकीकरण की प्रक्रिया में उन्हें कभी-कभी युग्म रूप मे वर्णित किया जाता है। इस प्रकार दोनों का साहचर्य स्थापित हो जाने पर एकाकी वर्णन में भी दूसरे सहचारी के गुण उसमे निक्षिप्त रहते हैं। उदाहरणार्थ इन्द्र के साथ वर्णित होने वाले अग्नि में इन्द्र के सोमपान, वृत्र की हत्या, गौ, जल और सूर्य का विजेतृत्व आदि गुणों को आरोपित कर दिया गया है।

प्रत्येक वैदिक देवता में सामान्य रूप से इन सब गुणो के मिल जाने के कारण रूपरेखा की अनिश्चितता उत्पन्न हो गई और इस प्रकार सभी देवताओं को सभी शक्तियों से सम्पन्न कहकर उनका वर्णन किया गया। साथ ही विशिष्ट गुणों के निराकृत हो जाने से देवताओं में तद्रूपता की स्थापना दृढ होती चली गयी। इस प्रवृत्ति का निदर्शक ऋग्वेद का निम्न मन्त्र है—त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः। त्वे विश्वे सहसस्पुत्रदेवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय[12] अर्थात् 'हे अग्नि! जन्म से तुम वरुण हो, प्रदीप्त हो जाने पर तुम मित्र हो, हे शक्ति के पुत्र! तुझ मे सभी देवता केन्द्रित हैं, तू हवि प्रदान करने वाले यजमान के लिए इन्द्र है। पुरोहितो की दृष्टि में अग्नि अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता है क्योंकि पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में वह क्रमश. व्यक्तिगत अग्नि, वैद्युत् अग्नि और सूर्य मे प्रवर्तमान अग्नि के रूप में दृष्टिगोचर होता था। याज्ञिकप्रक्रिया के अपने पूर्ण रूप मे विकसित होने तक अग्नि नाना रूप से यथा—निर्मथ्याग्निः, आह्वनीयाग्निः, समिद्धोऽग्निः, द्रविणोदाग्निः, वैश्वानरोऽग्निः, शुचिराग्निः, जातवेदोऽग्निः आदि रूप में स्तुत है। अग्नि के माहात्म्य का एक कारण और भी था कि वह देवताओं तक उनका हविर्भाग पहुंचाता था। एक ही देवता को नाना रूप मे देखने का यह स्वाभाविक परिणाम था कि विभिन्न देवता एक ही दिव्य सत्ता के विविध रूप हैं। ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र मे यह एकरूपता स्पष्टतः वर्णित है—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहुः'[13] इसी प्रकार का भाव ऋग्वेद के इस मन्त्र मे भी विद्यमान है—सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।[14] स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वर्तमान रूप मे सकलित होने तक प्रारम्भ में दृष्टिगोचर होने वाला बहुदेववाद एकैकाधिदेववाद की प्रक्रिया मे से निकलता हुआ एकेश्वरवाद में परिणत हो रहा था। निश्चय ही ऋग्वेद में सर्वदेववाद का आरम्भिक रूप मिलता है क्योंकि 'देवता' सभी देवताओं का ही मूल नहीं था अपितु सम्पूर्ण प्रकृति का प्रतिनिधि था। उस देव में सब देवताओं के साथ मानव, सब भूत और भविष्य पदार्थ, अन्तरिक्ष लोक, द्युलोक और स्वर्गलोक भी समाहित

थे। ऋग्वेद मे मिलने वाले अदिति और प्रजापति के वर्णन इस बात के साक्षी है—

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥
प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव ।
यत् का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥[15]

ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों मे देवता का आह्वान उसके प्राकृतिक रूप मे किया गया है। शनैः-शनैः उसमे देवत्व का आधान करके उसे सर्वशक्तिशाली और सर्वोच्च देवता का रूप प्रदान किया गया। अभी हम आगे चलकर देखेंगे कि किस प्रकार एक ही देवता पृथक्-पृथक् स्थान पर इन नाना रूपो मे वर्णित है। इसलिए कभी-कभी विभिन्न देवताओ की शक्ति एक-दूसरे से कम और अधिक रूप मे वर्णित है। इन्द्र की महिमा गान के समय सूर्य और वरुण इन्द्र के अधीन कहे गये हैं।[16] वरुण और अश्विनौ विष्णु के आगे नतमस्तक रहते हैं।[17] इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा और रुद्र, सविता देव के नियमो का उल्लंघन नही कर सकते।[18] ऋग्वेद मे देवताओ का आह्वान एकाकी रूप मे, युगल रूप मे, त्रयी में और कभी-कभी सामूहिक रूप मे किया गया है। विश्वेदेवा सूक्तो मे—-जिनकी संख्या ऋग्वेद मे पर्याप्त है—सभी देवताओं को जिनमे छोटे देवता भी सम्मिलित हैं—एक साथ आहूत किया गया है।

ऋग्वेद के देवताओं के विषय मे एक अन्य तथ्य ध्यान देने योग्य यह है कि उनका वर्णन कभी-कभी स्वर्ग और पृथिवी के अपत्यो के रूप मे किया गया है और कभी-कभी दूसरे देवताओ के अपत्य के रूप मे भी किया गया है। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि देवताओ की अनेक पीढियो और 'पूर्वे देवाः' का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे विद्यमान है। ऋग्वेद के 10.72.2-3 मे देवों के पूर्व्य युग और प्रथम युग की बात कही गयी है।[19]

यह पहले कहा जा चुका है कि प्राकृतिक शक्तियो का मानवीकरण करके उन्हे देवता के रूप मे वर्णित किया गया है। उनका शारीरिक ढांचा यद्यपि मानवीय है किन्तु उनका यह रूप कुछ-कुछ छायात्मक-सा है। प्रायः यह पता चल जाता है कि शारीरिक अवयव उनके प्राकृतिक आधार के पक्ष विशेष के प्रतिरूप हैं। उदाहरणार्थ उनके सिर, मुख, कपोल, आँखे, बाल, कन्धे, वक्षस्, उदर, भुजाएं, अङ्गुलियो का वर्णन उपलब्ध है। इन्द्र और मरुद्गण जैसे देवताओ के सिर, वक्षस्, हाथ और बांहो का उल्लेख हुआ है। इन्द्र तो अनेक स्थानों पर वज्रबाहु और वज्रहस्त के रूप मे वर्णित हैं। सूर्य की भुजाएं उसकी किरणे हैं, उसके नेत्र तो उसका भौतिक रूप है। अग्नि की जिह्वा और उसके अवयव उसकी लपटो के प्रतिनिधि हैं। इन्द्र के उदर का वर्णन उसके अत्यधिक सोमपान को दर्शाने के लिए किया गया है।

कुछ देवताओं को वस्त्रों से अलंकृत रूप में वर्णित किया गया है। उषा के वर्णन में उसके चमकीले वस्त्र पहनने की बात बार-बार कही गयी है। युद्धालु देवता शरीर पर कवच और सिर पर शिरस्त्राण पहने हुए हैं ऐसा वर्णन मिलता है। ऊपर जैसे इन्द्र के हाथ में वज्र होने का वर्णन किया गया है उसी प्रकार कुछ अन्य देवताओं के लिए भालों, कुल्हाड़ियों और धनुषबाण तक का उल्लेख मिलता है। सभी देवता अपने-अपने रथ में बैठकर यात्रा करते हैं और उन सभी के रथ ज्योतिर्मय हैं। सामान्यतया सभी के रथ में घोड़े जोते जाते हैं पर पूषा के रथ को खींचने वाले बकरे हैं। मरुद्गण के रथ को चितकबरे हरिण और घोड़े, पूषा के रथ को गाय और घोड़े और अश्विनी के रथ में रासभों के भी होने का वर्णन आया है।

ये सभी देव यज्ञों में अपने-अपने रथों में बैठकर आते थे। इन सबको सोमपान अभीष्ट था। इनके प्रिय भोजन में अन्न और मांस दोनों ही सम्मिलित हैं। देवताओं के निवास के विषय में नानाविध वर्णन है। कभी उन्हें स्वर्ग में, कभी तृतीय स्वर्ग में और कभी विष्णु के परम पद में निवास करता हुआ बताया गया है। वहां सामान्यतया ये देवगण सोमपान में मस्त होकर आनन्द का जीवन व्यतीत करते हैं।

ऋग्वेद में वर्णित देवताओं का चरित्र नैतिक है। सामान्यतया सभी देवता सच्चे हैं और धोखे से दूर हैं। प्रायः सभी देवता सच्चाई के मित्र और संरक्षक हैं। दुष्ट कर्म करने वालों को उनके क्रोध का शिकार बनना पड़ता है। देवताओं में सबसे बढ़कर नैतिकता का पालन करने वाले, अपराधियो और पापियों को दण्ड देने वाले देवता वरुण और आदित्यगण हैं। वरुण विषयक स्तुतियों का मुख्य प्रयोजन ही पाप से छुटकारा प्राप्त करना है। नैतिकता का उच्च मापदण्ड वैदिक साहित्य की सभ्यता की प्राचीनता की ओर संकेत करता है पर यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि वैदिक देवताओं के गुणो में शक्तिमत्ता का सबसे अधिक महत्त्व है।

ऋग्वेद के देवताओं की संख्या नाना स्थानों पर कभी तैंतीस और कभी-कभी तीन हजार तीन सौ उनतालीस तक पहुंच गयी है।[20] परन्तु अधिकांश में यह संख्या 33 के रूप में रहती है। इन्हें द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्षवासी माना गया है। ऋग्वेद के तीन विभागों का अनुसरण करके यास्क ने भी विभिन्न देवताओं को पृथिवीस्थानी, अन्तरिक्षस्थानी और मध्यमस्थानी माना है। ऋग्वेद के एक मन्त्र[21] को आधार मानकर यास्क के पूर्ववर्ती कुछ नैरुक्त तीन ही देवता मानते थे। देवताओं की संख्या चाहे अलग-अलग मानी गयी हो पर उनके स्वरूप के बारे में एक तथ्य स्पष्ट होकर सामने आता है। यास्क ने इसे इस रूप में समझाया है—प्रत्येक देवता के अपने-अपने क्रियाकलाप के कारण अनेक अभिधान हैं, जैसे कि एक ही व्यक्ति के यज्ञकार्य में पृथक्-पृथक् कार्य सम्पादन करने की अवस्था में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये नाम पड़ जाते हैं। कुछ नये

देवताओं का विकास इसी कारण हुआ है। प्रजापति, त्वष्टा, विश्वकर्मा, सविता आदि नाम इसी कोटि के हैं। यद्यपि ऋग्वेद मे एक-दो स्थलों पर[22] देवताओ को महान्, लघु, युवा और वृद्ध कहा गया है पर अन्यत्र यह भी वर्णित है कि उनमे न कोई बच्चा है और न कोई कुमार है, सभी देवता महान हैं।[23] इतना होने पर भी इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि ऋग्वेद मे सबसे बढ़कर दो देवताओ का प्राधान्य रहा है : एक तो युद्धजयी नेता इन्द्र और दूसरा नैतिकता का अधिष्ठाता वरुण। इन दोनों के बाद यज्ञ के दो देवता अग्नि और सोम प्रधान हैं। इनके विषय में निर्मित सूक्तो की संख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दोनो भी ऋग्वेद के सर्वाधिक लोकप्रिय देवताओ मे से हैं।

यद्यपि मानवीकरण की प्रक्रिया को वर्गीकरण का आधार बनाया जा सकता है तथापि मानवीकरण के स्तर के मध्य एक विभाजक रेखा खीचना सरल नही है। इसीलिए देवताओ के स्वरूप पर विचार करते हुए देवताओ के प्राकृतिक आधार का सहारा लेकर ही देवताओं का वर्गीकरण करना अधिक बोधगम्य रहता है। परम्परा से देवताओ का यह विभाजन पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय देवताओं के रूप मे किया गया है। अतः विभिन्न देवताओ के स्वरूप का विवेचन अब इसी दृष्टिकोण से किया जा रहा है।

अग्नि—पृथिवी स्थानीय देवताओ मे अग्नि प्रमुख देवता है। इन्द्र के बाद वैदिक देवताओ मे अग्नि का ही स्थान है। ऋग्वेद मे लगभग 200 सूक्तों में पृथक् रूप से उसकी स्तुति की गई है। अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का भी बोधक है। अग्नि के शरीरावयवो से भौतिक अग्नि-विशेषतया यज्ञाग्नि-के भिन्न पहलुओं का द्योतन होता है। अतः अग्नि का विग्रहवत्त्व अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। वह घृत-पृष्ठ (54.3), घृत-प्रतीक (3.1.18), घृत-केश(8.60.3) और हरिकेश (3.2.13) है। उनके जबड़े तेज एवं तप्त (7.58.5) हैं, उसके दात स्वर्णिम (5.2 3) हैं। अनेक बार उसकी जिह्वा का भी उल्लेख हुआ है जिसके द्वारा देवता हवि खाते हैं। प्रतापी मूर्धा (7.3.1) सहित वह सभी भुवनो की ओर उन्मुख रहता है। विभिन्न पशुओ के साथ भी उसकी उपमा दी गई है। उसे बार-बार वृषभ (5.3.12) कहा गया है। वह रंभाता है, सुवीर्य है, उसके सींग हैं (5.1.8) जिनको वह पैनाता और डुलाता है। उत्पन्न होने पर उसे वत्स भी कहा गया है। अश्व (6.12.6) के साथ भी उसकी उपमा कई बार दी गई है। अपनी ज्वालाओं को वह घोड़े की पूंछ की तरह हिलाता है। वह देवताओ के वाहन अश्व की तरह समृद्ध किया जाता है और उसकी स्तुति की जाती है (3.27.14)। यज्ञ को देवताओ तक पहुचाने के लिए उसे जोता जाता है। अनेक बार उसकी तुलना पक्षियो (7.15.4) से भी की गई है। वह एक दिव्य पक्षी (1.164.5) है; पक्षी के रूप मे वह आकाश का श्येन (7.15.4) है। जल मे बसने के कारण उसे जलीय

हंस भी कहा गया है। कई बार अग्नि की उपमा अचेतन पदार्थों से भी दी गई है। कुल्हाडी (1.1.41) से उसकी तुलना अनेक बार की गई है, उसकी लपलपाती जिह्वा कुल्हाड़ी के समान दृष्टिगोचर होती है। वह रथ सदृश है; वह भारवाही रथ के समान यज्ञ मे लाया जाता है। उसकी तुलना धन और पितृवित्त से भी की गई है।

समिधा और घृत ही उसका भोजन है, पिघला हुआ मक्खन उसका पेय (2.7.6)है। उसके मुख मे डाले गये घी से उसका पोषण होता है। वह सर्वभक्षक है, दिन मे तीन बार उसे भोजन (4.12.1) दिया जाता है। अनेक बार उसे मुख और जिह्वा भी कहा गया है जिसके द्वारा देवता हविष् का भक्षण करता है परन्तु अधिकाशत: स्वयं उसे ही उपस्, दधिका आदि को बुलाने वाला कहा गया है। यद्यपि उसका भोजन समिधा और घृत ही है तथापि कभी-कभी उसे अन्य देवताओ के साथ सोमपान के लिए भी आमन्त्रित किया गया है। अग्नि के प्रकाश का भी प्ररोचक वर्णन किया गया है। वह सूर्य की भाति चमकता है, वह हिरण्यरूप है, उसकी प्रभा सूर्य, उषा तथा मेघ-विद्युत् जैसी है, वह रात्रि मे भी चमकता है तथा अपनी किरणो से वह अन्धकार को नष्ट करता है। प्रज्वलित होने पर वह अन्धकार को नष्ट करता है। प्रज्वलित होने पर वह अन्धकार का द्वार खोल देता है। अग्नि के उद्दीप्त होने पर अन्धकार मे परिविष्ट पृथिवी और आकाश स्वच्छ हो जाते हैं। दूसरी ओर अग्नि का मार्ग, पद्धति और बन्धुर् सब कृष्ण वर्ण (1.141.7) के हैं। वायु के झोके खाते हुए वह जगलो मे कूदते फांदते हुए आगे बढता है। वह जंगलो पर आक्रमण करता है और नाई की भांति पृथिवी के बालो अर्थात् वनस्पतियो को जला देता है। उसकी लपटें समुद्र-वीचियों की गर्जन-तर्जन के समान हैं। उसकी ध्वनि वायु जैसी है। वह कड़कने वाली द्यौ, पर्जन्य और सिंह के समान शब्द करता है। अग्नि की लपटे ऊपर की ओर उठती हैं। वायु के झोके से उसकी ज्वालाएँ आकाश को चूमने लगती है। उसका धुआ नाचता और अठखेलियाँ करता है; उसकी लपटें पकड के बाहर है। उसका लोहित धुंआ स्वर्ग की ओर उठता है तथा आकाश मे फैल जाता है (6.2.6)। अनेक बार अग्नि के लिए धूमकेतु विशेषण का प्रयोग किया गया है।

अग्नि देवता अपनी द्युतिमान्, प्रकाशवान्, भास्वर, चमकीले, स्वर्णिम और मंजुल विद्युत् रथ पर दमकता (3.14.1) है। उस रथ को दो अथवा तीन घोड़े खीचते है; वे घोड़े घृतप्रष्ठ और मनोजवा हैं। देवताओ को यज्ञ मे लाने के लिए अग्नि देवता अपने घोडो को जोतता है। वह यज्ञ का सारथि (1.25.103) है। घोडों से सुसज्जित रथ पर बैठकर वह देवताओ को लाता है। वह द्यौ का शिशु (4.15.19) है और कई बार उसे द्यौ और पृथिवी का पुत्र भी कहा गया है। वह त्वष्टा और आप:, द्यावापृथ्वी और केवल त्वष्टा या आप: का भी

पुत्र बताया गया (10.7.2) है। उसे इड़ा का पुत्र और ऋत का गर्भ भी कहा गया है। कहीं-कहीं पर यह भी आता है कि देवताओं ने उसे आर्यो के लिए प्रकाश के रूप मे और मानव के जीवन-प्राण—के लिए उत्पन्न किया है और उन्होंने अग्नि को मनुष्यो के मध्य में स्थापित किया है। साथ ही उसे देवताओं का पिता (1.69.1) भी बताया गया है। इन्द्र को अग्नि का यमल भ्राता कहा गया है तथा इन्द्र अन्य देवताओं की अपेक्षा अग्नि के साथ सबसे अधिक सम्बद्ध हुआ है।

अग्नि की कथाओ मे उसके यज्ञीय कार्य कलाप के अतिरिक्त उसके विभिन्न जन्मो, रूपो और आवासों का वर्णन किया गया है। बार-बार अरणियो के संघर्ष से उत्पन्न उसके पार्थिव जन्म (3.92.2) का उल्लेख किया गया है, अतः ये अरणियाँ भी अग्नि के माता, पिता हैं। इनमें ऊर्ध्वारणि पिता है और अधोऽरणि माता है। इन अरणियों को अग्नि की दो माताएँ भी कहा गया है। सूखी लकड़ियों में से जीवन्त अग्नि उदित होती है। इस देवता की महिमा भी अद्‌भुत है, जैसे ही यह शिशु के रूप में उत्पन्न होता है वैसे ही वह अपने माता-पिता का भक्षण कर डालता है (16.79.4)। इसके साथ ही मनुष्य भी अग्नि को उत्पन्न करता है। दस युवतियां जो अग्नि को जन्म देती हैं दस अंगुलियां हैं। अग्नि को उत्पन्न करने के लिए अपेक्षित दबाव वाले घर्षण के कारण ही उसे 'सहसः सुनु' भी कहा जाता है। प्रतिदिन उत्पन्न होने के कारण वह युवा है और उसी के साथ अग्नि से पूर्व याज्ञिक भी कोई नही है (4.5.35)। अग्नि को सभी औषधियों मे प्रविष्ट भी बताया गया है। अग्नि को वृक्ष-गर्भ और वृक्ष-वनस्पति-गर्भ भी कहा गया है। अग्नि के पार्थिव रूप को महत्व देने के लिए उसे 'पृथिवी की नाभि' (11.69.2) भी बताया गया है। पुनः अन्तरिक्ष में स्थित जल मे अग्नि की उत्पत्ति का निर्देश भी किया गया है। यहाँ तक की अपां न पात् एक पृथक् देवता ही बन गया है। अग्नि जलो का गर्भ है; वह जलो मे समिद्ध होता है। कभी-कभी अग्नि को पार्थिव जल मे निहित भी माना गया है। ऋग्वेद में सर्वत्र सलिलस्य अग्नि का ही विचार (3.21.7) प्रधान है। अनेक बार अग्नि की स्वर्ग मे उत्पत्ति का भी उल्लेख मिलता है। अग्नि देवता 'पर मेव्योमन्' (1.143.7) में उत्पन्न हुआ है। वह सर्वोच्च स्वर्ग मे बीजरूप से निवास करता था और मातरिश्वा उसको स्वर्ग से लाया था। सूर्य को भी अग्नि का एक रूप माना गया है। इस दृष्टि से अग्नि भास्वर गगन में स्वर्ग का प्रकाश है तो उषाकाल मे जागृत होता है और जो स्वर्ग का मूर्धा है। उसने रजस् के पार कहीं दूर उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण वस्तुएँ (10.187.4) देख ली थी। इस प्रकार अग्नि को तीन प्रकार का बताया है। उसका जन्म त्रिविध (10.88.10) है। देवताओं ने उसे तीन प्रकार का बनाया है। वह त्रिप्रकाश है। उसके तीन सिर, तीन जिह्वाएं, तीन शरीर

(3.20.2) हैं और वह त्रिषधस्थ है। अग्नि के इस विविध स्वरूप को ऋग्वेद में स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। विश्व के पृथिवी और स्वर्ग इन दो खण्डो मे होने वाले विभाजन के आधार पर अनेक मन्त्रो मे अग्नि को द्विजन्मा (1.60.1) भी कहा है और देवताओ में यह विशेषण केवल अग्नि के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। अनेक निवास स्थानों पर प्रज्वलित होने के कारण अग्नि के अनेक जन्म भी वताए जाते हैं (10.5.1)।

अन्य देवताओ की अपेक्षा मानव जीवन के साथ अग्नि देवता का सम्पर्क अधिक सन्निकट है। केवल वही एक ऐसा देवता है जिसके लिए वार-वार गृहपति विशेषण का प्रयोग किया गया है। वह हर घर मे निवास करता है और उसको मानवीय आवासों का प्रतिदिन का अतिथि कहा गया है। वह अमर्त्य है और उसने मर्त्यों के मध्य मे अपना निवास स्थान (3.1.17) बनाया है। विश्वपति विशेषण का प्रयोग मुख्यतः उसी के लिए प्रयुक्त किया गया है। उसे मानवजाति का घनिष्ठ सम्बन्धी अथवा मित्र भी कहा गया है। अधिकांशत. उसे पिता कहा गया है परन्तु कभी-कभी उसे उपासकों का भाई, पुत्र और माता तक कह दिया जाता है।

मनुष्य के प्रतिदिन के याज्ञिक जीवन के साथ भी अग्नि देवता का सम्बन्ध वताया गया है। वह देवताओ और पृथिवी दोनो की ओर जाने वाले मार्गो पर अग्रसर रहता है। अत. उसे अनेक वार दूत (1. 72. 7) कहा गया है; वह ऐसा दूत है जो मार्गों को जाता है और द्रव्य को ढोने वाला है। यज्ञ-चालक होने के कारण उसे पार्थिव पुरोहित भी माना गया है। अतः उसे ऋत्विज्, यज्ञ का देव पुरोहित और होता कहा जाता है। वह मनुष्य और देवता दोनो के द्वारा नियुक्त किया गया होता है। होतागणो मे वह मूर्धन्य एवं पूज्य है। वह अध्वर्य भी कहा गया है और उसकी सबसे वड़ी विशेषता उसका पौरोहित्य है। जिस प्रकार इन्द्र महान् योद्धा है उसी प्रकार अग्नि महान् पुरोहित है। वह यज्ञ का मर्मज्ञ है; अपनी प्रजा का वह सभी कुछ जानता है, उसमे सारे ज्ञान-विज्ञान निहित हैं। वह विश्वविद् है, अतः अग्नि के लिए जातवेदस् (6. 15.13) विशेषण का प्रयोग किया गया है।

अग्नि अपने उपासको का सहज हितैषी है। वह लोहे से बने दुर्गो से, उनकी विपत्तियो से रक्षा करता है। जो मनुष्य उसके लिए भोजन लाता है और हव्य द्वारा समृद्ध करता है उसे वह सहस्र नेत्रों से निहारता है। वह अपने उपासको के शत्रु को जलाकर राख कर देता है और पापियो को भी उसी प्रकार पीस डालता है जिस प्रकार विद्युत् वृक्ष को मसल (6. 8. 5) डालती है। अतः युद्ध मे उसका आह्वान किया जाता है। वह द्रव्यो का दाता है और सभी धनधान्य उसके अधीन हैं। सभी प्रकार के धन उसमे निहित हैं (10. 6. 6); अतः वह प्रसन्न होकर धन भक्तो को प्रदान करता है। वह स्वर्ग से वृष्टि प्रदान करता है। वह मरुस्थल मे स्रोत (10. 4. 1) के समान है। अग्नि देवता से पारिवारिक

कुशलता, सन्तान और सम्पत्ति मुख्य रूप से उपलब्ध होते हैं।

हव्यवाट् अग्नि और क्रव्याद् अग्नि को भिन्न-भिन्न बताया गया है। देवताओं के पास जाने वाले अग्नि को हयवाहन और अन्त्येष्टि संस्कार मे डाले जाने वाले पदार्थों को ले जाने वाले अग्नि को क्रव्यवाहन कहा जाता है। अग्नि का अन्य कार्य जलाना और दुष्ट आत्माओ को दूर भगाना है। भारत-ईरानी काल में यज्ञाग्नि सुविकसित कर्मकाण्ड के केन्द्र के रूप मे मिलती है। उस काल मे अग्नि की एक ऐसे महामहिम देवता रूप मे उपासना विद्यमान रही होगी जो विशुद्ध था, प्रज्ञा सम्पन्न था, भोज्य, अपत्य, मानसिक शक्ति और यश का दाता था, जो घर-द्वार का मित्र था और अपने उपासकों के शत्रुओ का विनाशक था। यज्ञाग्नि-संस्था भारोपीय काल की प्रतीत होती है क्योकि इटली, ग्रीस ईरान और भारत सभी देशो के निवासियो मे देवताओ के निमित्त अग्नि मे हवि डालने की प्रथा विद्यमान थी। किन्तु इसे भूताग्नि के देवता के रूप मे यदि विग्रहवत्व कुछ अन्य देशो में मिला भी था तो वह अत्यन्त निर्बल रह गया। अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति सभवतः गत्यर्थक अज् धातु से हुई है। अतः इसका अर्थ होता है 'गतिमान्' जो भूताग्नि की गतिशीलता का बोधक है।

सोम—सोम यज्ञ वैदिक कर्मकाण्ड का मुख्य अंग है अतः सोम ऋग्वेद के महान् देवताओ मे से एक है। लगभग 120 सूक्तो मे सोम की स्तुति की गई है। इनमे से 114 सूक्त नवम मण्डल मे और अन्य 6 सूक्त अन्य मण्डलो मे है। प्रयोगाधिक्य की दृष्टि से वह अग्नि के बाद आता है। उसका शारीरिक विग्रह इन्द्र और वरुण की अपेक्षा बहुत कम विकसित हुआ है क्योकि कवियो के सामने उसका वनस्पति रूप सदैव उभरा रहता था। उसके पास दारुण और पैने अस्त्र है जिन्हे वह हाथ मे सभालता है (9.61.30)। वह सहस्रभृष्टि शस्त्र से सुसज्जित है (9.83.5), उसका धनुष् अमोघ है (9.90.3)। वह इन्द्र के रथ पर बैठता है। वह रथी इन्द्र का सारथी है (8.8.23)। सारथियो मे वह सिरमौर है (9.66.26)। उसका रथ दिव्य है। वह ज्योतिरथ है (9.86.43)। सुपर्ण उसकी अपनी घोड़िया है और अपने अश्व भी हैं जो वायु के समान तेज गति वाले हैं। लगभग 6 सूक्तो मे वह इन्द्र, अग्नि, पूषा और रुद्र के साथ देवतायुग्म के रूप मे आता है। कभी-कभी वह इन्द्र के मित्र मरुद्गण के साथ जुड़कर भी आता है। मरुद्गण उसको दुहते हैं और नवजात शिशु को अलंकृत करते है (9.96.17)। वायु भी सोम के लिए सौख्यदायक है, वह उसका संरक्षक है (10.85.5)। सोम यज्ञ मे आता है और पवित्र दर्भ घास पर हवि ग्रहण करता है।

सोमरस को, जो कि मादक पेय है, 'मधु' और 'मीठा पेय' भी कहा जाता है लेकिन अधिकाशतः इसे 'इन्दु' (चमकने वाला बूद) कहा गया है। सोम का रंग अरुण, बभ्रु और उससे भी अधिक बार हरित कहा गया है। सम्पूर्ण 9 मण्डल मे

मुख्य रूप से स्थूल सोम का गुणगान किया गया है—पाषाणों द्वारा इसका सवन किया जाता है (9.67.19), इसके पश्चात् इसे ऊनी छलनी मे से छानकर दारु-पात्रों में एकत्र किया जाता है, जहां से इसे देवताओं के लिए बर्हि पर पेय रूप में उपस्थित किया जाता है; इसे अग्नि मे भी डालते हैं और पुरोहित लोग इसे पीते हैं। सोम से सम्बन्धित इन प्रक्रियाओ का वर्णन अनेक प्रकार की कल्पनाओ से समाचित होते-होते समृद्ध बन गया है और कुछ प्रकल्पनाए तो अनेक स्थानो पर रहस्यमय बन गई हैं। सवन पाषाण को, जिसके द्वारा अंशु (सोमलता के पेष्य अंश) को पीसा जाता है, 'अद्रि' या 'ग्रावन्' कहा जाता है। ऊनी छलनी मे से छनते हुए सोम को 'पवमान' या 'पुनान' कहा जाता है। अमिश्रित सोमरस को कभी-कभी 'शुद्ध' किन्तु अधिक बार 'शुक्र' या 'शुचि' कहा गया है। यह अमिश्रित सोम केवल वायु या इन्द्र को दिया जाता है। छलनी मे से निकलकर सोम कलश या द्रोण मे एकत्र होता है जहां इसे जल और दूध के साथ मिश्रित किया जाता है जिससे वह मीठा बन जाता है। √मृज् धातु का प्रयोग न केवल सोम के शुद्ध करने के लिए अपितु उसके साथ जल और दूध के मिश्रण के लिए आया है। मिश्रित सोम के तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं—गवाशिर्, दध्याशिर और यवाशिर। इस मिश्रण का आलङ्कारिक रूप से वस्त्र, वासस्, अत्क या निर्णिज् (9.14.5), इन शब्दो से वर्णन किया गया है। सोम को सौन्दर्य संवलित बताया गया है (9.34.4)। सोम का सवन दिन मे तीन बार किया जाता था। ऋभुओ को सायं सवन मे (4.33.11) और इन्द्र को माध्यन्दिन सवन मे (3.21.1)—जो एक-मात्र उन्ही का है—आमन्त्रित किया गया है; जबकि प्रातः सवन इन्द्र का सर्व-प्रथम प्रातराश है (10.112.1)। सोम के आवास का अधिकाशतः वर्णन किया गया है। एक बार तीन आवासों का वर्णन हुआ है जहा वह पवित्र होकर निवास करता है। उसके लिए 'त्रिपधस्थ' (9 103.2) विशेषण प्रयुक्त किया गया है। ये तीनों आवास परवर्ती काल मे सोमयाग मे उपयुक्त तीन बड़े ह्रदों के पूर्वरूप कहे जा सकते है (8.12.8)। उसके लिए 'त्रिपिष्ठ' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है।

सोम रस के साथ जल मिश्रण के आधार पर उत्पन्न हुए सोम-जल' सम्बन्ध की अभिव्यक्ति कई प्रकार से की गई है। सोम के लिए स्रोत प्रवाहित होते हैं (9.31.3); जल उसके नियमो का अनुगमन करता है; वह स्रोतो का पति एवं सम्राट् है (9.15.5); वह समुद्रिय सम्राट् तथा देवता है; जल उसकी बहिनें हैं (9.82.3)। जल-नेता होने के कारण उसका वर्षा पर भी शासन है (9.74.3)। वह जलों को उत्पन्न करता है तथा द्यावा-पृथिवी पर उन्हें बरसाता है, वह स्वर्ग से वृष्टि करता है। सोम-बिन्दुओ की भी अनेक बार वृष्टि से तुलना की गई है। (9.41.3)। सोम मधु-धारा के साथ उसी प्रकार प्रवाहित होता है जिसे

प्रकार पर्जन्य वर्षा के साथ प्रवाहित होता है। सोम जलो मे बढने वाला पेय है। वह जल-गर्भ (9.97.41) है। वह उनका शिशु है क्योकि सात बहिने माता के रूप मे शिशु के चारो ओर खडी रहती है। यह शिशु अर्थात् सोम नवजात है और जलो का गन्धर्व है (9.86.36,10.13.5)। जलो को सोम की माता भी कहा गया है। सोम जलो तथा गौओ के बीच मे आनन्द लेने वाला युवक है (4.45 9)। जब पवित्र किया जाता हुआ सोम कोशों या कलशों मे गिरता है तब उससे उत्पन्न ध्वनि की तुलना वर्षा की रिमझिम से की गई है (9.41.3)। सोम के रव का वर्णन करते हुए उसकी उपमा वृषभ के साथ की गई है। वह काष्ठ मे वृषभ की भाति रभाता है। सोम-जल के सम्बन्ध का वृषभ-गो सम्बन्ध के रूप मे वर्णन किया गया है। वह गौओ के धन मे एक साड है (9.16.6;9.72.4), वह गौओ का स्वामी है, सोम तेज गतिवाला है। कोशो मे बहने वाले सोम की तुलना कभी-कभी वन की ओर उड़ने वाले पक्षियो से भी दी गयी है (9.72.5)। सोम रस पीले रंग का होता है अतः ऋषियो ने इसके शारीरिक गुण को भास्वर कहा कहा है। वह सूर्य के समान या सूर्य के साथ भासित होता है और अपने आप को सूर्य के किरणवस्त्रो से ढक लेता है (9.76 4)। वह सूर्य के समान अपनी किरणो से पृथिवी और स्वर्ग को आपूरित करता है। जब वह भास्वर पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ तो उसने अपने माता-पिता को भी चमचमा दिया (9.9.3)। सूर्य-पुत्री भी उसे पवित्र करती है। वह अन्धकार से युद्ध करता है और दिव्य प्रकाश को उत्पन्न करता है तथा अन्धकार को ध्वस्त कर देता है। इन स्थलो मे वह सूर्य के साथ जुड़ा हुआ है।

सोम की यह शक्ति—जो अत्यधिक मात्रा मे पीने वाले को दीवाना और असाधारण वीर कृत्यो के लिए प्रेरित करती है—अन्य सभी पेयो की अपेक्षा कही अधिक है। अत इसे अमरता प्रदान करने वाला दिव्य पेय भी कहा गया है। यह एक ऐसा अमर प्रेरक है जिस पर देवता तक मरते है। इसे पीकर वे आनन्द मे लीन हो जाते है। इसमे भैषज्य शक्ति भी है। वह रोगियो का उपचार करता है, अन्धो को दृष्टि और लंगड़ो को गति प्रदान करता है। वह मनुष्यों का अङ्गरक्षक है तथा उनके अङ्ग-अङ्ग मे व्याप्त है। वह मनुष्य को दीर्घायु करता है। वह वाणी मे भी प्राण डाल देता है अतः इसे वाचस्पति (9.26.4) भी कहा जाता है। वह सूक्तो का जनक है, कवियो का मूर्धन्य है (9.96.6), पुरोहितो मे द्रष्टा है, ऋषियों का निर्माता है (9 96.18), स्तोत्रो का रक्षक है (6.52.3), यज्ञ की आत्मा है, देवो मे ब्रह्मा है, वह स्वयं एक मेधावी ऋषि है (8.79.1)। देवताओ के जन्म-स्थान को पहचानता है और विवेक के साथ प्राणियो का निरीक्षण करता है। अतः वह 'भूरि-चक्षु' (9.26.5) और 'सहस्रचक्षु' (9.60.1) है। उसने पितरो को कार्य मे प्रेरित किया था। उसी के द्वारा पितरो ने प्रकाश और गोए प्राप्त की

थीं। वह पितरों से जुड़ा हुआ है तथा उनके साथ रहता है (8.48.13)। सोम की मादक शक्ति का मुख्य उपयोग इन्द्र को अन्तरिक्षस्थ शत्रुदल के विरुद्ध लोहा लेने के लिए बढ़ावा देना है। इस तथ्य का उल्लेख कि सोम ही इन्द्र को वृत्र से युद्ध करने के लिए संनद्ध करता है ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों मे किया गया है (8.92.17)। वृत्र के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुए इन्द्र के साथ निकट रूप मे सम्बद्ध होने के कारण उसे स्वतन्त्र रूप से भी एक महान् योद्धा कहा गया है। सोम विजयी है; वह अजय है, वह योद्धाओं का अग्रणी है; भीमों मे सबसे बढ़कर भीषण है; अजस्र विनयशील है। वह पृथ्वी और स्वर्ग का अशेष, धन, भोजन, पशु, अश्व आदि अपने उपासकों को देता है। वह शत्रुओं से हमारी रक्षा करता है (10.25.7), यातुधानो को ध्वस्त करता है (9.49.5)। उसके लिए 'अघशंसहा' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है। कभी-कभी वह मरुद्गण के साथ सपृक्त होकर भी आता है। अग्नि, पूषा और रुद्र के साथ वह युग्म मे आता है।

यद्यपि अनेक स्थलों पर सोम के पर्वत पर उत्पन्न होने और निवास करने का उल्लेख किया गया है (अवेस्ता के हओम के समान) तथापि उसकी वास्तविक उत्पत्ति और निवास स्वर्ग में माना गया है। सोम स्वर्ग का शिशु है (9.38.5), स्वर्ग का पीयूष है (9.51.2)। वह स्वर्ग का अधिपति है, वह स्वर्ग मे व्याप्त है और उसका स्थान सर्वोच्च स्वर्ग मे है। स्वर्ग से पृथिवी पर लाये गये इस विश्वास को मुखरित करने वाली सर्वप्रसिद्ध गाथा सोम और श्येन की है। श्येन इन्द्र के लिए सोम को लाये—इस गाथा का सबसे विशद वर्णन ऋग्वेद के 4.26.27 में किया गया है। औषधियों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण उसे वनस्पतियो का राजा बनकर उत्पन्न हुआ भी बताया गया है। अत: उसके लिए 'वनस्पति' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है। सोम के 'वनस्पतित्व पर ध्यान न रखकर अन्य देवताओं के समान उसे भी राजत्व सामान्य का अभिधान दिया गया है। वह सरिताओ का राजा है, सम्पूर्ण पृथिवी का अधिपति है (9.97.58), देवताओ का राजा व पिता है, मर्त्यों और ब्राह्मणों का राजा है। ऋग्वेद के बाद के सूक्तों में सोम का तादूप्य चन्द्रमा के साथ किया गया है किन्तु अधिकांशत: विद्वानों की दृष्टि में सोम पेय द्रव का मानवीकरण मात्र है और चन्द्रमा के साथ उसका तादात्म्य गौण गाथात्मक विकास है। अथर्ववेद में अनेक स्थानो पर सोम का अर्थ चन्द्रमा है और ब्राह्मणों में सोम की चन्द्रमा के साथ तद्रूपता साधारण-सी बात बन गई है।

भारत ईरानी काल ही में सोम (अवेस्तिक हओम) का सवन और स्तवन मुख्य विशेषता रही है। ऋग्वेद और अवेस्ता दोनों मे कहा गया है कि सोम के डण्ठल कुचले जाते थे, सोम-रस पीत वर्ण का होता था और दूध के साथ उसे मिलाया जाता था। दोनों के अनुसार सोम पर्वतों पर उत्पन्न होता था, दोनों मे ही सोम वनस्पति है। दोनों में यह एक औषधि विशेष है जो स्वास्थ्य और दीर्घ

जीवन प्रदान करती है और मृत्यु का निवारण करती है। दोनों मे सोम का गाथेय घर स्वर्ग है जहां से इसे पृथिवी पर लाया जाता है। दोनों मे पेय सोम एक शक्ति-शाली देवता वन जाता है और उसे राजा कहा जाता है। दोनों मे सोम से सम्बन्धित और भी अनेक समानताएं दृष्टिगोचर होती है। स्वर्गीय मादक पेय में विश्वास तो भारोपीय काल का भी हो सकता है। यदि यह सम्भव है तो सोम को एक प्रकार का मधु समझा जाता रहा होगा, जिसे इसके रक्षक दानव के यहां से एक श्येन धरती पर लाया होगा। इस प्रकार का कोई मधु यदि भारोपीय काल मे था तो भारत-ईरानी काल में सोम ने उसका स्थान ले लिया होगा। किन्तु वैदिक काल मे तो उसका सोम-मिश्रित रूप मे चलन जारी था, यह बात निश्चित-सी है।

बृहस्पति—इस देव की स्तुति ऋग्वेद के 11 समस्त सूक्तों में की गयी है और दो सूक्तों मे इन्द्र के साथ युग्म रूप मे की गयी है। इनके अतिरक्त 'ब्रह्मणस्पति' के रूप मे भी 50 वार इनकी स्तुति की गयी है। दोनों प्रकार के नाम एक ही सूक्त के विभिन्न मन्त्रो में यत्र-तत्र मिलते हैं। इसकी शारीरिक विशेषताएं पूरी तरह उभर नहीं पायी हैं। वह सप्त-मुख, सप्त-रश्मि (4.50.4), मन्द्र-जिह्व (1.90.1), तीक्ष्ण-शृंङ्ग (10.155.2), नील-पृष्ठ (5.43.12), शत-पत्र (7.97-7) हिरण्यवर्ण (5.43.12,) लोहित-वर्ण, भास्वर (7.97.7), शुचि (7.97.5) और सुव्यक्त ध्वनिवाला है। उसके पास तीक्ष्ण तीर और एक धनुष् है जिसमे ऋत की डोरी लगी है। (2.24.8; 5. 18.8,9)। वह हिरण्यवाशी लिए है और उसके हाथ में लोहे की कुल्हाड़ी भी है। उनके पास ऋत का बना हुआ एक रथ भी है जो यातुधानों को कीलता, गोव्रजो को तोड़ता और प्रकाश को जीतता है। यह रथ लोहित वर्ण के अश्वों द्वारा खीचा जाता है। बृहस्पति सर्वप्रथम प्रकाश से चमचमाते स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ था और उसने अपने स्तनयित्नु 'रव' द्वारा अन्धकार का नाश किया था (4.50.4)। वह दोनों लोकों का तनय है, देवताओं का पिता है। अग्नि के समान ही वह पुरोहित और ब्रह्मन् है। वह उपासना योग को वढ़ाता है और उसके विना यज्ञ सफल नही होता है (1.18.7)। पथ-निर्माता के रूप में वह देवताओं के लिए भोज तक पहुचना सुलभ करता है। उससे देवताओं ने अपना यज्ञांश प्राप्त किया है। वह शस्त्र गाता है (10.36.5), उसका श्लोक स्वर्ग में पहुंचता है। उसका गायको के साथ सम्वन्ध है। वह अपने उन मित्रो के साथ गाता है जिनकी वाणी हंसो जैसा शब्द करती है। उसके साथ भजन-मण्डली चलती है (4.50.5)। यह ब्रह्मणस्पति अर्थात् 'स्तुति का पति' था। इसे स्तुतियो का सर्वोच्च राजा भी कहा गया है और इसे कवितम की उपाधि भी दी गयी है (2.23.1)। ऋत के रथ पर वैठकर वह स्तुति करता और देवों के शत्रुओ पर विजय-लाभ करता है। वह मन्त्र

का उच्चारण करता है और मानवीय पुरोहित को सूक्त सुझाता है। अनेक मन्त्रों में उसका तादूप्य अग्नि से किया गया है। उदाहरण के लिए ब्रह्मणस्पति-अग्नि का—जो कि सौन्दर्य मे मित्रतुल्य है—आह्वान किया गया है (1.38.13)। अग्नि के समान ही बृहस्पति के तीन आवास हैं किन्तु सामान्यतया बृहस्पति अग्नि से भिन्न दिखाया गया है क्योंकि देवगणनाओ मे उसे अग्नि के साथ निमन्त्रित किया गया है— उसका नाम पृथक् रूप से लिया गया है।

अग्नि के समान बृहस्पति को भी गोमोचन सम्वन्धी इन्द्र गाथा में संपृक्त किया गया है और उसे एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है (4.50.5)। अपनी भजन-मण्डली के साथ रव के द्वारा उसने वल को भेद दिया और गरज कर रंभाती हुई गौओ को वाड़े में से वाहर निकाल दिया। उसने धन तथा गौओ से सम्पन्न गो-व्रज को जीता। उसने अंधकार को घेर लिया और स्वर्ग को अनावृत किया। देवगणों को पानी पिलाने के लिए उसने तवस्तरा द्वारा मधु भरे पाषाण-मुख कुएं को भेद दिया (2.24.3.4)। उसने उषा, अग्नि तथा प्रकाश को प्राप्त किया और अन्धकार को दूर भगाया। वह शत्रुओ को तितर-वितर करके उन पर विजय प्राप्त करता है। वड़े या छोटे किसी भी युद्ध मे वह प्रशंसित होने वाला पुरोहित है। इसे इन्द्र के साथ वार-वार वुलाया गया है। वह इन्द्र के साथ सोम पीता है अतः इसे भी 'मघवन्' की उपाधि दी गयी है। एकमात्र इन्द्र के साथ ही वह युग्म रूप मे आता है (4.49.1) अतः उसे 'वज्रिन्' की उपाधि भी प्राप्त हो जाती है और उसका वर्णन असुर-हन्ता के रूप मे होने लगता है।

वह अपने उपासको पर अनुग्रह करता है। वह ऋजुधर्मा मनुष्यों को सभी संकटों, उत्पातो, अभिशापों और शत्रुओ से वचाता है और उस पर अत्यधिक धन-सम्पत्ति की वर्षा करता है। वह दयालु, धनद और सम्पत्ति को बढ़ाने वाला है। वह आयुवर्द्धक और रोगो का दमन करता है। उदारवृत्ति के कारण ही वह पिता भी कहा जाता है (4.50.6) वह असुर्य है, देवो का भी देवतम है। अपने रव से उसने पृथिवी के छोरों को जकड़कर थाम रखा है।

वृहस्पति विशुद्ध भारतीय देवता है। स्वर और ध्वनि की दृष्टि से उसके समकालीन नाम ब्रह्मणस्पति से ज्ञात होता है कि ऋग्वेदीय कवि इसे 'बृहत्' प्रातिपदिक का षष्ठी तत्पुरुष का रूप समझते थे और इस शब्द की निष्पत्ति उसी धातु से हुई है जिससे ब्रह्मन् की। वृहस्पति मूलतः अग्नि के ही एक पक्ष के रूप में दृष्टिगोचर होता है और वह भक्ति का अधिष्ठाता दिव्य पुरोहित था। ऋग्वैदिक युग के प्रारम्भ में वह अपने स्वतन्त्र रूप को प्राप्त कर चुका था यद्यपि अग्नि से इसका सम्वन्ध अव भी पूर्ण रूप से पृथक् नही हो पाया था। विल्सन, लॉग्लुई और मैक्समूलर भी इसे अग्नि का एक रूप मानते है। रॉथ के अनुसार वृहस्पति यज्ञ-देव एव भक्ति, शक्ति का सीधा मानवीकरण है। वेवर इसे इन्द्र के पुरोहितों

द्वारा कल्पित एक भावात्मक देवता मानता है। बृहस्पति दिव्य ब्रह्मा नामक पुरोहित के रूप मे हिन्दू देवमयी के प्रमुख देवता ब्रह्मा का पूर्वरूप जान पड़ता है।

इन्द्र—ऋग्वेद के लगभग चतुर्थांश सूक्तो (250) मे इन्द्र का वर्णन किया गया है—ये सूक्त किसी भी देवता के निमित्त कहे गये सूक्तों से सर्वाधिक है। वह वैदिक भारतीयो का प्रियतम राष्ट्रीय देवता है। आर्यों के इस सर्वप्रधान देव का स्वरूप क्या था यह अनिश्चित है। यह तो प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि इन्द्र के स्वरूप का विकास किसी प्राकृतिक घटना या शक्ति से हुआ है। परन्तु वह घटना या शक्ति कौन-सी है इसके विषय में मतभेद विद्यमान है। कुछ की दृष्टि मे वह तूफान का देवता है और उसका युद्ध जिस वृत्र के साथ हुआ है वह वृत्र मेघ है। कुछ अन्य इसे वायु मे रहने वाली विद्युत् शक्ति के रूप मे देखते हैं, कुछ इसे सूर्य के रूप मे देखते हैं। इसके वृत्र के मारने के वर्णन को आधार बनाकर इन्द्र विषयक बहुत सी ऋचाओ की रचनाए हुई। इसका मानवीय विकास अन्य सभी वैदिक देवताओं की अपेक्षा अधिक निखरा हुआ है। इसकी अनेक शारीरिक विशेषताओ का उल्लेख किया गया है—इसके शरीर, सिर, भुजाए हाथ और उदर है।

जुठरे सोमं तुन्वी॑ सहो॒ महो॒ हस्ते॒ वज्रं॒ भरं॑ति शीर्षणि क्रतुम् (2.16.2)।

अनेक स्थलो पर सोमपान शक्ति के वर्णन के प्रसंग में इसके उदर की तुलना ह्रद से की गई है—ह्रदा एंव कुक्षयः सोम॒धानाः (3.36.8)। हरितवर्ण होने के कारण उसको हरिकेश और हरिश्मश्रु कहा गया है (10.96.8)। उसकी बाहें लम्बी, महान् शक्तिशाली एव सुडौल है, अतः उसके लिए हिरण्यबाहु (7.34.4), वज्रबाहु, आयस-हस्त विशेषणो का प्रयोग किया गया है। उसके मनमोहक रूप मे सूर्य की लोहित प्रभा चमचमाती है (10.112.3)। वज्र उसका अपना अस्त्र है। गाथात्मक रूप में विद्युत् की कड़क ही वज्र है। उसका यह वज्र त्वष्टा ने बनाया था (1.32.2)। यह वज्र आयस (1.52.8), हिरण्यमय (1.57.2), चतुष्कोण (4.22.2), शतकोण और शतपर्व है (8.6.6)। इस वज्र का उल्लेख पत्थर अथवा पर्वत की भाति भी किया गया है (7.104.19)। वज्र शब्द से निर्मित अथवा उसके साथ समस्त होकर अनेक विशेषणो-वज्र-बाहु, वज्रहस्त, वज्रिन्, बज्रभृत, वज्रवत्—का प्रयोग केवल इन्द्र के लिए किया गया है। कभी-कभी धनुष् और बाण को हाथ मे लिए हुए इन्द्र का वर्णन भी आता है (10.103.38)। इसके इषु स्वर्णिम हैं, सहस्रभृष्टि हैं और सहस्र परोवाले है।

वह एक स्वर्णिम रथ पर चलता है जो दो हरे घोड़ो द्वारा खीचा जाता है (2.18 4)। इसके लिए रथेष्ठा विशेषण का भी प्रयोग किया गया है। अन्य दूसरे देवताओ की अपेक्षा इन्द्र सोम का सर्वाधिक अभिलाषी है (1.104.9)। सोम पीने के लिए इसने चोरी तक कर डाली थी (3.48.4)। इसके लिए सामान्यतः

'सोमपा' विशेषण का प्रयोग किया जाता है। सोम इन्द्र का प्रियतम पेय है। यह सोमपान, वृत्र-वध जैसे सांसारिक कार्यो के लिए और शत्रुओ पर विजय पाने जैसे कार्यों के लिए उसे उत्तेजित करता है। वृत्र वध के लिए तो इसने तीन ह्रदो का सोम पी डाला था (5.29.7)। एक सम्पूर्ण सूक्त स्वगत भाषण के रूप में है जिसमे इन्द्र सोम से मदमत्त होकर अपनी महानता और अपनी शक्ति का वखान करता है। इन्द्र मधुमिश्रित दूध भी पीता है। यज्ञ मे वह अपूप और धान का खाना खाता है (3.52.7;8)।

इन्द्र के जन्म का भी अनेक स्थलो पर उल्लेख हुआ है। दो सकल सूक्तों में उसके जन्म का वर्णन किया गया है (3.48;4.48)। उत्पन्न होते ही वह आकाश को प्रकाशित कर देता है, सूर्य के चक्र को गति देता है, अजेय योद्धा वन जाता है। उसके जन्म लेने पर अचल पर्वत द्युलोक और पृथिवी कांपने लगते हैं (4.17.2)। इन्द्र के वहुत से विशेपण वही हैं जो अग्नि के हैं (6.59.2)। उसका पिता द्यौस् है। एक अन्य प्रसंग मे इन्द्र का पिता त्वष्टा वताया गया है। अग्नि इन्द्र का यमल भाई है, पूपन् भी उसका भाई है। इसकी पत्नी, जिसका अधिकांशतः उल्लेख किया गया है, इन्द्राणी है। इन्द्र का सम्वन्ध अन्य वहुत से देवताओ के साथ है। मरुद्गण उसके प्रमुख मित्र और सहायक हैं जो युद्धकार्यो में सदैव इन्द्र की सहायता करते है। अतः इन्द्र के लिए 'मरुत्वत्' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है। देवता युग्म में इन्द्र का प्रयोग, अन्य देवता की अपेक्षा अग्नि के साथ सवसे अधिक हुआ है। इन्द्र का सम्वन्ध वरुण, सोम, बृहस्पति, पूषन् और विष्णु के साथ भी है।

अनेक स्थानो पर इसके विशाल आकार का भी वर्णन किया गया है। दोनों लोक इसकी केवल मुट्ठी के वरावर है (3.30.5)। द्युलोक एवं पृथिवी भी इसकी मेखला के लिए कम हैं। यदि पृथिवी दस गुनी और अधिक विस्तृत होती तो इन्द्र के वरावर होती (1.52.11)। उसकी महत्ता और शक्ति की भी प्रशसा की गई है। देवता या मनुष्य कोई भी न उससे वढ़कर है और न ही उसके समान है। कोई भी उसकी शक्ति की सीमा तक नही पहुंच पाया है। यह देवताओं को अतिक्रान्त कर जाता है (3.46.3)। इसके लिए प्रयुक्त अनेक विशेषण जैसे 'शक्र', 'शचीवत्', शचीपति, शतक्रतु आदि इसकी असीम शक्ति को ही द्योतित करते है। वह वलवान्, तेज, विजयी तथा शूर है। यह युवक है, यह अजर है।

इन्द्र के व्यक्तिगत गुणो व शक्ति का वर्णन करने के साथ इन्द्र सम्वन्धी उन गाथाओ पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है जो उसके स्वरूप का आधार हैं। सोमपान से मदमत्त होकर मरुद्गणों द्वारा उत्साहित करने पर इन्द्र अवर्षण-राक्षसो के प्रधान के साथ युद्ध मे भिड़ जाता है, जिसे अधिकाशतः 'वृत्र' और

'अहि' कहा गया है। जब इन्द्र अपने वज्र से वृत्र पर प्रहार करता है तब द्यावा-पृथिवी काप जाती है (6.17.9)। वह अपने वज्र से वृत्र को भेद देता है (1.32. 5;6.61.10)। यह वृत्र जल मे छिपा हुआ था तथा इसने जलों को आकाश मे रोका हुआ था (4.19.2)। अतः उसके लिए 'अप्सुजित्' विशेवण का भी प्रयोग किया गया है। वह पर्वतो को भेद देता है और इस प्रकार सरिताओ को प्रवाहित करता है (4.19.8)। यह गौओ को घेरे से बाहर निकाल देता है (10.89.7)। इसने दानव का वध किया, महान् पर्वतो को विदीर्ण किया, गौओ और सोम को जीता तथा सात सरिताओ को प्रवाहित किया तथा बन्दी सलिल को मुक्त किया। प्रवाहित की गई सरिताएं अधिकांशतः पार्थिव है लेकिन ऋग्वेद मे वे अधिकाशत. अन्तरिक्षस्थ धाराएं मानी गयी है (1.52.14)। इन्द्र की गाथाओ मे बादल अधिकाशतः पर्वत या गिरि के रूप मे आते हैं जिन पर दानव निवास करते हैं—

अहन्नहिं पर्व॑ते शिश्रियाणम् (1.32.2); यः शंम्बरं पर्वतेषु क्षियन्त॑ चत्वारिंश्या शरद्यन्वविन्दत् (2.12.11)।

वह इन पर्वतों से इन्हे नीचे गिरा देता है। मेघ भी अधिकांशतः वायु मे स्थित दानवो के पुर बन जाते हैं। उनकी संख्या 90,99 या 100 बतायी गयी है (2.14.6,2.19.6)। इन्द्र इन्हे भेद डालता है। अतः उसके लिए 'पुरभिद्' विशेषण भी प्रयुक्त किया गया है। वृत्र-वध की गाथा के महत्त्व के कारण 'वृत्रहन्' उसका मुख्य विशेषण बन गया है। इन्द्र ने और भी बहुत से छोटे-बड़े दानवो के साथ युद्ध किया है। जल-मुक्ति के साथ ही प्रकाश, सूर्य तथा उषा को जीतने का भी सम्बन्ध है। इसने प्रकाश और दिव्यजलो को जीता। आयस् वज्र के द्वारा वृत्र-वध करने के पश्चात् इन्द्र ने मनुष्य के लिए सलिल को प्रवाहित किया और सूर्य को उसके भासमान रूप मे द्युलोक मे स्थापित किया। (1.51.4)। जब इसने वायुमण्डल मे से दानव को उड़ाया तो सूर्य जगमगा उठा (8.3.20)। इसने सूर्य को प्रकाशित किया, आकाश मे आरोहित किया, अन्धकार मे से इसे प्राप्त किया तथा इसके लिए मार्ग भी तैयार किया। यह उषा को भी उत्पन्न करता है (2.12.7)। यह उषाओं और सूर्य को प्रकाशित करता है, उषा और सूर्य के द्वारा अन्धकार को खोल देता है। उषस् और सूर्य के साथ अथवा केवल सूर्य के साथ उल्लिखित गौएं, जिन्हे इन्द्र प्राप्त करता है, उन्मुक्त करता है अथवा जीत लेता है, प्रातःकालीन किरणों की प्रतिरूप हैं। जब इन्द्र ने वृत्र पर विजय प्राप्त की तभी रात्रि की गौएं दृष्टिगोचर हुईं (3.34.13)। विद्युत् तूफान मे से निकलने वाले सूर्य के साथ सम्बद्ध विचारो मे और रात्रि के अन्धकार से मुक्त होने वाले सूर्य सम्बन्धी विचारो मे अनजाने ही एक मिश्रण-सा हुआ दृष्टिगोचर होता है। इन्द्र गाथा मे यह द्वितीय तत्त्व पहले तत्त्व का ही विस्तृत रूप है। जब

यह कहा गया है कि इन्द्र ने द्युलोक की विद्युतो को वनाया (2.13.7) और जल-प्रवाह नीचे की ओर प्रवृत्त किया (2.17.5) तव विद्युत-तूफान के मध्य सम्पादित हुए इन्द्र के क्रिया-कलापों की अभिव्यक्ति अधिक स्पष्टता से सम्पन्न हुई है।

वृत्र-युद्ध और गौओं तथा सूर्य की जीत के साथ सोम की जीत का सम्बन्ध भी उभर आया है। जव इन्द्र ने अहि को वायु, अग्नि, सूर्य और सोम से दूर भगाया तव इन्द्रिय रस प्रदीप्त हो उठा। उसने सोम के साथ गौओं को जीता। इन्द्र ने चलायमान पर्वतो और पृथिवी को स्थिर किया। इन्द्र ने पर्वतों के पर काट दिये, पुराने युग मे ये पर्वत जहाँ चाहते उतर पड़ते थे और पृथिवी को कंपा देते थे। इसने पृथिवी को सम्भाला और द्युलोक को स्तम्भित किया। जिस प्रकार दो चक्र धुरी के द्वारा अलग-अलग रहते हैं वैसे ही इसने द्युलोक और पृथिवीलोक को पृथक्-पृथक् सम्भाल रखा है। यह द्यु और पृथिवी को चर्म की भाति फैलाता है (8.6.5)। यह द्यु और पृथिवी का पिता है। द्युलोक और पृथिवी के पृथक्करण को और इन दोनों के विधारण को कभी-कभी इन्द्र के द्वारा एक राक्षस पर प्राप्त विजय का परिणाम भी कहा गया है। उस राक्षस ने इन दोनो को एक जगह पकड़ रखा था (8.6.17)। युद्ध मे अन्तरिक्षस्थ दानवो का विनाश करने वाले वज्रपाणि इन्द्र को योद्धा निरन्तर आमन्त्रित करते रहते हैं (4.24.3)। युद्ध का मुख्य देवता होने के कारण सभी देवताओ की अपेक्षा इसे शत्रुओं के साथ युद्ध करने वाले आर्यों के सहायक के रूप मे अधिक वार आमन्त्रित किया गया है। वह आर्यो का रक्षक और काले वर्ण वाले लोगो को दवाने वाला है (1.130.8)। इसने 50000 कृष्ण वर्णो का अपाकरण किया और उनके दुर्गो को छिन्न-भिन्न कर दिया (4.16.3)। इसने दस्युओ को आर्यो के सामने झुकाया तथा आर्यो को भूमि भी दी (4.26.2)।

सामान्यतः इन्द्र को अद्वितीय उदारचेता सहायक, उपासकों का मुक्तिदात्रा चित्रित किया गया है। इसको उपासकों का मित्र तथा भाई भी कहा गया है (3.53.5)। इसे माता-पिता भी कहा गया है। यह धन का अटूट कोष है तथा अपने उपासकों पर धन की वर्षा करता है। अन्य देवताओ के समान इससे गाय और घोड़े वार-वार मांगे गये हैं। इसके युद्धो को वार-वार 'गविष्टि' कहा गया है (8.24.5)। उदारता उसकी अपनी सम्पत्ति है अतः इसके लिए मघवन् विशेपण का भी प्रयोग हुआ है। अनेक वार 'वसुपति' विशेपण भी प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि इन्द्र की महान् गाथा वृत्र-युद्ध ही है तथापि 'शौर्य-वीर्य' के कर्ता होने के कारण अनेक वहुत-सी और गाथाएं भी उसके साथ जुड़ गयी हैं। अनेक स्थलों पर इन्द्र का उषस् के साथ विरोध दर्शाया गया है। उसने उपस् का अनस् तोड़ डाला था और उसके मन्दगति वाले घोड़ों को अपने घोड़ो से तहस-नहस कर डाला था। इन्द्र का सूर्य के साथ भी विरोध दृष्टिगोचर होता है। उसने सूर्य के

हरित अश्वों को रोक दिया। इन्द्र का सम्बन्ध सोम विषयक गाथा से भी है क्योंकि श्येन पक्षी सर्वोच्च स्वर्ग से अमृत के इस पान को उन्हीं के पास लाता है। एक और अन्य गाथा—जिसका वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है और इसके अतिरिक्त एक सकल सूक्त इस गाथा के विषय में वर्णित है—इन्द्र द्वारा सरमा की सहायता लेकर पणियो से गौओं को स्वतन्त्र कराने के विषय में है। ये राक्षस गौओं को रसा नदी के पार एक गुफा में छिपा कर रखते थे। इन्द्र ने गौएं पाने की इच्छा से अभेद्य दुर्ग को तोड़ डाला और उसमे छिपे हुए पणियों पर विजय प्राप्त की।

इन गाथाओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक तथ्य सम्पन्न गाथाएं भी इन्द्र के साथ सम्बन्धित हैं। एक गाथा में इन्द्र तुर्वश और यदु को ठीक-ठाक नदियों के पार उतारता है। ये दोनो परस्पर सम्बन्धी दो आर्य जत्थों के नायक हैं। कहीं-कहीं इन जत्थों में परस्पर विरोध भी दिखाया गया है। इस प्रकार का भेदगर्भ यह दृष्टिकोण किसी सीमा तक इन दोनो जातियों की ऐतिहासिकता का प्रतीक है। ऐतिहासिक गाथाओ मे ही एक गाथा यह भी है कि इन्द्र ने दाशराजयुद्ध में सुदास् की सहायता की। यह सहायता उसने सुदास् के पुरोहित तृत्सु की स्तुतियों से प्रसन्न होकर की थी और उसने उनके शत्रुओं को परुष्णी नदी में डुबो दिया था।

इन्द्र का नाम अवेस्ता मे केवल दो बार आया है। वहां वह देवता नहीं, अपितु दानव बनकर आता है। साथ ही वहां उसका स्वरूप भी कुछ अनिश्चित सा है। इन्द्र का निजी वैदिक विशेषण 'वृत्रघ्न' भी 'वेरेथ्रघ्न' के रूप में अवेस्ता में आता है। किन्तु वहां यह केवल युद्ध के देवता का बोधक है। वहां इसका विद्युत्-तूफान की गाथा के साथ सम्बन्ध नही है। अत. सम्भव है कि भारत-ईरानी काल मे भी वृत्रघ्न इन्द्र की तरह कोई अन्य देवता रहा हो। यह भी सम्भव है कि भारोपीय काल मे द्युलोक गर्जन के देवता के साथ-साथ एक और स्पष्टतर विद्युत् देवता रहा हो, जिसका आकार महान् रहा हो; जो अधिक खाने-पीने वाला रहा हो और जो अपने विद्युत्-वज्र के द्वारा दानवो का हनन करता रहा है। इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। किन्तु यह सम्भव है कि इसकी निष्पत्ति उसी धातु से हुई हो जिससे कि 'इन्दु' शब्द की हुई है।

रुद्र—ऋग्वेद में रुद्र का स्थान गौण है। ऋग्वेद मे केवल 3 पूरे और एक सूक्त अंशतः रुद्र के लिए आया है और एक अन्य सूक्त में सोम के साथ उसका नाम आता है। इसकी शारीरिक विशेषताएं निम्नस्थ हैं। इसका हाथ दुःखों को दूर करने वाला और सुखों को देने वाला भेषज रूप है (2.33.7), भुजाएं और अवयव दृढ़ तथा संनद्ध (2.33.9) हैं। रंग बभ्रु है, होठ सुन्दर हैं (2.33.5), बाल घुंघराले हैं (1.114.9), आकार आंखो को चकाचौंध करने वाला है(1.114.5)

और इसके रूप अनेक हैं। ये द्युतिमान् सूर्य एवं स्वर्ण के समान भासित होते हैं। यह स्वर्णिम आभूषणो से सुसज्जित है और भांति-भांति के रूपो वाला निष्क पहनता है (2.33.10;11)। यह रथ पर बैठता है। इसके शस्त्रों का भी उल्लेख किया गया है। इसके हाथ में वज्र है। इसका विद्युत्-कृपाण आकाश से छूटकर पृथिवी पर भ्रमण करता है (7.46.3)। इसके पास धनुपवाण भी हैं जो स्थिर और तीव्र गति वाले हैं (2.33.10,11,5.42.11,10.125.6)। इसका आह्वान कृशानु और तीर चलाने वालो के साथ हुआ है। इसका मरुतो के साथ साहचर्य का भी वर्णन मिलता है। यह उनका पिता है (1.114.6)। इसने रुक्मवक्षस् मरुतों को पृश्नि के शुक्ल ऊधस् से उत्पन्न किया (2 34.2)। रुद्र कभी भी मरुतो के युद्धकौशल से सम्पृक्त नही हुआ क्योकि वह राक्षसो के साथ युद्ध मे प्रवृत्त नही होता है। ऋग्वेद मे उसके लिए 'त्र्यम्बक' विशेपण का भी प्रयोग मिलता है (7.59.12) जो कि परवर्ती साहित्य मे शिव का विशेपण है। यह मृग की भांति भीम (2.33.11) और उपहत्नु अर्थात् घातक है। यह द्युलोक मे अरुप वराह है (1.114.5), वृपभ है (2.33.8), वृहत् (1.43.7), दृढ़, वलवानों मे वलिष्ठ, अपाढ़, अमेय शक्तिवाला, त्वरित गति वाला, त्वेप, युवा, ऋष्व, अजर एवं सुपुम्न है। इसे असुर (5.42.11) अथवा द्युलोक का सवसे महान् असुर (2.1.6) भी वताया गया है। यह स्वयशस्, क्षयद्वीर (1.114.1) और इस प्रभूत जगत् का ईशान और जगत् का पिता है (6.49.10)। अपने साम्राज्य के मानवजात के शुभाशुभ को देखता है (7.46.2)। यह सरिताओ को धरती पर प्रवाहित करता है। यह प्रचेतस् है (1.43.1), कवि है, इसका हाथ मृळयाकु है। कई वार इसे मीढ्वस् कहा गया है। यह कामनाओ का पूरक है, प्रभूत अन्नादि का देने वाला है, तथा कल्याणकारी है (10.92.9)।

अनेक वार इसकी अनुदारता का भी सकेत मिलता है, इसके निमित्त कहे गये सूक्तो मे इसके भीपण अस्त्रो से भीति और इसके अमर्प से भय के भाव भी झलकते हैं। इससे प्रार्थना की गई है कि वह क्रोध में अपने उपासको, उनके माता-पिता, उनके अपत्यों एव परिजनो, पशुओ और अश्वो की क्षति न करे (1.1.147); अपने क्रोध एवं हेति को उपासको की ओर न भेज कर उनसे दूसरो को ध्वस्त करे (2.33.11)। क्रोध आने पर भी अपने वज्र को लौटा ले और अपने उपासको, उनकी सन्तान और गौओ को किसी भी प्रकार की हानि न पहुचाए। उन सवसे अपने गोघ्न और नृघ्न वज्र को दूर ही रखे (2.33.1)। रुद्र के दौर्मनस्य एवं मन्यु से भय दर्शाया गया है। इससे यह प्रार्थना भी की गई है कि वह मानवजाति के सहायको के प्रति दयालु हो। उपासक प्रार्थना करते हैं कि वे नीरोग वने और उन पर रुद्र देव की कृपा रहे। इसका अनुनय न केवल विपत्ति से वचाने के लिए अपितु शम् प्राप्ति के लिए भी किया गया है। अनेक स्थलो पर

रुद्र की रोगनिवारक शक्ति का भी उल्लेख मिलता है। यह औषधि भी देता है; प्रत्येक औषधि का शासक है और सहस्रों औषधियां रखता है (7.46.3)। इसका हाथ यशस्कर और पीयूषमय (2.33.7) है। इसकी सौख्यकारी औषधियों के द्वारा इसके उपासक 'शतहिमा:' तक जीवित रहने की आशा करते है (2.33.2)। इससे प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासको के परिवारो से रोगो को दूर रखे, द्विपदो और चतुष्पदों के प्रति मीठा बनकर रहे जिससे ग्रामवासी सुपुष्ट और अनातुर बने रहे (1.114.1)। रुद्र के लिए दो विशेषण 'जलाष' और 'जलाषभेषज' भी प्रयुक्त किये गये है (1.34.4)। रुद्र की विद्युत् और उसकी भेषजो का एक मन्त्र मे साथ-साथ उल्लेख किया गया है (7.46.3)।

रुद्र का प्राकृतिक आधार स्पष्ट नही है। सामान्यतः इसे तूफान का देवता समझा जाता है। लेकिन यह प्रतीत होता है कि रुद्र मूलत: तूफान के शुचि एवं भद्र पक्ष के नही अपितु उसके घातक वैद्युत् पक्ष के प्रतिरूप थे। इसके दया-प्रवण एव भैषज्य कार्यो के आधार अशतः तूफान के प्रशामक और भूमि को उप-जाऊ बनाने वाले व्यापार रहे होंगे। कुछ इसी प्रकार की प्रक्रिया ने क्रोध प्रशम-नार्थ की गई प्रार्थनाओ द्वारा इसके सौख्यपरक 'शिव' विशेषण को जन्म दिया होगा जो कि आगे चलकर रुद्र के ऐतिहासिक उत्तराधिकारी देवता के रूप में वेदोत्तर-कालीन गाथा मे परिनिष्ठित नाम बनकर देश के सम्मुख आया है।

अर्थ की दृष्टि से रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। सामान्यतया इस शब्द की व्युत्पत्ति √रुद् 'चिल्लाना' से की जाती है जिससे इसका अर्थ होता है 'चिल्लानेवाला'।

पर्जन्य—ऋग्वेद में पर्जन्य का स्थान गौण है। केवल तीन सूक्तो मे पर्जन्य की स्तुति की गई है। यद्यपि पर्जन्य शब्द का शाब्दिक अर्थ 'बरसनेवाला बादल' किया जाता है तथापि इस शब्द से विग्रहवान् देवता का बोध होता है, जो मेघो का अधिष्ठाता है। अतः समय-समय पर पर्जन्य ऊधस्, कोश या दृति (5.83.7,8) भी बन जाता है। पर्जन्य को अनेक बार वृषभ कहा गया है अतः यह पशु मानवीय है। द्रुतगति से बरसने वाली बूंदो के कारण पर्जन्य एक वृषभ है जो वीरुधो मे वीर्य का निधान करता है (5.83.1)। वायु के द्वारा प्रेरित होने पर अभ्र परस्पर मिल जाते है और नभस्वान् वृषभ के धारापाती सलिल धरती को तर कर देते है (4.15.1)। कभी-कभी पर्जन्य को 'स्तरी गौ' भी कहा गया है (7.1.3)। कभी यह गर्भ धारण करने के योग्य होता है और कभी-कभी यह अपने शरीर को तिरोहित कर लेता है।

दृष्टि इसकी सबसे प्रमुख विशेषता है। यह जलमय रथ पर चढकर चारो ओर दौड़ता है और जल-दृति को खोलकर पानी को नीचे उड़ेल देता है। अपने अश्वो को हांकने वाले सारथी के समान यह अपने वृष्टि-दूतो को प्रकट करता है। जब

वह धारा में पानी वरसाता है तव सिंह के गर्जन के साथ वृष्टि करता हुआ आता है (5.83.3)। इससे वर्षा करने की प्रार्थना की गई है और उचित वर्षा के वाद इससे अपने वादलों की मशक को रोक लेने का भी अनुनय किया गया है (5. 83.10)। यह जल दिन-प्रतिदिन घटता-वढ़ता रहता है। वर्षुक पर्जन्य भूमि को उपजाऊ वनाता है। पर्जन्य अपने वारिवाह जलधरो के द्वारा पृथिवी को आप्लावित कर देता है और दिन में भी अन्धकार का घमासान मचा देता है (1.38.9)। वह द्युलोक के अखण्ड कोश को उड़ेलता है, दोनों लोकों के मध्य से मेघो को भगाता है, वर्षा नीरस भूमि में समा जाती है (5.53.6)। इसके गरजने का भी अनेक वार वर्णन किया गया है । गरजते हुए यह वनस्पतियो, दानवों और पापियो को मार गिराता है। इसके दारुण अस्त्रो से सारा संसार भयभीत है (5.83.2)। विद्युत् के साथ इसका सम्पर्क है। जव पर्जन्य पृथिवी मे सत्त्व निधान करता है तव वायु वहती है और विद्युत् कौंधने लगती है (5.83.4)। वृष्टिदेव होने के कारण यह वनस्पति का उत्पादक और पोपक है। इसके वीर्य से पृथिवी सत्त्ववती वनती है और पौधे उग आते है। यह मानवो के पोपण के लिए ओपधि उत्पन्न करता है; ओपधियो को अंकुरित एवं पल्लवित करता है। इसकी देख-रेख मे वृक्षो पर भरपूर फल लगते हैं (7.101.1;5)। इसके प्रताप से घास उत्पन्न होती है। पर्जन्य केवल पौधों मे ही नहीं अपितु गौओं, अश्वों और स्त्रियों मे भी सत्त्वनिधान करता है। (7.102.2)। चर और अचर की आत्मा इसी मे है (7.101.6)। एकच्छत्र सम्राट् के रूप मे यह सम्पूर्ण जगत् पर शासन करता है, इसी मे प्राणिजात और तीन स्वर्ग स्थित हैं और इसी मे तीनो प्रकार के जल प्रवाहित होते हैं (7.101. 2;3)। इसके उत्पादन-व्यापार को ध्यान मे रखकर कई वार उसे 'पिता' भी कहा गया है।

पृथिवी इसकी स्त्री कही गई है। एक वार इसे द्यौस् का पुत्र भी कहा गया है (7.102.1) और एक वार इसे सोम का पिता भी कहा गया है (9.82.3)। पर्जन्य का सम्वन्ध कुछ और देवताओ के साथ भी है। वात के साथ इसका निकट सम्वन्ध है। अनेक स्थानो पर अग्नि-पर्जन्य का द्वन्द्व वात के साथ आया है। पर्जन्य के साथ मरुतो का भी आह्वान किया गया है (5.63 6)। मरुतों से प्रार्थना की गई है कि वे पर्जन्य के स्तोत्रो को गावें (4.15.4)। वृष्टि के प्रकरण मे इसकी तुलना इन्द्र के साथ की गई है। पर्जन्य शब्द की व्युत्पत्ति सन्देहास्पद है तथापि यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद मे पर्जन्य शब्द मेघ का विशेपण है और साथ मे मानवीकृत देव का भी वोधक है।

आप·—ऋग्वेद मे आपः के निमित्त चार सूक्त और कुछ स्वतन्त्र मन्त्र भी कहे गए हैं। कुछ मन्त्रो मे अन्य देवताओं के साथ भी इनका उल्लेख हुआ है। इन का मानवीकरण अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे ही है। इन्हे केवल माता, युवती

स्त्रियां, वरदात्री और यज्ञ मे आनेवाली देवियां कहा गया है। ये देवताओ का अनुगमन करने वाली देवियां हैं (7.47.3)। इन्द्र ने अपने वज्र से इनके लिए मार्ग वनाए हैं(7.47.4)। ये स्वप्न में भी इन्द्र के नियमों को नही तोड़ती। ये दिव्य हैं, नियमित रूप से अपने पथो पर वहती हैं और इनकी इस यात्रा का लक्ष्य समुद्र है (7.49.2)। इनके वर्णनों मे इस वात का भी उल्लेख किया गया है कि जहाँ कही देवता निवास करते हैं और जहां भी मित्र वरुण का अधिष्ठान है वही आपः रहती हैं। ये सूर्य के समीप हैं और सूर्य इनके साथ है। वरुण इनके मध्य मे विचरण करते हैं। माता के रूप में आपः अग्नि को उत्पन्न करती हैं। आपः माताएं हैं (10.17.10), भुवन की पत्नियां हैं, ये साथ-साथ वढ़ने वाली एवं समान योनि वाली हैं। इनसे प्रार्थना की गई है कि ये उशती माता के समान अपने शिवतम रस को हमे प्रदान करे। वे मातृतमा हैं और चराचर की जननी हैं (6 50.7)। आपः हमे शुद्ध एवं सुसंस्कृत वनाती हैं। ये देवियां अशेष दोषो को दुराती हैं। याज्ञिक लोग इनके मध्य में से शुचि एव शुद्ध वनकर निकलते हैं। दुरितो, अभिद्रोहो, अभिशाप और अनृत से भी मुक्त करने के लिए इनका आह्वान किया गया है (1.23.22)। ये भेषजमयी हैं। ये हमे भेषज देती हैं और दीर्घायु प्रदान करती हैं। गृह मे भी ये मनुष्यो के स्वास्थ्य की देखभाल करती हैं, वर प्रदान करती है और धन वितरित करती हैं। सुशक्ति और अमृतत्त्व का दान देती है। इनसे वार-वार आशीर्वाद और सहायता के लिए प्रार्थना की गई है। सोमयाजियो के यज्ञो मे अपांनपात् के साथ दर्भ पर आ विराजने के लिए आपः को निमन्त्रित किया गया है (10.30.11)।

अनेक वार आप. का सम्वन्ध मधु के साथ भी वताया गया है। माता होने के कारण वे अपने क्षीर मे मधु मिलाती है। आपः की लहरे मधुपूर्ण हैं, घृत के साथ मिश्रित होने पर वह इन्द्र का पेय वन जाती है। इन्द्र को आपः ने ही मदमत्त किया था (7.47.1)। आप. से प्रार्थना की गई है कि वे इन्द्र के लिए—जिसने कि उन्हें वृत्र से वचाया है—मधुपूर्ण ऊर्मियां प्रवाहित करें (10.30.7)। यहा दिव्य आपः को दिव्य सोम से पूर्ण अथवा सोम के तद्रूप माना जाता था। जव ये घृत, दूध और मधु लेकर प्रकट होती हैं तव ये सोमनासी पुरोहित के अनुकूल हो जाती हैं। सोम को आप. मे वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा कि एक युवक को एक सुन्दर युवती मे। प्रणयी की भाति आप. सोम के समीप जाती हैं। आप. ऐसी युवतियां हैं जो प्रणयी के सामने नत हो जाती हैं।

इनके अतिरिक्त अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओ मे मरुत्, वायु-वात, मातरिश्वा, अपानपात्, त्रितआप्त्य, अहिर्वुध्न्य और अजएकपाद् नामक देवता भी है। इनमे से सवसे प्रधान मरुत् हैं जो गण रूप मे रहते हैं। सूक्तो की सख्या की दृष्टि से इनका महत्त्व कम नही है। इनका उल्लेख सदा वहुवचन मे हुआ है। इनके प्रधान कार्यों

में से एक वर्षा लाना है। इनका सम्बन्ध रुद्र के साथ वर्णित किया गया है। इनके लिए रुद्रीयः तथा 'पृश्निमातरः' विशेषणो का प्रयोग हुआ है। इन्हे 'दिवस्पुत्रासः' 'दिवो नर.' और 'दिवो मर्याः' भी कहा गया है। एक स्थान पर इन्हे 'सिन्धुमातरः भी कहा गया है।

वरुण—ऋग्वेद में अग्नि और इन्द्र की महत्ता को मापने के लिए हमारा ध्यान उन सूक्तों की सख्या की ओर जाता है जिनमें उनके गुणो का या उनकी महिमा का वर्णन किया गया है। यदि सूक्तो की संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो वरुण शायद विष्णु और अश्विनो से भी नीचे मरुद्गणो की पंक्ति मे खड़ा हुआ दिखाई देगा। यद्यपि अन्य देवताओ की तरह उसके शरीर के अंगों का भी वर्णन ऋग्वेद में विद्य-मान है पर वरुण की महत्ता उसके मानवीय और शारीरिक पक्ष की अपेक्षा नैतिक पक्ष मे अधिक विकसित हुई है। ऋग्वेद के जिन देवताओ के साथ वरुण का वर्णन एकाधिक बार हुआ है उनमें मित्र और अर्यमा विशेष है। ऋग्वेद के ऋषि ने उसके मुख का दर्शन अग्नि के रूप में किया है (7.82.2)। मित्र और वरुण दोनों का ही नेत्र सूर्यदेव है—'चक्षु'र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः' (1.115.1)। वरुण जिस नेत्र के द्वारा मानवजाति का सर्वेक्षण करते है वह निश्चय से सूर्य ही प्रतीत होता है (1.50.6)। अर्यमा के साथ मित्र और वरुण को 'सूरचक्षसः' कहा गया है। वरुण को सूदूर द्रष्टा और सहस्रचक्षु कहा गया है (7.34.10)। वह मित्र और अर्यमा के साथ यज्ञ मे बिछाई हुई कुशा घास पर बैठता है और सोमपान करता है (1.26.4; 5.72.10)। आलङ्कारिक रूप मे मित्र और वरुण ने घृत का चमकता हुआ वस्त्र पहना हुआ है (5.62.4; 7.64.1)। वरुण के उपकरणो मे उसका रथ और उसके पाश महत्वपूर्ण है। वरुण के रथ को अच्छी प्रकार जुते हुए घोड़े खीचते हैं (5.62.4)। मित्र और वरुण का स्वर्णिम आवास स्वर्ग मे है (5.63.1)। अपने भवन में बैठकर वरुण सबके कार्य-कलाप का निरीक्षण करता है (1.25.10), उसका यह भवन बहुत ही ऊचा है और हजारो खम्भो पर टिका हुआ है। उस घर के दरवाजे भी सहस्र हैं (5.68.5; 2.41.5; 7.88.5)। ऋषि ने कल्पना की है कि सर्वदर्शी सूर्य मानवों के कार्य-कलाप की सूचना देने के लिए वरुण के आवास पर जाता है (7.60.1;3)।

स्थान-स्थान पर वरुण के गुप्तचरो (स्पशः) का वर्णन मिलता है। ये गुप्तचर वरुण के चारों ओर बैठकर दोनो भवनो का निरीक्षण करते हैं (7.87.3)। यद्यपि अथर्ववेद में पहुचकर ये स्पश् वरुण के पास ही रह गये है पर ऋग्वेद मे तो वे अग्नि (4.4.3), सोम (9.73.4;7) तथा देवताओ के चारों ओर भी विद्यमान बताये गये हैं (10.10.8)। देवताओ मे यम की तरह वह एकाकी भी है और मित्र के साथ उसे राजा भी कहा गया है (1.24.7;8)। वह केवल मनुष्यो का ही नही देवताओ का (10.132.4), समस्त ससार का और सभीसत्ताओ का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शासक

है (2.27.10)। इन्द्र का एक विशेषण 'स्वराट्' प्रयुक्त किया है परन्तु उससे कई बार अधिक यह विशेषण अकेले वरुण और मित्र के साथ प्रयुक्त हुआ है। एक अन्य विशेषण—जो आया तो इन्द्र के लिए है परन्तु वरुण के लिए अधिक प्रयुक्त है—'क्षत्र' है। ऐसा ही एक विशेषण 'असुर' है जो यद्यपि इन्द्र और अग्नि के साथ भी आया है पर वरुण के साथ अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। वरुण के विशेषणो में एक अन्य विशेषण 'मायी' है (5.85.5, 5.63.4; 7.28.4; 10.99.10)। इस शब्द का अर्थ पीछे के वैदिक साहित्य मे प्रसिद्ध मायी शब्द से भिन्न है। 'माया' का तात्पर्य 'मानसिक शक्ति' से है। वरुण के साथ इसका प्रयोग अच्छे अर्थ मे और दानवो के साथ बुरे अर्थ मे हुआ है। माया के द्वारा वरुण वायु मे उत्तान होकर सूर्य रूपी मापदण्ड से पृथिवी को मापता है (5.85.5)।

वरुण के साथ गाथाओ का सम्बन्ध बिल्कुल भी नही है। वह मित्र के साथ भौतिक एव नैतिक व्रतो को सचालित करता है। द्युलोक एवं पृथिवी लोक को स्थिर करता है (8.42.1)। इस वरुण मे तीनो द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक निहित है (7.87.5)। वरुण ने सोने के एक दिव्य झूले को द्युलोक मे झुलाया हुआ है। उसने अग्नि को जल मे, सूर्य को आकाश मे और सोम को अश्मा पर स्थापित किया है। सूर्य के भ्रमण के लिए मित्र और अर्यमा के साथ मिलकर वरुण ने मार्ग का निर्माण किया है (7.60.4)। वरुण के व्रत के कारण यह प्रकाशमान चन्द्रमा रात्रि मे विचरता है और अंधकार मे टिमटिमाने वाले तारे उसी के व्रत से दिन मे छिप जाते है (1.24.10)। वरुण रात और दिन को नियमित एव विभक्त करता है (7.66.11)। वह ऋतुओ का नियमन करता है और बारह मासो को जानता है (1.26.8)। एक महान् शक्तिशाली सम्राट् के समान वह अपने सखा—'मित्र' और 'अर्यमा'—के साथ द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन-रात, मास, ऋतु आदि सबको बनाता है और धारण करता है (6.70.1; 5.62.3; 5.69.1)।

वरुण को ऋग्वेद मे जलो का शासक कहा गया है, उसने सरिताओ को प्रवाहित किया है जो उसके ऋत का पालन करती हुई निरन्तर बहती रहती है। (2.28.4)। मित्र के साथ उसे सरिताओ का पति कहा गया है। समुद्र के साथ वरुण का सम्बन्ध ऋग्वेद से जुड़ा हुआ है। वह समुद्र से दूर चली जाने वाली नौकाओ को जानता है (8.41.8,1.25.7)। समुद्र और सरिताओ के अतिरिक्त उसका सम्बन्ध जल बरसाने के साथ भी है। वह (बादलो की) मशक से द्युलोक, पृथिवी और अतरिक्ष मे जल छिड़कता है। उसके पास वर्षाभरित आकाश और प्रवहमान सलिल है (5.68.5)। उसके यहां से दिव्य जल से परिप्लुत वर्षा आती है। वह चरागाहो पर घी बरसाता है। ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त मे उसकी वर्षणशक्ति का गुणगान किया गया है (5.63)।

नैतिक शासक होने के कारण वह सभी देवताओ से कही ऊंचा है। पाप कर्म और व्रतो का उल्लंघन करने से वरुण को क्रोध चढ़ता है और वह ऐसा करने वालों को जलोदर का कड़ा दंड देता है (7.86.3;4)। वरुण के पाश झूठो को घर बांधते हैं और सत्यवादी को छूते तक नही हैं (4.16.6)। वह ऋत का गोप्ता है (1.2.8), सर्वज्ञ है, सभी गुप्त वस्तुओ को, जो हो चुकी हैं या होने वाली हैं—वह देखता है। वह मानवजात का सत्य और अनृत का चितेरा है (7.49.3)। उसके विना कोई प्राणी पलक नहीं मार सकता। उसके पास 100 और कही-कही इससे भी बढ़कर 1000 औषधियां हैं। इनसे वह मृत्यु को जीतता है और भक्तो का पापभञ्जन करता है (1.24.9)। यह जीवन का अन्त कर सकता है और चाहे तो इसे बढ़ा भी सकता है। वह अमृत का सिद्धहस्त रक्षक है।

सायणाचार्य इसकी व्युत्पत्ति √वृ धातु से मानता हुआ इसका अर्थ 'आवृत करने वाला' या 'दुष्टो को अपने बन्धन मे बांधने वाला' करता है।

विष्णु—विष्णु का स्थान ऋग्वेद मे गौण देवता के रूप मे है। इससे सम्बन्धित ऋग्वेद मे केवल पांच सम्पूर्ण सूक्त हैं। इसकी मानव शरीर सम्बन्धी विशेषताएं—इसके 'क्रमण', 'बृहच्छरीर' तथा 'युवा-कुमार' आदि विशेषणो से उल्लिखित हैं (1.155.2)। इसके चरित्र की महान् विशेषता इसके तीन 'पद' हैं जिसका संकेत लगभग 12 वार हुआ है। इसके लिए 'उरुगाय' और 'उरुक्रम' विशेषण भी प्रयुक्त किये गये हैं जिनका सकेत भी इसके तीन पद की ओर ही है। यह अपने तीनों पदों द्वारा पार्थिव लोको की परिक्रमा करता है। इनमे से दो पद तो मनुष्य को दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु तीसरा या सर्वोच्च पद पक्षियो की उड़ान और मर्त्य-चक्षु के उस पार है (1.155.5)। यह अपना तीसरा नाम प्रकाशमय द्युलोक मे धारण करता है। इसका उच्चतम 'पद' अग्नि के उच्चतम पद के समान ही माना गया है क्योकि यह अग्नि के उच्चतम तृतीय पद की रक्षा करता है, यद्यपि दूसरी ओर अग्नि भी उसके उत्तम पद के द्वारा रहस्यात्मक गौओ की रक्षा करता है (5.3.3)। इसका उत्तम 'पद' उदार मनुष्यों के लिए द्युलोक मे स्थित चक्षु के समान है (1.22.20)। यह इसका प्रिय निवास-स्थान है जहाँ उपासक रमते हैं। वही देवताओं का उद्गम है, वही देवता आनन्द लेते हैं (8.29.7, 1.154.5)। यह उत्तम 'पद' नीचे की ओर चमकता है जहाँ अनेक, न थकने वाली भूरिश्रृङ्ग गौएं विचरण करती हैं। वहीं इन्द्र तथा विष्णु का आवास है। इन तीन पदो मे ही सारे भुवन निवास करते हैं। यह पद मधु से परिपूर्ण है। वह उत्तम आवास की रक्षा करता है। यही आवास इसका प्रिय निवास-स्थान है (1.154.5)। उसके तीन पद निस्सदेह सूर्य-पथ के बोधक हैं। मैक्डॉनल के अनुसार इन तीन पदों से सौर-देवता के तीन लोको—पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग—में से होकर जाने का मार्ग अभिप्रेत है। उसकी मुख्य विशेषता

गति है। विष्णु ने चक्कर काटते हुए चक्र की भाँति अपने नव्वे घोड़ों (दिनों) को उनके चार नामों (ऋतुओ) के साथ गति दी। इस उक्ति का संकेत तीन सौ साठ दिनो के वर्ष के अतिरिक्त किसी और तथ्य की ओर होना कठिन है। सूर्य के साथ उसकी समानता शीघ्रता से चलने वाले ज्योतिष्पुञ्ज के रूप मे है जोकि अपने विस्तृत क्रमण से सम्पूर्ण संसार की परिक्रमा करता है। विष्णु ने अपने तीन पद पीडित मनु के लिए, पृथिवी पर मनुष्यो का निवास-स्थान स्थापित करने के लिए और जीवन को उरु-गाय वनाने के लिए उठाए (7.100.4)। इन्द्र के साथ इसने 'उरु-क्रमण' किया और मानव जीवन के लिए अन्तरिक्ष एव लोको को विस्तृत वनाया। इसके चरित्र की दूसरी मुख्य विशेषता इन्द्र के साथ मित्रता है। एक सम्पूर्ण सूक्त मे यह दोनो देवता-युग्म के रूप मे आए हैं। इन्द्र का नाम विष्णु के साथ युग्म रूप मे उतनी ही वार आता है जितनी बार सोम के साथ आता है।

विष्णु के निमित्त कहे गए सूक्तों मे इन्द्र ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उसके साथ आया है (7.99.5)। विष्णु ने अपने तीन पदों का क्रमण इन्द्र की ही शक्ति के द्वारा किया है। वृत्रवध के कार्य मे वह बार-बार इन्द्र का सहयोगी बना है। वृत्रवध से पूर्व इन्द्र कहता है कि "सखा विष्णु! लम्बे-लम्बे डग धरो (4.18.11)।" विष्णु के साथ इन्द्र ने वृत्र की हत्या की। उसने और इन्द्र ने एक साथ उस पर विजय प्राप्त की, शम्बर के निन्यानवे किलो को तोड़ा और वर्चिन के साथियों को धराशायी किया (7.99.4,5)। यह इन्द्र का सहज मित्र है। अपने मित्र के साथ यह गौओ के घेरे को खोलता है (1.156.4)। इन्द्र के साथ युग्म मे आकर यह उसकी सोमपान शक्ति को और उसकी विजयो को अंशतः अपना लेता है। इन्द्र भी कभी-कभी इसकी पद-क्रमण शक्ति को अपना लेता है। दोनो को साथ ही अन्तरिक्ष का विस्तार, लोकों का प्रथन तथा सूर्य, उषस् और अग्नि के उत्पादन के कार्य सौंपे गए है। इस मित्रता के कारण ही इन्द्र विष्णु के समीप सोमपान करता है और इस प्रकार उसकी वृष्ण्य शक्ति को बढाता है (8.3.8)। इन्द्र ने विष्णु के द्वारा तीन प्यालो में सोम का पान किया, ये प्याले विष्णु के मधुपूर्ण तीन पदो का स्मरण दिलाते हैं। इसके अतिरिक्त एक सम्पूर्ण सूक्त मे वह मरुतो के साथ सम्बद्ध है।

विष्णु के विभिन्न रूप हैं जैसा कि ऋग्वेद के एक मन्त्र मे उल्लेख किया गया है: "तू हमसे इन रूपो को मत छिपा क्योकि युद्ध में तूने एक दूसरा ही रूप धारण किया था।" आगे चलकर इसे गर्भों का रक्षक भी कहा गया है। विष्णु के अन्य गुण निम्न हैं—वह 'सुकृत्तर' है, 'वरिष्ठ दाता' है, 'उदार' है, 'सरक्षक' है, 'अदाभ्य' है, 'अवृक' और 'उदार दानी' है (1.22.18)। इसने ही पृथिवी, द्युलोक और अशेष भुवनों को धारण किया हुआ है (1.155.4)। इसने विश्व

को चारों ओर खूंटियो से पक्का बिठाया है, यह वेधस् है। संभवतः विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति ✓ विप् से हुई हो और जिसका मौलिक अर्थ है—गतिशील होना। अतः विष्णु का अर्थ होगा—गतिमान्।

पूषन्—ऋग्वेद के आठ सूक्तों में पूषन् देवता का उल्लेख हुआ है। ये आठ सूक्त—पांच, छठे मण्डल मे, दो, प्रथम मे और एक, दसवें मण्डल मे हैं। इसका व्यक्तित्व अस्पष्ट और इसकी मानवीय आकार सम्बन्धी विशेषताएँ अल्प हैं। इसके पैर का उल्लेख हुआ है; इसके दाहिने हाथ का भी उल्लेख मिलता है (6.54.10)। इसके बाल घुघराले हैं; इसकी दाढी भी है (10.26.7)। इसके हाथ मे सुनहरी वाशी (बर्छी) है; इसके पास नोकदार आर (6.53.9) और अष्ट्रा (6.53.5) भी है। इसके रथ के चक्र, कोश, आसन का भी वर्णन किया गया है (6.54.3)। यह सर्वोत्तम सारथि माना गया है (6.56.2.3)। इसके रथ को अजाश्व (बकरे) खीचते हैं (1.138.4)। यह सभी जीवो को एक साथ स्पष्ट रूप से देख लेता है (3.62.9)। यह चर और अचर सभी वस्तुओ की आत्मा है। यह अपनी माता का ध्यान रखता है और अपनी बहन उषा से प्यार करता है। देवताओ ने प्रेम-विह्वल पूषा का सूर्या के साथ विवाह किया (6.58.4)। अत' वह विवाह-सूक्त मे विवाह के साथ सम्बन्धित है (10.85.26)। वहाँ इससे प्रार्थना की गई है कि वह दुल्हन का हाथ पकड़ कर उसे दूर ले जाए और उसके वैवाहिक जीवन को सुखमय बनाए। अपनी अन्तरिक्षस्थ जल मे चलने वाली स्वर्णिम नावों मे बैठकर यह प्रेम के वशीभूत होकर सूर्या का सन्देशवाहक बनता है। यह विश्व का निरीक्षण करता हुआ आगे बढता है, यह अपना निवास-स्थान द्युलोक को बनाता है। यह सविता की आज्ञा पर चलने वाला एक संरक्षक है। इसने सूर्य के स्वर्णिम चक्र को नीचे की ओर चलाया है (6.56.3)। अनेक बार इसके लिए 'आघृणि' विशेषण का प्रयोग किया गया है। पूषन् का जन्म द्युलोक और पृथिवी के सुदूर पथ पर हुआ है। यह अपने दोनों प्रिय आवास-स्थानो पर जाकर लौटता है और उन्हे जानता है (10.17.6)। अपने इसी ज्ञान के कारण ही यह मृतको को पितरों के सुदुर पथ पर ले जाता है जहाँ स्वयं पूषन् तथा देव-गण निवास करते हैं। वहाँ यह अपने उपासकों को सुरक्षापूर्वक मार्ग दिखाते हुए ले जाता है। मार्गों का ज्ञाता होने के कारण यह राजमार्गो का सरक्षक है। पूषन् से मार्गो के खतरों—भेड़ियों और डाकुओं को हटाने की प्रार्थना भी की जाती है (1.42.1-3)। अतः इसके लिए 'विमुचो नपात्' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है। इसे विमोचन भी कहा गया है। इससे पाप से मुक्ति दिलाने की भी प्रार्थना की जाती है। इससे शत्रुओं को तितर-बितर करने के लिए, मार्गो को 'वाजसाति' की ओर ले चलने के लिए (6.53.4), मार्गो को कल्याणकारी बनाने के लिए और अच्छे चरागाह तक ले जाने के लिए भी प्रार्थनाएँ की गई हैं। मार्ग

मे विनाश से रक्षा तक शुभ मार्ग दिखाने के लिए इसका आह्वान किया जाता है। यह प्रत्येक मार्ग का सरक्षक और स्वामी है। यह पथ-प्रदर्शक है। मार्ग का ज्ञाता होने के कारण यह गुप्त धन को प्रकट करता है और इसे सुलभ बनाता है। यह पशुओ के पीछे-पीछे चलता है, उनकी देख-भाल करता है। गड्ढे मे गिरने से लगी चोट से वह पशुओ को बचाता है (6.54.7,10, 6.58.2), उन्हे बिना घाव के घर पहुचाता है। खोए हुए पशुओ को पुन. खोज लाता है। इसका चाबुक पशुओ को सीधे रास्ते ले जाता है। यह घोड़ो की रक्षा करता है, भेड़ो के बालो से वस्त्र बुनता है तथा उन्हे पहनने योग्य बनाता है (10.26.6)।

इसके कुछ गुण अन्य देवताओं के गुणो के समान है। यह शक्तिशाली, ओजस्वी, तेजस्वी (8.4.15) सबल (1.138.1) तथा निर्बाध है। यह मर्त्यों से परे है, ऐश्वर्य मे देवताओ के समान है, वीरो का शासक है, अजेय सरक्षक है, युद्ध मे सहायक है (6.48.19), विश्व का रक्षक है। यह ऋषि, पुरोहित का रक्षक तथा उपासक का चिरकालीन ध्रुव मित्र, बुद्धिमान और उदार है। धन से सम्पन्न है। कल्याणप्रद-प्रदाता तथा सब प्रकार की स्वस्तियो का स्रोत है। रायस्पोष का दृढ मित्र है। भोजन का सजग वर्धक और स्वामी है (10.26.7)।

इन्द्र और सोम के साथ इसकी देवता-युग्म के रूप मे स्तुति की गई है। इन्द्र को पूषन् का भाई भी बताया गया है। इनके अतिरिक्त पूषन् का भग और विष्णु के साथ भी आह्वान किया गया है। ऋग्वेद के मन्त्रो से यह स्पष्ट नही है कि पूषन् किस प्राकृतिक दृश्य का प्रतिरूप है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से पूषन् शब्द का अर्थ है 'पोषक' क्योकि यह पोषणार्थक √पुष से निष्पन्न हुआ है।

सविता—ऋग्वेद के ग्यारह सम्पूर्ण सूक्तों और अनेक सूक्तों के मध्य मे सविता का उल्लेख हुआ है। यह मुख्य रूप से एक हिरण्यमय देवता है। हिरण्याक्ष (1.35.8), हिरण्यहस्त (1.35.10), हिरण्यजिह्व (6.71 3) विशेषणो का प्रयोग विशेष रूप से इसी के लिए किया गया है। यह हिरण्यबाहु, पृथु-पाणि, सुपाणि, मधुजिह्व और सुजिह्व भी है। इसके पास स्वर्णिम घोड़ो से युक्त स्वर्णिम रथ (1.35.2) है; इस रथ को दो चमकीले घोड़े अथवा इनसे अधिक बभ्रु वर्ण वाले और श्वेत चरणों वाले घोड़े खीचते हैं (1.35.3)। ओजस्, विभूति और सुनहरी गति मुख्यतः इसके गुण हैं। विभूति को यह सम्पूर्ण विश्व मे बिखेरता है। यह वायुलोक, द्यु लोक-पृथिवी और स्वर्ग को भासित करता है (4 14.2)। यह अपनी सशक्त हिरण्यमय बाहु को ऊपर उठाता है जिसके द्वारा यह सभी प्राणियो को आशीर्वाद देता है और उन्हें उद्‌बुद्ध करता है। इसका हाथ पृथिवी के अन्तिम भाग तक फैल जाता है। यह अश्विनो के रथ को उषस् के यहां आने के लिए प्रेरित करता है (1.34.10)। यह उषा की पद्धति के पीछे-पीछे चमकता है (5.81.2)। सूर्य-रश्मियो के साथ झिलमिलाते हुए हरिकेश

सविता देवता अपने प्रकाश को सतत रूप मे पूर्व की ओर से उदित करता है (10 139 1)। यह तीन वार पृथिवी के चारो ओर, तीन वार तीनों लोको के चारों ओर और तीन वार स्वर्ग के तीनो ज्योतिष्मान् लोकों के चारो ओर व्याप्त है (4.53.5)। इसके अन्तरिक्षस्थ सनातन मार्ग धूलि रहित और सुगम हैं। उपासको की रक्षा के लिए उन मार्गों पर इसकी प्रार्थना की जाती है। यह दुष्टात्माओ और यातुधानों को दूर भगाता है (1.35.10)। यह स्थिर नियमों का पालन करता है। जल और वायु उसके व्रतों के अनुसार चलते हैं। यह जलो का नेता है और उसकी प्रेरणा से ही जल प्रवाहित होते हैं। अन्य देवता इसके नेतृत्व का अनुगमन करते है। कोई भी प्राणी इसकी इच्छा का उल्लंघन नही कर सकता है। यह सम्पूर्ण विश्व का धर्ता है। इसने यन्त्रो से पृथिवी को स्थिर किया हुआ है और स्तम्भहीन शून्य मे आकाश को टाँगा हुआ है। एक मन्त्र मे सविता देवता से प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासको की, जो वरेण्य ज्योति का ध्यान करते है, धी या प्रज्ञा को प्रेरित करे। अनेक मन्त्रो मे सविया और सूर्य को एक ही देवता मानकर स्तुति की गई है। उदाहरणार्थ—'सविता देव ने अपनी ज्योति को ऊँचा उभारा है और इस प्रकार इसने समस्त लोक को प्र काशित किया है; सूर्य प्रखरता के साथ चमकते हुए द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्ष को अपनी किरणो से आपूरित कर रहा है (4.14.2)। इसके विपरीत कई मन्त्रो मे सविता को सूर्य से पृथक् माना गया है। सविता देवता द्युलोक और पृथिवी दोनो के मध्य से चलता है, वह रोगो को दूर भगाता है और सूर्य को प्रेरित करता है (1.35.9); वह मानवो को सूर्य के सामने निष्पाप घोषित करता है (10.123 30)। वह सूर्य की किरणो के साथ सम्मिलित होता है या वह सूर्य की किरणो से चमकता है (5.81.4)। इन सभी स्थलो पर सविता को सूर्य से पृथक् देवता माना गया है।

सविता देवता का सम्बन्ध प्रात काल व सायकाल दोनो से ही है। यह सभी द्विपदों और चतुष्पदो को सुलाता और जागृत करता है। यह अपने अश्वों को उन्मुक्त कर देता है और पथिको को आराम देता है। इसकी आज्ञा से रात्रि आती है (12 3 8.3)। सवितृ शब्द की व्युत्पत्ति √सु प्रेरित करना धातु से हुई है।

उपस्—प्रात.काल की अधिष्ठात्री देवी उपस् की ऋग्वेद के लगभग 20 सूक्तो मे स्तुति की गई है। उपादेवी की विग्रहवत्ता यद्यपि स्वल्प है तथापि इसका आधारभूत दृश्य कवि के दिमाग मे सदैव उपस्थित रहता है। उपस् की रचना वैदिक काल की सबसे मनोरथ कल्पना है। संसार के किसी अन्य साहित्य मे उषा का इससे अधिक आकर्षक चित्रण नही मिलता। अपने शरीर को शुभ्र वस्त्रो मे आवृत करके यह नर्तकी के समान प्रदर्शन करती है (6.64.2)।

अपनी माता द्वारा प्रसाधित कुमारी के समान अपनी छवि फैलाती है। प्रकाश के वस्त्र पहन कर यह पूर्व दिशा मे प्रकट होती है तथा अपनी आकर्षक छवि को अनावृत करती है (1.12.3)। स्नान करके झिलमिल करती हुई उदित होकर, अपने सौन्दर्य को प्रदर्शित करती हुई यह अन्धकार को दूर भगाती है और प्रकाश के साथ उतरती है (5.80.5,6)। यद्यपि यह पुरानी है तथापि बार-बार उत्पन्न होने के कारण सदा युवती है (1.92.10)। अक्षुण्ण-रूप वर्ण से चमचमाती हुई यह मर्त्यों के जीवन को ढालती है। यह अजर है, अमर है। बार-बार आती हुई यह संसार मे सबसे पहले जाग जाती है। चक्र की भाँति यह लगातार चक्कर काटती रहती है। यह जगत् को प्रबुद्ध करती है, पक्षियों को उठने के लिए उकसाती है, यह सभी भुवनों का जीवन है, यह सब प्राणियो का प्राण है। जब उषा चमकती है तब पक्षी अपने घोंसले से उड़ जाते हैं और मनुष्य भोजन की खोज मे निकल पड़ते हैं (1.124.12)। यह सभी प्राणियों को प्रकट करती है और सभी के लिए नवजीवन लाती है। जागने पर यह आकाश के छोरों को झिलमिला देती है, स्वर्ग के द्वार खोल देती है। यह दुःस्वपनों को दूर भगाती है, रात्रि के कृष्ण वस्त्र का अपसारण करती है, तथा अन्धकार को दूर हटाती है (6.64.3) अन्धकार में छिपे हुए धन को प्रकट करती है और उसे उदारता से बाँटती है (1.123.6)। इसकी लाल किरणें ऊपर को उड़ती हैं। लाल उषाएं मानो चिरकाल से वही वस्त्र बुन रही है जिसे ये पहले से बुनती आ रही हैं। प्रतिदिन यह निश्चित बिन्दु पर ही उतरती है, कभी भी ऋत एवं देवताओं के विधान का उल्लंघन नहीं करती है। यह ऋत के मार्ग पर सीधी जाती है। ऋत के पथ से परिचित होने के कारण यह कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होती है (5.80.4)। सभी उपासकों को जगा कर और यज्ञाग्नि को संदीप्त करा कर यह देवताओं का अत्यन्त उपकार करती है। यह देवताओं को सोमपान के लिए लाती है। देवता उषा के साथ जागते हैं। यह झिलमिलाते, प्रभासम्पन्न, चन्द्रवर्ण (3.61.2), सुपेशस् (1.49.2), विश्वपिस् (7.75.6), बृहत् और स्वयंयुक्त रथ पर चढ़कर चलती है। इसके रथ को लाल, सुयमित और ठीक ढंग से जोड़े हुए घोड़े खींचते हैं। लाल गौओं द्वारा भी इसके खींचे जाने का वर्णन मिलता है। ये घोड़े और गौएं प्रातःकालीन प्रकाश की लाल किरणो के प्रतिरूप माने गये हैं। यह एक दिन मे तीन योजन का मार्ग तय कर लेती है (1.123.8)।

उषस् का सूर्य के साथ निकट का सम्बन्ध है। इसने सूर्य के मार्ग को उसकी यात्रा के लिए खोला है (1.113.16)। यह देवताओं के नयन को लाती है और उसके सुन्दर श्वेत अश्वों को आगे ले चलती है। यह सूर्य के प्रकाश द्वारा तथा अपने प्रेमी के प्रकाश से चमकती है। सूर्य उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है जिस प्रकार एक युवक अपनी प्रेयसी के पीछे-पीछे चलता है (1.115.2)। जो

देवता इसकी कामना करता है यह उसी से मिलती है। यह सूर्य की पत्नी है (7.75.5), भग की वहिन है, वरुण की जामि है (1.123.5)। यह रात्रि की भी वहिन अथवा वडी वहिन है (1.113.2)। इन दोनो के नाम प्रायः द्वन्द्व समास (उपासानक्ता या नक्तोपासा) मे आता है। यह आकाश मे उत्पन्न होती है और 'दिव. दुहिता' कही गई है (1.30.22)।

यज्ञाग्नि नियमित रूप से उपस् काल मे समिद्ध होती है अत: उपा का अग्नि के साथ सहज ही सम्बन्ध हो जाता है। यह अग्नि को समिद्ध कराती है। इस प्रकार सूर्य की भाँति अग्नि को भी उपस् का जार कहा गया है (10.3.3)। उसके आगमन के समय अग्नि उससे मिलने के लिए जाता है। उपस् का सम्बन्ध प्रात:काल के युगल देवता अश्विनौ के साथ भी है (1.44.2)। वे इसके साथ चलते हैं, वे इसके मित्र है। वे उपा के द्वारा जगाए जाते हैं। जब अश्विनौ का रथ जुडता है तव 'दिवोदुहिता' उत्पन्न होती है (10.39.2)। यह उपासक को धन और सन्तान से सम्पन्न करती है, सुरक्षा और दीर्घ जीवन प्रदान करती है, कवि को, और उदार सूरियो को यश-वैभव से सम्पन्न करती है (1.48.1)। उपासक इसमे कामना करते हैं कि यह उन्हे सम्पत्ति प्रदान करे और वे इसके साथ ऐसा ही व्यवहार करे जैसा कि पुत्र माता के प्रति करते हैं (7.81.4)। मृत मनुष्यों की आत्मा सूर्य और उपस् मे जाती है। वह प्रभावती, ज्योतिष्मती रोचमाना, हिरण्यवर्णा, ऋतज्ञाता और मघोनी है। उपस् नाम की व्युत्पत्ति √वस्-चमकना धातु से हुई है और उसकी यह आकृति इससे सम्बन्धित सूक्तो मे वहुलता से प्रयोग की गई है।

अश्विनौ—ऋग्वेद मे इन्द्र, अग्नि और सोम के वाद युगल देवता अश्विनौ का स्थान है। इनको लक्ष्य करके निर्मित सूक्तो की सख्या 50 से अधिक है। इनके साथ जितनी गाथाएं जुडी हुई है वे इन्हे चमत्कारकारक देवताओ के रूप में उपस्थित करती है। इनका भौतिक जगत् मे क्या स्थान था यह अस्पष्ट है और इसलिए इनके मौलिक स्वरूप का निर्धारण करना यास्क के समय से ही एक पहेली वनी हुई है—'तत् कौ अश्विनौ? "द्यावापृथिव्यौ" इत्येके। "अहोरात्रौ"—इत्येके। "सूर्याचन्द्रमसौ"—इत्येके। "राजानौ पुण्यकृतौ"—इति ऐतिहासिकाः। तयोः कालः ऊर्ध्वम् अर्द्धरात्रात् प्रकाशीभावस्य अनुविष्टम्भम्, अनु तमोभागो हि मध्यमः, ज्योतिर्भागः आदित्यः।' (निरुक्त 12.1)। ऐसी परिस्थिति मे उनके मूल स्वरूप के विषय मे अनिश्चितता को स्वीकार करना अधिक तर्कसगत है अपेक्षा इसके कि विविध प्रकार के वर्णनो की पहेलियो मे से विना किसी स्पष्ट प्रमाण के उनके किसी एक रूप को निर्धारित कर दिया जाए। इस दृष्टिकोण की पुष्टि ऋग्वेद के आगे आनेवाले मन्त्राशो से की जा सकती है जहाँ एक स्थान पर इन्हे यमल और एक साथ रहने वाले बताया गया है—

यमा चिदत्र यमसूरसूत (ऋ० 3 39.3) वही अन्यत्र उनके पृथक्-पृथक् होने का सकेत मिलता है—नाना जानावरेपसा (ऋ० 5.73.4) इहेह जाता समवावशीता-मरेपसा तन्वा ३' नामभि. स्वैः। जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे (ऋ० 1.181.4)। निरुक्त मे भी कहा गया है—नासात्यो अन्य उच्यते। उषस् पुत्रस्त्वन्यः (12.2)।

अश्विनौ के निवासस्थान का भी पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है। कही वे सुदूर से ऋ० (8.50.3) कही द्युलोक से (8.8.7), पृथिवी और द्यु से, द्युलोक और अन्तरिक्ष से (ऋ० 8.9.2), वायुलोक (8.8.3), पृथिवी, द्युलोक और समुद्र से (8.10.1), पीछे, सामने, नीचे और ऊपर से (7.72.5) आते हुए बताये हैं। अश्विनौ युवा है 'न मे हवमा शृणुत युवाना' (7.67.10), वे हिरण्यज्योति वाले हैं, प्रकाशमान हैं। उनके अनेक रूप हैं— पुरूवर्पांस्यश्विना दधाना (1.117.9)। वे कमलो की माला पहनते है—आ धत्ता पुष्करस्रजो (3.22.4)। अश्विनी देवताओ के दो विशिष्ट विशेषण है जिनमे से एक 'दस्र' और दूसरा 'नासत्य' है। अन्य दूसरे देवताओ की अपेक्षा अश्विनौ का सम्बन्ध मधु के साथ अधिक बताया गया है। उनके पास एक चर्म का बर्तन है जो मधु से पूर्ण रहता है—दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना (4.45.3)। इन्होने मधु से पूर्ण 100 घड़ो से सिञ्चन किया—शत कुम्भाँ असिञ्चत मधूनाम् (1.117.6)। अन्य देवताओ के समान अश्विनौ भी सोमपान करने के इच्छुक रहते है। उषस् और सूर्य के साथ (ऋ० 8.35.1) मे सोमपान के लिए इनका आह्वान किया गया है।

अन्य देवताओ के समान ये भी रथ पर चढ़कर आते है। इनका रथ और उस रथ के सभी अवयव स्वर्ण निर्मित है। ऋ० 4 44.5 मे हिरण्ययेन सुवृता रथेन और 8.5 29 मे हिरण्ययी वा रभिरीषा अक्षो हिरण्ययः। उभा चक्रा हिरण्यया तथा 8.5.28 मे रथ हिरण्यवन्धुर हिरण्याभीशुमश्विना' इस रूप मे उनके रथ का वर्णन है। इनके रथ का निर्माण ऋभुओ ने किया था—रथ य वामृभवश्चक्रुरश्विना (10.39.12)। इनके रथ को खीचने वाले घोड़े तो है ही परन्तु उनके अतिरिक्त हस, श्येन आदि पक्षियो को भी उनके रथ को खीचने वाला बताया गया है। ऋग्वेद 1.34.9 और 1.116.2 मे अश्विनौ के रथ मे जुतने वाले रासभो का भी वर्णन है। ऐतरेय ब्राह्मण मे भी स्पष्ट वर्णन है कि गर्दभ-युक्त रथ के द्वारा अश्विनौ ने विजय प्राप्त की—'गर्दभयुक्त-रथेनाश्विना उदजय-ताम् (ऐ० ब्रा० 4.7.9)।

ऋ० 1.116 और 117 मे एक ही स्थान पर अश्विनौ देवताओ के नाना चमत्कारो का वर्णन है। ये अपने रथ पर बैठकर विमद के लिए पत्नी को लाये। उन्होने तुग्र के पुत्र भुज्यु को बचाया जो समुद्र मे डूब रहा था। अपनी सौ चप्पुओं वाली नौका के द्वारा वे उसे टापूविहीन समुद्र के पार ले गये। भुज्यु के इस बचाव

में अपनी जिस नौका का अश्विनौ देवता ने प्रयोग किया अथवा जिस रथ का प्रयोग किया वह वर्णन भी अत्यन्त चमत्कारक है। यह नाव अभेद्य थी, स्वयं चलने वाली थी, यह सौ परों वाली थी और वायु में उड़ सकती थी (1.116 3-5)। इसी प्रकार इनके रथ के वर्णन में उसे शनपद और उड़ने वाले घोड़ों वाला बताया गया है। इन्होंने अघाश्व को श्वेत अश्व प्रदान किया था। स्तुति करते हुए पज्र कुलोत्पन्न पक्षीवत् को खोदकर खजाना दिया और घोड़े के खुर से सुरा के सौ घड़ों को उंडेलकर आनन्द में निमग्न कर दिया। अग्नि में तप्त गड्ढे में गिरे हुए अत्रि को, इन्होंने हिम द्वारा अग्नि को शान्त करके उसे सुरक्षित बाहर निकाल लिया। प्यासे गौतम को जल पिलाने के लिए उन्होंने एक कुएं को उलटा करके उडेल दिया जिसमें से निकलने वाली जलधाराओं से उसने अपनी प्यास बुझाई। वृद्ध हुए च्यवन के शरीर से सिकुड़ी हुई चमड़ी को उतार कर उसे पुनः यौवन प्रदान किया और उसे दीर्घजीवी बनाया। अपने पिता की 101 भेड़ें मारने वाले ऋज्राश्व को, जिसे उसके पिता ने अन्धा करके भेडिये के सामने फेंक दिया था, उसे दृष्टि प्रदान करके अश्विनौ ने उसकी रक्षा की। विश्पला को, जिसकी टांग युद्धस्थल में कट गई थी, इन्होंने लोहे की टांग प्रदान की। अथर्वन् के पुत्र दध्यङ् के कन्धे पर इन्होंने अश्व का सिर लगाया और उस मुख से उसने त्वष्टा को मधु का स्रोत बताया। इनका विवाह सूर्य की पुत्री सूर्या के साथ हुआ है जिसका वर्णन ऋग्वेद में नाना स्थलों पर हुआ है। सूर्या उनके रथ पर बैठकर गमन करती है। सूर्या का उनके रथ पर बैठकर उन दोनों के साथ चलना अश्विनौ की एक विशेषता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णित सूर्या सूक्त में इस बात का विशेष वर्णन है। इस प्रकार के अन्य भी कई चमत्कार अश्विनौ देवता के साथ जुड़े हुए हैं।

इस बात की ओर पहले इंगित किया जा चुका है कि अश्विनौ देवताओं का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। जिस प्रकार यास्क के समय में इनके विषय में विभिन्न मत प्रचलित थे उसी प्रकार वर्तमान में भी उन्हीं वर्णनों को आधार बनाकर पाश्चात्य विद्वानों ने इनके स्वरूप के विषय में नाना कल्पनाएं प्रस्तुत की हैं। गोल्डस्टुकर ने इनका सम्बन्ध अन्धकार और प्रकाश के बीच की अवस्था से माना है। यही मत मेरियान्थियस और हॉपकिन्स का है। हॉपकिन्स का विचार है कि यह युगल उषा-काल के पूर्ववर्ती धुँधले प्रकाश का प्रतिरूप है जिस समय आधा प्रकाश और आधा अन्धकार साथ-साथ अविभक्त रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इसीलिए इनमें से कोई एक द्यौ का पुत्र भी कहा गया है। अन्य विद्वानों के मत में अश्विनौ का तादात्म्य सूर्य और चन्द्र के साथ है। ओल्डनबर्ग के विचार में अश्विनौ का भौतिक आधार 'सुबह का तारा' रहा होगा क्योंकि अग्नि, उषस् और सूर्य के अतिरिक्त यही एक दूसरा प्रातः प्रकाश है। वेबर की दृष्टि में अश्विनौ देवता जैमिनी

तारामण्डल के युगल तारो के प्रतिरूप है। गैल्डनर का कहना है कि अश्विनौ किसी भी प्राकृतिक दृश्य के प्रतिरूप नही है अपितु ये दोनो देवता विपत्तिग्रस्त लोगों की सहायता करने वाले भारत के अपने दो सन्त है। इसी विवादास्पद स्थिति के कारण यह भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि ये दोनो देवता भारोपीय काल के है अथवा आर्यो के भारत के उत्तर-पश्चिम मे बस जाने के बाद स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए है।

यद्यपि द्युस्थानीय देवताओ मे उपरिर्वाणत देवताओ के अतिरिक्त द्यौ, मित्र, सूर्य, विवस्वान् और आदित्यगण आदि देवताओ का भी परिगणन किया गया है तथापि सूक्तो की सख्या की दृष्टि से इनका महत्त्व अधिक नही है इसलिए इन देवताओ के स्वरूप के विशिष्ट वर्णन की आवश्यकता नही है।

ऋग्वेद की विषय-वस्तु के प्रथम भाग पर विचार करने के पश्चात् अब विषय-वस्तु के शेष अन्य पहलुओ पर दृष्टिपात करना प्रासगिक होगा। इनका क्षेत्र विस्तृत और विविध है तथापि इन पर विचार करते समय हमे यह तथ्य ध्यान मे रखना चाहिए कि इन विविध विषयो के सूक्तो की सख्या पृथक्-पृथक् विषय की दृष्टि से अधिक नही है। होण्डा ने इन्हे निम्न शीर्षको मे विभाजित किया है—(1) आप्री सूक्त, (2) पौराणिक कथाए, (3) दन्तकथा, अनुश्रुति या आख्यान, (4) इतिहास, (5) पहेली, (6) मीमासात्मक या सैद्धान्तिक और दार्शनिक विषय, (7) जादू (यातु), (8) भावात्मक सौन्दर्य, (9) नैतिक सूक्तिया या नीतिवचन, (10) गीतिकाव्य, (11) गाथागीत, (12) प्रकृति-वर्णन, (13) पशु समुदाय, (14) श्रमिक गीत, (15) व्यग्य और हास्य, (16) दान-स्तुति। इनके अतिरिक्त याज्ञिक कविता, सवाद सूक्त, सामाजिक विषय तथा लौकिक विषय सम्बन्धी सूक्तो को इनके अन्तर्गत परिगणित किया जा सकना है। यह सत्य है कि इन उपर्युक्त शीर्षको के अन्तर्गत आने वाले सूक्त एकाधिक शीर्षको के अन्तर्गत परिगणित किये जा सकते है तथापि ऋग्वेद के विविध विषयो के स्वरूप को समीचीन रूप मे हृदयङ्गम करने के लिए उनको पृथक्-पृथक् शीर्षको मे विभाजित करके उन पर विचार करना सुबोधगम्य है।

ऋग्वेद मे एक विशेष प्रकार के सूक्तो को आप्री सूक्तो का नाम दिया गया है। ये सूक्त विशिष्ट देवताओ, असुरो अथवा एक ही देवता के विशिष्ट रूपो को जिनकी एक पृथक् देवता के रूप मे कल्पना की गई—तुष्ट करने के लिए या मनाने के लिए प्रयुक्त किये जाते थे। ये आप्री सूक्त पृथक्-पृथक् ऋषि सम्प्रदायो के अनुसार पृथक्-पृथक् माने गये है। उदाहरणार्थ—शौनक शाखा के अनुसार ऋग्वेद का 5 28, वसिष्ठ गोत्र के अनुसार ऋग्वेद का 7.2 तथा अन्यो के अनुसार ऋग्वेद का 10 110 इस प्रकार के सूक्त है। सायण ने ऋग्वेद 1.13 पर भाष्य करते हुए काण्व सम्प्रदाय के अनुसार 12 आप्री सूक्तों का नाम

गिनाया है। उसके अनुसार ये 12 पृथक् देवता हैं और इन्हें तुष्ट करने के लिए इन सूक्तों का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद मे केवल 10 आप्री सूक्त[24] गिनाये गये हैं। अग्नि के जिन रूपो को स्वतन्त्र देवता के नाम से गिनाया है वे इस प्रकार हैं—(1) इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा, (2) तनूनपात्, (3) नराशंसः, (4) इळः, (5) बर्हिः, (6) देवीर्द्वारः, (7) उषासानक्ता, (8) दैव्यो होतारो प्रचेतसौ, (9) तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः, (10) त्वष्टा, (11) वनस्पतिः, (12) स्वाहाकृतयः। आप्री सूक्तों का प्रयोग पशुयज्ञों में किया जाता था। इन सूक्तो में प्राय 11 या 12 मन्त्र हैं और इनका विनियोग देवताओं को यज्ञ में लाने के लिए अग्नि के उपर्युक्त नामों के साथ किया जाता था। चौथे या पांचवे मन्त्र का उच्चारण करते समय ऋत्विजो को उस दर्भ घास के चारो ओर खड़ा होना पड़ता था जो देवताओं के बैठने के लिए बिछायी जाती थी। सूक्तो का अन्तिम से पहला मन्त्र यूप को लक्ष्य करके बोला जाता था। यद्यपि ये सूक्त एक दृष्टि से यज्ञविषयक भी कहे जा सकते हैं परन्तु इनका परिगणन पृथक् नाम से किया गया है।

110445

ऋग्वेद के देवताओ के साथ कुछ इस प्रकार की घटनाएं जुड़ी हुई है जिनका रूप हम पौराणिक कथा, अनुश्रुति या आख्यान मे देख सकते है। देवता वर्णन मे यह दिखाया जा चुका है कि प्रत्येक देवता चाहे वह प्रकृति का अश हो अथवा अमूर्तभाव रूप हो, अपने उच्चतम रूप मे एक चेतन और मानवाकार रूप में दृष्टिगोचर होता है। इस रूप मे उसके द्वारा सम्पादित नाना घटनाएं ही मूल रूप मे पौराणिक कथा, अनुश्रुति और आख्यानो की आधारभूमि हैं। इन्द्र द्वारा वृत्र और शम्बर का वध, उसके द्वारा द्यु लोक और पृथिवीलोक को पृथक् करके धारण करने की क्रिया और सोमपान आदि का वर्णन नाना रूपो मे विविध कथाओ और आख्यानों के जनक कहे जा सकते हैं। एक पौराणिक आख्यान भूतकालिक ऐसी घटना की ओर इंगित करता है जो किसी देवता द्वारा सर्वप्रथम सम्पन्न मानी जाती थी। इसे हम कृत्रिम इतिहास नही कह सकते। इसका बार-बार वर्णन एक-मात्र चिन्तन का विषय नही था परन्तु उसका मुहुर्मुहु उपस्थापन एक शक्तिविशेष से आविष्ट माना जाता था। इसका वर्णन करने वाले ऋषि के लिए यह एक 'सत्य' था जो पवित्रता और विशिष्ट मर्यादा से अनुस्यूत था। भूतकाल की इस प्रकार वर्णित यह घटना शाश्वत थी और प्रतिदिन घटित होती थी। इसी कोटि मे विष्णु द्वारा तीन विक्रमों मे विश्व को मापना तथा अग्नि, वरुण, रुद्र, मरुत्, पूषन्, अश्विनौ आदि देवताओ से सम्बन्ध रखने वाली घटनाएं आती हैं। ऐसे आख्यानो मे कभी-कभी ऐसी घटनाओ और व्यक्तियो का वर्णन मिलता है जिन्हें प्रतीकात्मक वर्णन कहने के साथ-साथ पौराणिक, ऐतिहासिक या अनुश्रुति प्रधान वर्णन भी कहा जा सकता है। मन का सर्वप्रथम यज्ञसम्पादन, सूर्या का विवाह,

उषस् का वर्णन, ऋभुओ के शिल्प आदि—ये सब इसी कोटि मे माने जा सकते है। इन पौराणिक कथाओ और आख्यानो का उपयोग निस्सन्देह तत्कालीन मानव को ऐसे तथ्यो और तत्त्वो को समझाने के लिए भी किया गया जिनका अवबोधन अमूर्त तर्क और विश्लेषण के द्वारा नही हो सकता था। इनके द्वारा ब्रह्माण्डोत्पत्ति, ब्रह्माण्डविज्ञान, अन्तरिक्षीय और वायुमण्डलीय समस्याओ का समाधान तत्कालीन विश्वासो के प्रकाश मे किया जा सकता था। एक सामान्य-सी प्राकृतिक घटना परस्पर विरोधी आख्यानो को जन्म दे सकती थी। उदाहरणार्थ उषाकाल के पश्चात् सूर्योदय होता है, इस तथ्य को आख्यान का रूप देने पर सूर्य उषा का पुत्र बन जाता है।[25] इसके विपरीत युवति उषा का अनुगमन करने वाला सूर्य उसका प्रेमी चित्रित किया गया है।[26] ये दोनो ही आख्यान एक ही घटना के दो रूप है और अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त है, परन्तु इनके मूल में विद्यमान काव्य सौन्दर्य को बिना समझे इन्हे परस्पर सश्लिष्ट कर देने पर एक अत्यन्त अनैतिक रूप उभारा जा सकता है।

ऋग्वेद मे पौराणिक कथाओ और आख्यानो की कमी नही है पर उनमे से एक भी हमे अपने सम्पूर्ण रूप मे उपलब्ध नही होता।[27] इन तथाकथित आख्यानो के रूप को जिस रूप मे अधिकाश पाश्चात्य विद्वानो ने उपस्थित किया है उसके लिए ऋग्वेद से बाहर और समय की दृष्टि से दूरवर्ती खण्डित और विच्छिन्न घटको का सहारा लिया है। इन आख्यानो को अपना मनोवाञ्छित रूप देने के लिए जहा प्राचीन भाष्यकारो ने पश्चात्कालीन पौराणाकि कथाओ की सहायता ली है वहा ए० कुह्न, मैक्समूलर आदि ने इनमे भारतयूरोपीय काल की मिथक गाथाओ का सम्बन्ध खोजने का यत्न किया है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् हौण्डा इसी परिणाम पर पहुचा है कि ग्रीक और भारतीय पौराणिक गाथाओ और तत्त्वो मे समानता ढूढने का प्रयत्न किसी निश्चित परिणाम पर नही ले जाता। ऐसा प्रयत्न अत्यन्त अनिश्चयात्मक और किसी भी प्रकार के पाठो पर आधारित प्रमाण से रहित है।[28] वैदिक देवताओ के साथ जुडी हुई पौराणिक कथाएं, अनुश्रुतिया और आख्यान मूलतः, ऋषियों की काव्यात्मक स्वैरकल्पनाओ से प्रादुर्भूत हुई थी। शायद यही कारण रहा है कि एक ही चित्रण को आगे आने वाले अनेक द्रष्टाओ ने उन्हे नानारूपो मे देखा और अपने-अपने काल्पनिक मनोराज्य मे नवीन से नवीनतर रूप प्रदान किया।

पौराणिक कथाओ से पृथक् करके कुछ अनुश्रुतियो पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना यहा आवश्यक प्रतीत होता है। निस्सन्देह पौराणिक कथाओ और अनुश्रुतियो मे भेद करने वाली कोई निश्चित रेखा नही खीची जा सकती तथापि इन अनुश्रुतियो के और आख्यानो मे पौराणिक गाथाओ की अपेक्षा एक नवीन तत्त्व जुड़ा हुआ दिखाई देता है। पौराणिक कथाओ और गाथाओ का सम्बन्ध

अतिमानवीय तत्त्वों के साथ सम्पृक्त था जबकि अनुश्रुतियों और आख्यानो में अतिमानवीय पक्ष के साथ लौकिक और मानवीय तत्त्व अधिक जुड़े हुए हैं। इन्द्र और वृत्र का युद्ध और विष्णु के तीन पद तथा ऐसे ही अन्य मिथक और पौराणिक गाथाएं दैवीय तथा अतिमानवीय तत्त्वो के वर्णन से भरपूर हैं। अनुश्रुतियो मे अतिमानवीय तत्त्व के साथ मनुष्यों और पशुओ का संसार घुलमिल गया है। पौराणिक कथाओ की तरह इनका भी ऋग्वेद मे विस्तृत वर्णन नही मिलता पर इनके विषय में आकस्मिक और अनियमित निर्देश पर्याप्त मिलते हैं। ये अनुश्रुतियां और आख्यान किसी सम्पूर्ण सूक्त के मुख्य वर्णनात्मक विषय भी हो सकते हैं और कभी किसी देवता की स्तुति और प्रशंसा मे एक अनियमित निर्देश के रूप मे भी मिलते हैं। कभी-कभी ऐसे अनियमित निर्देश के विषय मे अपेक्षया विस्तृत वर्णन किमी अन्य सूक्त मे मिलता है। उदाहरणार्थ अश्विनौ देवताओं द्वारा घोषा को पति प्राप्त कराने की अनुश्रुति एक सक्षिप्त निर्देश के रूप में ऋग्वेद 1.117.7 मे मिलती है।[29] यही अनुश्रुति ऋ० 10.40 में अधिक विस्तार के माथ निर्दिष्ट है। अनुश्रुतियों और आख्यानो की बहुलता अश्विनौ देवताओ के चामत्कारिक कृत्यो के वर्णन मे दृष्टिगोचर होती है। देवताओं के वैद्य के रूप मे अश्विनौ देवताओ का वर्णन ऋग्वेद मे उपलब्ध होता है। उनकी यह दक्षता केवल देवताओं के क्षेत्र तक ही सीमित नही है। अपनी इस शक्ति का प्रयोग उन्होने मनुष्यों के उपकार के लिए भी किया है। ऋग्वेद में कम से कम 7 स्थानों पर[30] च्यवन को वार्धक्य मे मुक्ति देकर उसे पुन. नवयौवन प्रदान करने का वर्णन आया है। इसी प्रकार उन्होने विश्पला की टूटी हुई जङ्घा के स्थान पर लोहनिर्मित जङ्घा लगायी।[31] अश्विनौ देवताओ के साथ जिन अन्य मनुष्यो और पशुओ का नाम जुडा हुआ है उनमे विमद, भुज्यु, अघाश्व, अत्रि, गौतम, वन्दन, दध्यङ् आथर्वन्, भद्रिमती, ऋज्राश्व, भरद्वाज तथा वर्तिका, वृक, रासभ, वृषभ, शिशुमार आदि प्रमुख है। इन मानवो और पशुओ के साथ गहन रूप मे जुडे हुए आख्यानो का वर्णन अश्विनौ देवताओ के सूक्तो मे स्थान-स्थान पर आया है। इन आख्यानो में कुछ मूल भाव अत्यत लोकप्रिय रहे है। इनमे बुढापे से मुक्ति प्रदान करके युवावस्था को प्राप्त कराना, अन्धत्व को दूर करके दृष्टि प्रदान करना, खोये हुए व्यक्ति को ढूढकर उचित स्थान पर पहुचाना, पशु-पक्षियो की सहायता करना आदि प्रमुख हैं। ऐसे आख्यान और अनुश्रुतिया स्थान-स्थान पर दोहरायी गयी है। ऋग्वेद मे काव्यात्मक और विस्तृत वीरगाथाओ का अभाव है। राजाओं की दानशीलता और विजय[32] तथा सैनिकों की शूरता[33] का वर्णन सक्षेप मे ही किया गया है फिर चाहे इन वर्णनो को अन्यत्र दोहराना भी क्यो न पड़े। बहुत सी अनुश्रुतियां और आख्यान चाहे वह अश्विनौ देवता से सम्बद्ध हो या मरुत् आदि से चामत्कारिक घटनाओ से युक्त मिलते हैं। देवताओ द्वारा ये चामत्कारिक कृत्य

अपने स्तोताओ की सहायता के लिए सम्पादित किये गये थे। मरुतो[34] और अश्विनो[35] देवताओ ने अपने कृपापात्रो की प्यास बुझाने के लिए पहले से अविद्यमान कुए को खोदकर उसे उल्टा कर दिया।

ऋग्वेद मे मिलने वाले ऐसे आख्यानो मे जिन व्यक्तियों के नाम मिलते हैं उनके विषय मे यह निश्चय करना लगभग असम्भव प्रतीत होता है कि वे नाम किसी व्यक्ति विशेष के है अथवा किसी गोत्र या वश के है अथवा नाम सादृश्य के कारण उन नामो से एकाधिक व्यक्ति अभिप्रेत है। ऐसे नामो मे वसिष्ठ, विश्वामित्र, श्यावाश्व, मेधातिथि, पुरूमीळ आदि है। कुछ आख्यानो मे ये व्यक्ति एक पात्र के रूप मे उपस्थित होते है और इन्ही के नाम के व्यक्ति या ये स्वय इन आख्यानो का वर्णन करने वाले सूक्तो के ऋषि भी बताये गये है। ऐसा एक आख्यान शुन.शेप का आख्यान है जो ऋग्वेद से लेकर ऐतरेय आरण्यक तक मे मिलता है। एक ओर जहा शुन.शेप हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित के बदले वरुण को बलि रूप मे दिये जाने के लिए आख्यान का मुख्य पात्र है वही दूसरी ओर ऋग्वेद मे यह एक ऋषि के रूप मे कई सूक्तो मे कर्ता या द्रष्टा वर्णित है। ऐसी परिस्थितयों के कारण किसी आख्यान का प्रारम्भ कब और किस रूप मे हुआ यह बात निश्चय से कह सकना सम्भव नही है। तथापि यह एक तथ्य है कि ऋग्वेद मे पौराणिक कथाओ और आख्यानो की एक बड़ी सख्या हमे उपलब्ध होती है जो आगे चलकर ब्राह्मण साहित्य मे और पुराण साहित्य मे नई से नई कथाओ को जन्म देने मे सहायक सिद्ध हुई।

वर्तमान मे 'इतिहास' शब्द से जो तात्पर्य लिया जाता है—अर्थात् महत्त्व-पूर्ण घटनाओ और व्यक्तियो का क्रमिक विवरण—उस अर्थ मे ऋग्वेद मे इतिहास उपलब्ध नही होता। जिन व्यक्तियो, राजाओ, ऋषियो, जातियो और कुलो के निर्देशक नामो को आधार मानकर ऋग्वेद मे इतिहास खोजने का जो प्रयत्न किया जाता है वह भी विवादास्पद ही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद मे मिलने वाले नाम निश्चयात्मक रूप से किसी व्यक्ति विशेष को सूचित करने वाले नही है फिर भी उन नामो के साथ कुछ घटनाए ऐसी जुड़ी हुई है जिनके आधार पर ऋग्वेद मे इतिहास होने की बात बहुत से विद्वानों ने कही है।[36] इन नामो मे विशेष रूप से दिवोदास, सुदास्, भेद, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि आदि है जो हमे रामायण, महाभारत और पुराणो मे भी मिलते हैं। इसी प्रकार पुरु, तृत्सु, भरत, आर्य, दास आदि जातियो के नाम हैं जो पौराणिक और महाभारत काल मे प्रसिद्ध रही हैं। ऐसे नामों को देखकर ऋग्वेद मे इतिहास की कल्पना सर्वथा निराधार नही प्रतीत होती। आर्यो और अनार्यो अथवा आर्यों के पृथक्-पृथक् कबीलो मे हुए युद्धो की बात ऋग्वेद मे बहुत से स्थानो पर बढ़ा-चढ़ा कर कही गयी है। नि.सन्देह इन युद्धो मे विजय दिलाने वाला देवता इन्द्र ही है, पर

जिस वड़ी संख्या में—साठ हजार निन्यानवें,[37] साठ हजार,[38] निन्यानवें पुर-[39] शत्रुओ और शत्रुओं के नगरों को नष्ट करने की वात कही गयी है वह निश्चय ही अतिशयोक्तिपूर्ण है। युद्धो के प्रसग मे सबसे महत्त्वपूर्ण उस युद्ध का वर्णन है जो सुदास् और दूसरे दस राजाओ के बीच मे लड़ा गया था। ऋग्वेद 7.18 मे इस युद्ध का तथा इसमे भाग लेने वाली जातियों का वर्णन है। ऋग्वेद के वर्णन से यह भी सूचना मिलती है कि वसिष्ठ से पहले विश्वामित्र सुदास् का पुरोहित था, पर किस कारण से वह दूसरे पक्ष में चला गया इस विषय मे ऋग्वेद मौन है। आर्यो और अनार्यो या दासो के मध्य लड़े जाने वाले युद्धो मे कुछ ऐसे नाम भी मिलते हैं जो पूर्व वर्णित कथाओ और आख्यानो मे असुरो मे परिगणित है। शम्बर ऐसा ही एक नाम है जो असुर के साथ-साथ किसी मानव का नाम भी रहा हो।

ऋग्वेद मे मिलने वाले कुछ वर्णन इस वात की ओर इंगित करते है कि ये भूतकाल मे घटी हुई किन्ही घटनाओ के वर्णन न होकर समसामयिक घटनाओ के वर्णन हैं। संसार की प्राचीन जातियो के इतिहास मे भिन्न-भिन्न कबीलो में होने वाली लडाइया, पशुओ की चोरी, रथदौड़, खेले तथा अन्य साहसिक कृत्यो के वर्णन मिलते हैं जो तत्कालीन जातियो के सामाजिक चित्र का दिग्दर्शन कराती है। ऐसे ही वर्णन हमे ऋग्वेद मे भी उपलब्ध हैं और इस दृष्टि से इन्हें भी ऋग्वेदिक आर्यो के जीवन का ऐतिहासिक चित्रण कहा जा सकता है। जैसा कि प्रायः ऐतिहासिक विद्वान् मानते चले आये है कि ऋग्वेद मे आर्यो और दासो के मध्य लड़े गये युद्ध द्रविड़ जातियो पर आर्यो की विजय और प्रभुत्व के सूचक हैं, पर इसकी पुष्टि ऋग्वेद के साक्ष्य से नही होती। जहा ऋग्वेद मे वर्णित दाशराज्ञ युद्ध के प्रसंग मे आर्यो के नाना कुलो और जातियो के नाम यथा तुर्वश, भृगु, द्रुह्यु, पक्थ, तृत्सु आदि गिनाये गये हैं वहां द्रविड जातियो के कुलो का कोई नाम नही मिलता। इतना ही नही इन जातियो के लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त होने वाला द्रविड़ या द्रमिळ नाम भी ऋग्वेद मे नही आता। पौराणिक कथाएं, गाथाएं, अनुश्रुतियां और आख्यानो के साथ तथाकथित इतिहास सम्बन्धी तत्त्व इतने गुथे हुए हैं कि इनमे से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् करके एकमात्र इतिहास को तात्त्विक रूप मे उपस्थित कर सकना असम्भव है।

ऋग्वेद मे कुछ ऐसे सूक्त है जिनका विषय देवताओ की स्तुति या प्रार्थना नही है। न ही उनमे कोई ऐसा प्राकृतिक वर्णन है जिसे काव्य का उत्कृष्ट रूप कहा जा सके। ऐसे ही सूक्तो मे एक प्रसिद्ध सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का एक सौ चौसठवा (ऋ० 1.164) सूक्त है। इस सूक्त के कुछ मन्त्र ऐसी भाषा मे निवद्ध हैं जो प्रहेलिकात्मक हैं। उदाहरणार्थ इस सूक्त का सातवा मन्त्र इस प्रकार है: 'जो कोई जानता हो वह इसे वताये, इस सुन्दर पक्षी का पैर निहित किया हुआ है इसकी गौएं सिर से दूध देती हैं और रूप को धारण करनेवाली वे पैर से पानी पीती हैं।'[40]

मन्त्र के इस अर्थ से कोई अभिप्राय स्पष्ट नही होता और भाष्यकार तथा अनुवादक अपनी-अपनी इच्छानुसार इसका अभिप्राय निकाल सकते है। यदि इस सुन्दर पक्षी को हम सूर्य माने जिसने अपना पैर द्युलोक में रखा हुआ है, उसकी किरणे ही उसकी गौएं है, वे सिर से दूध देती है अर्थात् आकाश मे स्थित मेघमण्डल से वर्षा करती है और फिर अपने पैरो से भूमि पर स्थित जलाशय, नदी, समुद्र आदि से पानी को पी लेती है अर्थात् वाष्प बनाकर ऊपर ले जाती है। यह आवश्यक नही कि इस मन्त्र का भाव इसी रूप मे लिया जाये, वस्तुत: इसे वृक्ष के रूप मे भी समझा जा सकता है। उस दृष्टि से सुन्दर पक्षी से वृक्ष का भाव लिया जायेगा और पैर के निहित करने से पृथिवी मे जमी हुई जड़े मानी जायेगी। पेड पर चढने वाली लताएं उसकी गौए हो सकती है जो सिर से फल रूपी दूध देती है और पैरो (जडो) से पानी पीती है। इस प्रकार के मन्त्र इस सूक्त का पहला, दूसरा, तीसरा चौथा, पाचवा, छठा, आठवा, नौवां, दसवा, ग्यारहवा आदि है। इस सूक्त की व्याख्या भारतीय विद्वानो ने आध्यात्मिक रूप से की है परन्तु बहुत से विद्वान् इन व्याख्याओं से सहमत नही है। कुछ पश्चिमी विद्वानों[41] ने भी इस सूक्त की पहेलियो का अनुवाद किया है पर उनका अनुवाद और समाधान भी उसी प्रकार सर्वमान्य नही है। विन्टरनिट्स[42] ने ऋग्वेद 1.164.2 मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—सात घोडेएक चक्र वाले रथ मे जुडते है, सात नाम वाला एक घोडा इसे धारण करता है, इस चक्र की तीन नाभिया है और यह चक्र अजर तथा अनर्व है जिस पर सारे विश्व स्थित है। यहा रथ मे जुडने वाले सात ऋत्विज् हो सकते है जो यज्ञ के द्वारा सूर्य के रथ को जोतते है जो सात घोडो अथवा सात नाम वाले एक घोड़े के द्वारा खीचा जाता है। इस सूर्य रूपी चक्र की तीन नाभिया तीन ऋतुए—ग्रीष्म, वर्षा और शरत्—हैं जिनमे से होकर सम्पूर्ण मानव जगत् का जीवन व्यतीत होता है। किन्तु इस मन्त्र की व्याख्या अन्य प्रकार से भी की जा सकती है। इसके विपरीत कुछ पहेलिया ऐसी भी है जिनका भाव बहुत स्पष्ट है। उदाहरणार्थ इसी सूक्त का 48वा मन्त्र देख सकते है—बारह प्रधियो वाला एक चक्र है, उसके तीन नाभिया है, उसमे साथ रहने वाले चल और अचल तीन सौ साठ शकु है।[43] यहा इस पहेली का भाव अत्यन्त स्पष्ट है, यह चक्र सूर्य है, इसकी बारह प्रधिया बारह मास है तीन ऋतुए इसकी नाभिया है और तीन सौ साठ दिन है। ऐसी ही अन्य पहेलिया ऋग्वेद मे अन्यत्र भी मिलती है। ऋग्वेद के 1.95, 1.105; 1.162, 163, 10.27, 28, 55 और 114 सूक्त इसी प्रकार की पहेलियो से परिपूर्ण है। इसी प्रकार पहेलियो के अन्य उदाहरण ऋग्वेद 2.18.1, 3.56.2, 4.1.11, 4.58.3, 5.4.7; 8.69.15, 8.72.7 है।

ऋग्वेद मे कुछ सूक्त ऐसे हैं जिन्हे हम मीमासात्मक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक विषयो से परिपूर्ण पाते हैं। इनमे जिन विषयो की मीमासा की गई है उनमे तीन

समस्याए मुख्य हैं। प्रथम, यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई; द्वितीय, इसको उत्पन्न करने वाला कौन है; तृतीय, मृत्यु के उपरान्त जीवन का क्या स्वरूप है? ऋग्वेद के जिन पहेलिकात्मक सूक्तों का हमने ऊपर वर्णन किया है उनमे भी इन समस्याओं से सम्बद्ध पहेलियां और उनके उत्तर ढूढे जा सकते हैं परन्तु वे सूक्त और उनमे आये हुए मन्त्र एक ऐसी शैली मे रचित हैं जिनमे दिया गया उनका समाधान विवादास्पद ही माना जायेगा। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त भी हैं जहां सृष्टि के उत्पन्न होने की समस्या पर सुस्पष्ट रूप में विचार किया गया है। ऐसा ही एक सूक्त ऋग्वेद का 'नासदीय सूक्त'[44] है। इसके पहले ही मन्त्र मे यह विचार व्यक्त किया गया है कि 'प्रारम्भ मे न तो सत् था न असत् था न रजस् था और न दूर तक फैला हुआ आकाश था, तब किसने किसका आवरण किया हुआ था, कौन किसके आश्रय पर अवस्थित था, क्या उस समय गहन और गम्भीर जल था?'[45] आगे के मन्त्रों में इसी प्रकार की शंकाओं को उठाते हुए उनका साक्षात् उत्तर भी देने का यत्न किया गया है और सूक्त की समाप्ति होने तक तात्त्विक जिज्ञासा के रूप में यह वर्णित है कि जो इस (सृष्टि) का अध्यक्ष उस परम व्योम मे विद्यमान है वह भी इस सृष्टि के उत्पन्न होने के रहस्य को शायद जानता है और शायद नही भी जानता है।[46] इस सूक्त मे जहा जिज्ञासात्मक प्रश्नो को उठाकर सृष्टि के रहस्य को जानने की मीमासा की गई है वहा समस्या का समाधान भी इन्ही मन्त्रो मे दे दिया गया है: वायु रहित स्थान मे अपनी धारणा शक्ति से वह एकाकी उपस्थित था, उससे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही था।

सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रक्रिया के रूप में हुई इसका वर्णन 'पुरुष सूक्त'[47] मे मिलता है। निश्चय ही यह सूक्त उस समय की रचना रही है जब वैदिक यज्ञ-प्रक्रिया और यज्ञदर्शन अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। इस सूक्त में सर्वोच्च सत्ता और सृष्टिकर्ता के रूप मे जिस तत्त्व को स्वीकार किया गया है वह पुरुष नाम से अभिहित है। उस पुरुष से विराट् की उत्पत्ति और विराट् से 'कर्ता' के रूप 'वैयक्तिक पुरुष' की कल्पना की गयी है।[48] इस पुरुष की हवि देकर देवताओं ने यज्ञ किया जिसके फलस्वरूप सृष्टि के नाना प्राणी और समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए।[49] इस सूक्त मे प्रयुक्त पारिभाषिक—नामो-पुरुष, विराट्, यज्ञ आदि—से यह तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि यद्यपि इसमे एकेश्वरवाद की कल्पना निहित है तथापि यह 'एक' इस पद से अभिहित तत्त्व की अपेक्षा बहुत बाद की कल्पना का द्योतक है। वैदिक देवताओं के विषय मे सामान्य परिचय के प्रसग मे यह पहले दिखाया[50] जा चुका है कि किस प्रकार ऋग्वेद मे एकेश्वरवाद का विकास हुआ। सृष्टिकर्ता के रूप में इस शक्ति के विविध नाम हमे ऋग्वेद मे उपलब्ध होते हैं। कभी इसे प्रजापति, कभी हिरण्यगर्भ, कभी ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति और कभी विश्वकर्मा के नाम से कहा गया है।[51] देवताओ के विविध

नाम उस 'एक' ही तत्त्व के अनेक नाम हैं यह तथ्य ऋग्वेद मे स्पष्ट रूप से उद्-घोषित किया गया है। ऋग्वेद का ऋषि कभी-कभी उस शंका की ओर भी इंगित करता है जो मानव मन की चरम सत्ता के प्रति आस्था को डिगा देती है। ऋग्वेद 2.12.5 और 8.100.3 मे[52] इसी भावना का दिग्दर्शन कराया गया है। कभी-कभी वह सृष्टि के विविध तत्त्वो के विषय मे जिज्ञासा व्यक्त करता है और फिर उनका उत्तर भी उसी दृढ आस्था के साथ समाधानात्मक रूप मे प्रदान करता है। ऋग्वेद 10.129, 130 मे हमें इसके उदाहरण मिलते हैं। मृत्यु के उपरान्त जीवन का क्या स्वरूप है इस विषय पर भी ऋग्वेद मे हमे विचार मिलता है। शरीर के भस्म हो जाने पर भी मनुष्य मे एक ऐसा चेतन तत्त्व है जो विद्यमान रहता है। ऋग्वेद 10.14, 10.16 तथा 10.154 मे इस विषय पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद 1.24.1, 2 की अन्तिम पक्ति 'पितरं च दृशेय मातरं च' भी इसी तथ्य की ओर इंगित करती है कि मृत्यूपरान्त कुछ चेतन तत्त्व अवश्य विद्यमान रहता है जिसमे जीवन की कामना विद्यमान रहती है।

ऋग्वेद मे कुछ इस प्रकार के सूक्त हैं जिनका स्थान विषय की दृष्टि से अथर्ववेद मे अधिक उपयुक्त होता। इन सूक्तो मे देवताओ से, औषधियो से, वनस्पतियों से यज्ञ के पात्रो से इस प्रकार की प्रार्थनाएं की गई हैं कि वे हमारे रोगो को, कष्टो को, हमारे घरो को, पशुओ को तथा अन्य वस्तुओ को यातु के प्रभाव से बचायें। ऋग्वेद मे लगभग 30 ऐसे सूक्त हैं जिनके मन्त्रो का विनियोग इस प्रकार से दिखाया गया है कि उनके उच्चारण से तथा उनके साथ की जाने वाली विशिष्ट क्रियाओ से आने वाली विपत्तियो का नाश और सुख-समृद्धि की प्राप्ति की जा सकती है। इनमे से लगभग आधे सूक्त ऋग्वेद के दसवे मण्डल मे हमे उपलब्ध होते है। इन सूक्तो के मन्त्रो की विषय-वस्तु पर दृष्टिपात करते ही इनका जादू रूप स्पष्ट हो जाएगा। नीचे कुछ मन्त्र उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—'जो कुछ मेरे मे दुरित है या जो कुछ मैंने द्रोह किया है, हे जलो उसे दूर भगा ले जाओ।'[53] 'जो तेरा मन द्युलोक मे या पृथिवीलोक मे दूर चला गया है उसे हम यहा निवास के लिए और जीवन के लिए हम वापिस लौटाते हैं।'[54] 'जो तेरा मन जलो मे और ओषधियो मे चला गया है उसे हम···वापिस लौटाते हैं।'[55] 'जो तेरा मन भूत और भविष्य मे दूर चला गया है उसे हम ··वापिस लौटाते हैं।'[56] 'जिस प्रकार यह विस्तृत पृथिवी इन वनस्पतियो को धारण करती है इसी प्रकार तेरे मन को जीवन के लिए मैं धारण करता हूं।'[57] 'मेरा यह हाथ ऐश्वर्य वाला है और यह उससे भी अधिक ऐश्वर्य वाला है। यह मेरा (हाथ) सब औषध रूप है और यह सब कल्याणो का करने वाला है।'[58] 'हे अग्नि तू इस यातुधान की त्वचा को काट दे···हे जातवेद तू इसके पर्वो को काट दे।'[59] 'इन ओषधियो को शक्तिशाली

बनाते हुए जब मैं हाथ में धारण करता हूँ तो यक्ष्म की आत्मा नष्ट हो जाती है···।'[60] 'हे ओषधियो तुम मुझे शपथ में लगने वाले पाप से मुक्त करो और वरुण के प्रति किये गये शाप से मुक्त करो ।'[61] 'मैं अत्यन्त बलशाली वनस्पति रूप ओषधि को खोद कर निकालता हूँ जिसके द्वारा सपत्नी को दूर हटाया जाता है और जिसके द्वारा पति को प्राप्त किया जाता है।'[62] दसवें मण्डल के एक सौ इकसठवें सूक्त (ऋ० 10.161) में राजयक्ष्मा को नष्ट करने के लिए, 162वें में रोग के कीटाणुओं को नाश करने के लिए, 164वें मे दुःस्वप्न को दूर भगाने के लिए क्रमशः इन्द्राग्नि, रक्षोहाऽग्नि और मन से प्रार्थनाएं की गयी हैं। इस प्रकार के जादू-क्रियाओं से युक्त मन्त्र केवल दसवें मण्डल मे ही संगृहीत नही हैं अपितु अन्य मण्डलो[63] मे भी बिखरे हुए मिलते है । ऋग्वेद के सातवें मण्डल का 103 सूक्त कुछ विवाद का विषय रहा है। कुछ विद्वानो[64] ने इसे यज्ञगीतो की विद्रूप नकल और ब्राह्मणो के प्रति व्यंग्योक्ति माना है। इसके विपरीत ब्लूमफील्ड[65] ने इसे एक जादू-टोने का अभिचार सूक्त माना है। इस सूक्त में वर्षाकाल मे ऊँची आवाज में टर्राने वाले मेढको की तुलना वेदपाठी ब्राह्मणो के साथ की गयी है।

कुछ विद्वानों[66] ने ऋग्वेद की कविता मे से भाव-समाधि और उल्लास को व्यक्त करने वाले, व्यंग्य और हास्ययुक्त, गाथागीत और गीति काव्यमय मन्त्रो को पृथक्-पृथक् शीर्षको मे विभक्त करके उन पर विचार किया है। वस्तुतः कविता की ये सभी विधाएं स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् सूक्तो मे बंटी हुई उपलब्ध नही होती। ऋषिओ द्वारा देवताओ के प्रति काव्यमयी भाषा मे प्रयुक्त स्तुतियो मे स्थान-स्थान पर फैली हुई इन विधाओ का दर्शन होता है। इसी प्रकार नैतिक सूक्तिया और नीतिवचन, प्रकृति और पशु-समुदाय का वर्णन भी नाना स्थलो पर विकीर्ण है। इन सबको स्वतन्त्र शीर्षको मे विभाजित करके वर्णन करने से ऋग्वेद की मुख्य विषय-वस्तु के बारे मे कुछ भ्रान्ति हो सकती है। इन विषयों पर स्वतन्त्र रूप से मिलने वाले सूक्तो की संख्या सम्पूर्ण ऋग्वेद मे 1/4 दर्जन से अधिक नही हो सकती। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के दो सूक्तो को यहा उद्धृत किया जा सकता है जिनमे एक ही स्थान पर भाव-गाम्भीर्य, भाव-समाधि, उल्लास, नीति, गीतिकाव्य और गाथा गीत के समन्वित रूपों का दर्शन होता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल का दसवां सूक्त जिसे 'यम-यमी' सूक्त के नाम से भी जाना जाता है उत्तम कविता का उदाहरण है। इसमें भावप्रवणता और नीति दोनों के सम्मिलित दर्शन होते हैं। कोमल कविता का एक अन्य उदाहरण इसी मण्डल का 95वां सूक्त है। इसमें पुरूरवस् और उर्वशी के वार्तालाप का वर्णन है। कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों ही दृष्टियो से उपर्युक्त दोनों सूक्त अनुपम हैं। इन्हे संवाद सूक्तों के अन्तर्गत भी परिगणित किया जाता है। विश्वामित्र और नदियो की बातचीत, जो ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के 33वें सूक्त मे निबद्ध है, संवाद का और

काव्यमयी भाषा का उत्तम उदाहरण है। पर्वत की उपत्यकाओं मे से निकलकर तीव्र गति से प्रवाहमान विपाश् और शुतुद्रि की तुलना बन्धन मुक्त होकर स्पर्धा के लिए दौडती हुई दो घोडियो से की गई है।[67] पर्वत की उपत्यकाओ मे वहने वाली नदियो के प्रवाह की तीव्रता को तथा घुड़दौड़ मे दौड़ने वाली घोड़ियो के वेग को जिसने देखा है वह इस सुन्दर उपमा पर भावविभोर हुए बिना नही रह सकता।

ऋग्वेद के उषस्, पर्जन्य और मरुत् सम्बन्धी सूक्तो मे प्रकृति चित्रण के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यथा—'इस (बात) को मानो जानती हुई कि स्नान करने के कारण उसके अग चमक रहे हैं यह (उषस्) अपने रूप को हमे दिखाने के लिए हमारे सम्मुख उपस्थित है। द्युलोक की पुत्री यह उषस् द्वेष और अन्धकार को दूर भगाती हुई अपनी सुषमा के साथ हमारे पास आयी है। द्युलोक की पुत्री यह (उषस्) एक भद्र महिला के समान सिर झुकाए हुए मनुष्यो के सामने झुककर खडी है। यह युवति अपने भक्तो को ऐश्वर्य देने के लिए पहले के समान ही प्रकाश लेकर आयी है।[68] 'चाबुक से घोड़ो को उकसाते हुए रथी के समान पर्जन्य वर्षा के दूतो (मेघ) को प्रकट करता है। जब पर्जन्य आकाश को जलपूरित मेघो से आच्छादित कर देता है तो दूर से ही सिंह के गर्जन जैसी ध्वनि उठती है। तूफान की आधिया चलती हैं, बिजली गिरती है, वनस्पतिया और ओषधिया फूट पड़ती हैं और चारो ओर आनन्द का सचार होता है। जब पर्जन्य पृथिवी पर जल बरसता है तो सम्पूर्ण विश्व के लिए अन्न उत्पन्न होता है।'[69] 'हे ससार को रुलाने वाले मरुतो, जब तुम अपने सुखकारी रथो पर अपनी प्रसिद्ध सेनाओ मे आकर खडे होते हो तो तुम्हारे डर से भयकर वन भी झुक जाते हैं पृथिवी और पर्वत भी कापते है। विशाल और वृद्ध पर्वत भी डरता है, तुम्हारा गर्जन सुनकर ऊँचा द्युलोक भी कापता है।'[70]

ऋग्वेद के विषय मे विद्वानों की धारणाए भिन्न-भिन्न रही हैं।[71] ऐसा न केवल पाश्चात्य विद्वानो के विषय मे कहा जा सकता है अपितु पौरस्त्य विद्वानो के विषय मे भी यही बात घटती है। विन्टरनिट्स ने ऋग्वेद के विषय मे एक ही पंक्ति मे अपनी सम्मति व्यक्त कर दी है जो ऋग्वेद और वैदिक साहित्य की प्रशसा मे कहे गये उसके विचारो को नकार देती है। उसने लिखा है ऋग्वेद नैतिकता की पुस्तक के अतिरिक्त अन्य सब कुछ है।[72] अपनी सम्मति के अपवाद के रूप मे उसने ऋग्वेद से दसवे मण्डल का 117वा सूक्त उद्धृत किया है। अपवाद ही सही इस सूक्त के भाव किसी आधुनिक नैतिकता की पुस्तक की उडान और उदारचेता मानव की भावुकता से कम महत्त्वपूर्ण नही है। इस सूक्त के कुछ मन्त्रो का भावानुवाद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—'देवताओ ने केवल भूख को ही मृत्यु का साधन नही बनाया है। मृत्यु तो भरपेटो के पास भी जाती है जो अन्नवान् होकर

भी समीप आये हुए दरिद्र और हीन याचक के प्रति कठोर मन कर लेता है और उसके सामने ही अन्न का सेवन करता है उसे फिर सुख देने वाला नहीं मिलता। अन्न का वास्तविक उपभोग वही है जो अन्न की इच्छा से घूमने वाले दीन और हीन को दिया जाता है। अज्ञानी नासमझ व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है, सच कहता हूँ वह तो उसकी मृत्यु ही है जो न तो जान-पहचान वाले को पुष्ट करता है और न मित्र को ही दान देता है, एकाकी खाने वाला व्यक्ति एकमात्र पापी ही होता है। दोनों हाथ समान होते हुए भी समता में व्याप्त नही होते, एक ही माता की सन्तान दो गौएं बराबर दूध नही देती। दो युगल भाइयों का पराक्रम बराबर नही होता और सम्बन्धी होते हुए भी (मनुष्य) बराबर दान नही देता।[73]

बुराई को छोड़कर अच्छाई की ओर आने वाले मनुष्य के मन में उठने वाले भावों का द्वन्द्व ऋग्वेद 10.34 में अत्यन्त सुन्दरता के साथ दिखाया गया है। इसमें एक जुआरी का वर्णन है जो जुए की लत को छोड़ना चाहता है फिर भी अपनी आदत के कारण पासों की आवाज़ सुनते ही द्यूतघर की ओर खिंचकर चला जाता है। जुए के कारण वह अपनी पत्नी को खो बैठा है, उसके सगे सम्बन्धी उससे दूर हो गये हैं और उसे पहचानने से इन्कार कर देते हैं। अपनी परिस्थिति का वर्णन करते हुए जुआरी कहता है—मेरी पत्नी न मेरे से लड़ती थी, न मेरा अपमान करती थी, वह मेरे और मेरे मित्रों के प्रति कल्याणकारिणी थी। एकमात्र जुए के कारण ही मैं अपनी पतिव्रता पत्नी को खो बैठा हूँ। मेरी सास मेरे से द्वेष करती है, पत्नी मुझे दूर रखती है, प्रार्थना करने पर भी जुआरी किसी दयालु व्यक्ति को नहीं प्राप्त कर पाता। वृद्ध होते हुए बहुमूल्य घोड़े के समान मैं जुए से प्राप्त होने वाले अपने भाग को प्राप्त नही कर पाता। यह बलवान जुआ जिस पर अपनी लालच भरी दृष्टि डाल देता है उसकी पत्नी पर दूसरों का अधिकार हो जाता है। उसके पिता-माता और भाई इसके बारे मे कहते हैं कि हम इसे नहीं पहचानते; इसे बांधकर ले जाओ। जब मैं यह निश्चय करता हूँ कि मै अब इन पासों से नहीं खेलूंगा तो मेरे (जुआरी) मित्र मुझे छोड़ देते हैं। द्यूतफलक पर फेंके गये पासे ज्योंही आवाज करते हैं तो मैं इनके घर में स्वैरिणी स्त्री के समान चला जाता हूँ। शरीर से फूलकर कुप्पा हुआ 'क्या मै जीतूंगा' ? इस प्रकार पूछता हुआ जुआरी द्यूतसभा में जाता है। विरोधी खिलाड़ी के पक्ष में पड़े हुए कृत पासे इस जुआरी की जुआ खेलने की कामना को बढ़ा देते हैं। ये उग्र पासे उग्र से उग्र व्यक्ति के भी आगे नही झुकते। राजा भी इनके आगे हाथ जोड़ता है। ये नीचे गिरते हैं, ऊपर उछलते हैं, बिना हाथ वाले होते हुए भी हाथ वालों का सामना करते हैं। द्यूत फलक पर फेंके गये ये दिव्य अंगारे रूपी पासे शीतल होते हुए भी हृदय को जलाते हैं। छोड़ी हुई जुआरी की पत्नी दुःखी होती है। इधर-उधर फिरने वाले जुआरी की माता भी कष्ट पाती है। दूसरों का कर्जदार होकर डरता हुआ और धन की

इच्छा करता हुआ जुआरी रात को चोरी करने के लिए दूसरो के घर मे जाता है। अपनी स्त्री को देखकर और (तुलना मे) दूसरो के सुन्दर घर और पत्नी को देखकर जुआरी को दु.ख होता है। दिन के पहले पहर मे जिसने रथ मे भूरे रंग के घोड़ो को जोता था वही सायंकाल निर्धन बनकर अग्नि के पास पड़ा रहता है। हे पासो ! जो तुम्हारे समूह का सबसे प्रथम राजा है उसके आगे मै हाथ जोड़ता हूँ। उसके प्रति कभी धन नही रोकता हूँ। यह बात मै सत्य कहता हूँ। पासो से मत खेलो, खेती ही करो। (उससे प्राप्त) धन मे बहुतायत मानकर आनन्द करो। हे जुआरी !उसमे ही गौए है, उसमें ही पत्नी है। इस स्वामी सविता ने यह मुझे बताया है। हे पासो ! मुझे मित्र बनाओ, हमे सुखी करो, हमारे प्रति घर्षण करने वाली अपनी घोर दृष्टि से मत आओ। तुम्हारा यह क्रोध हमारे शत्रुओं के प्रति ही रहे। कोई दूसरा ही व्यक्ति तुम्हारे बन्धन मे फसे।

ऋग्वेद की अवशिष्ट विषय-वस्तु पर विचार की समाप्ति 'दान-स्तुति' और 'याज्ञिक कविता' के विवेचन के साथ की जा सकती है। सामान्यतया किसी सूक्त या मन्त्र को पढने के साथ सहसा यह सुनिश्चित कर पाना कठिन होता है कि उसे स्तुति या याज्ञिक कविता मे से किसके अन्तर्गत माना जाए। एक ही मन्त्र मे स्तुति के साथ पुत्र, पशु, धन आदि की याचना के साथ प्रार्थना भी जुड़ी होती है, जिसे हम याज्ञिक कविता कर्म कह सकते है। उषस् सूक्तों मे और अन्यत्र भी देवताओ की स्तुति के साथ प्राय: ऐसी स्थिति दिखायी देती है। तथापि ऋग्वेद के कुछ सूक्त ऐसे है जिन्हे हम निर्विवाद रूप से याज्ञिक कविता का नाम दे सकते है और उनकी रचना यज्ञ मे प्रयुक्त करने के लिए की गयी थी। ऐसे सूक्तों मे एक, दो, तीन या कई देवताओ से—जिन्हे पहले से ही यज्ञ मे उपस्थित होने के लिए आहूत किया गया है—यह प्रार्थना की जाती है कि वे साथ बैठकर सोमपान करे। हमारे शत्रुओ को मारे और हमे सन्तान, धन आदि प्रदान करे। ऋग्वेद 8.35 ऐसा ही एक सूक्त है। इसका पहला ही मन्त्र इस प्रकार प्रारम्भ होता है—हे अश्विदेवताओ ! अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, आदित्य, रुद्र, साथ रहने वाले वसु और उषा के साथ रहने वाले सूर्य के साथ सोम का पान करो।[74] इसी प्रकार 12वे मन्त्र मे कहा गया है हे अश्विदेवताओ ! साथ रहने वाली उषा सहित सूर्य के साथ शत्रुओ को मारो और हमे सन्तान दो, धन दो और बल दो[75]। ये और इस प्रकार के अन्य सूक्त याज्ञिक सूक्त कहे जा सकते हैं जिनमे कविता कम और याज्ञिक नीरसता अधिक दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद मे एक संख्या ऐसे सूक्तो की भी है।

याज्ञिक सूक्तो से घनिष्ठ रूप में जुड़े हुए एक अन्य प्रकार के सूक्त हैं जिन्हे 'दान-स्तुति' के नाम से जाना जाता है। इन सूक्तो की सख्या 40 के लगभग है पर यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि ये पूरे के पूरे सूक्त दान की प्रशसा विषयक

नही हैं। इनके विषय मे एक अन्य बात यह द्रष्टव्य है कि बृहद्देवता और अनुक्रमणी मे कुछ सूक्तो को 'दानस्तुति' के अन्तर्गत परिगणित करने मे मतभेद है। दोनों के रचियता इस विषय मे सहमत हैं कि दानस्तुति के अन्तर्गत परिगणित सूक्त या तो सर्वांशतः दानस्तुति रूप होगा अथवा सूक्त का अन्तिम भाग दानस्तुति परक होगा और यह स्तुति किसी राजा को उद्दिष्ट करके की गयी होगी। ऋग्वेद 1.126 को दानस्तुति सूक्त माना गया है तथा 8.55,56 को भी इसी कोटि मे रखा जा सकता है। ऋग्वेद 1.125 का देवता 'दानस्तुति' माना गया है। ऋग्वेद 5.27 का सम्बन्ध अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजाओं द्वारा दिये गये दान के साथ है।[76] दान मे मिलने वाली वस्तुओं मे धन, पशु, सुवर्ण, रथ, स्त्री आदि कुछ भी हो सकती थी और इनकी संख्या एक, दो या चार नही हजार, दस हजार साठ हजार तक मे गिनायी गयी है।[77] 'दान-स्तुति' सूक्तो मे कुछ ऐसे भी सूक्त हैं जिनका स्थूल रूप विजय गीत जैसा है। इनमे इन्द्र की प्रशंसा की गई है क्योकि उसकी कृपा से किसी राजा ने अपने शत्रुओ पर विजय प्राप्त की थी। इन सूक्तो के अन्त में उस राजा की भी प्रशसा कीजाती है जिसकी कृपा से युद्ध की लूट मे मिलने वाली सम्पत्ति मे से स्तोता को बैल, घोड़े और दास-दासियां प्राप्त होती हैं। इन दानस्तुति सूक्तो का पाठ यज्ञो के अवसर पर किया जाता था। शतपथ-ब्राह्मण मे अश्वमेध यज्ञ के प्रकरण मे गाथा-गान करने वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय का वर्णन आता है जो राजाओ की प्रशंसा मे गाथा-गान करते थे। इनमे इस बात का वर्णन होता था कि किस-किस राजा ने कितना-कितना दान दिया था। यह सम्भव है उन गाथाओ मे इन सूक्तो का भी पाठ होता हो। 'दान-स्तुति' सूक्तों की भाषा मे काव्यत्व का अंश न के बराबर है।

ऋग्वेद की विषय-वस्तु का विश्लेषण करने वाले कुछ विद्वानो[78] ने इसका अध्ययन शैली, रचना और काव्यकला की दृष्टि से भी किया है। श्रम और विद्वत्ता की दृष्टि से ऐसे अध्ययन का महत्त्व चाहे कितना भी क्यो न हो, ऐतिहासिक विश्लेषण की दृष्टि से इनका महत्त्व नगण्य-सा है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ऋग्वेद एक ऐसा संग्रह है जिसमे नाना व्यक्तियों द्वारा नाना विषयो पर कई शताब्दियो की लम्बी अवधि में रचित कविताएँ संगृहीत है। ऐसे काव्य का रचना, शैली और काव्यत्व की दृष्टि से किया गया विश्लेषण किसी ठोस परिणाम पर नही पहुँचा सकता।

पाद-टिप्पणी व सन्दर्भ

1.
2. ऋग्वेद 1.1.2
3. महाभारत, परशाखीयं स्वशाखायामपेक्षावत्तात् पठ्यते तत्खिलमुच्यते। शान्तिपर्व, 323/10 (कुं नीलकण्ठ टीका)
4. मा विंभेर्न मंरिष्यसि परिं त्वा पामि सुर्वतंः।
   घनेन हन्मि वृशिंचकुमहिं दुण्डेनागंतम् ॥
   आदित्यरथवेगे'न विष्णुर्बाहुंबलेनं च।
   गरुडंपक्षनिंपातेन भूमिं गंच्छ महायंशाः ॥
   गरुडंस्य पातंमात्रेण त्रयो लो'काः प्रकंपिंताः।
   प्रकंपिता मही सर्वा' सशैलंवनकानंना ॥
   गगंनं नष्टंचन्द्राकं ज्योतिषं' न प्रकाशंते।
   देवता भयंभीताश्च मारुतो' न प्लुवायंति (मारुतो' न प्लुवायत्यो नमः)
   भो सर्प भंद्रं भुद्र ते' दूरं गंच्छ महाविष।
   जन्मे'जयस्यं यज्ञान्ते आस्तीकंवचनं स्मंर ॥
   आस्तीकवचंनं श्रुत्वा यः सर्पो' न निवर्तं'ते।
   शतंधा भिद्यते मूर्ध्नि शिशवृं'क्षफलं यंथा ॥
   नर्मं'दायै नंम. प्रातर्नर्मंदांयै नमो निंशि।
   नमों'ऽस्तु नर्मं'दे तुभ्य त्राहि मां' विषसर्प'तः ॥
5. यद्धि सन्धिं विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपम्, अथ यच्छुरे अक्षरे अभिव्याहरति तत् प्रतृणस्य। ऐतरेय आरण्यक 3.1.3.
6. Macdonell, A.A, History of Sanskrit Literature, p. 50.
7. आसां मध्ये जटादण्डयो प्राधान्यम्। तत्कथम्? जटानुसारिणी शिखा। दण्डानुसारिणी माला लेखा ध्वजो रथश्च। घनस्तूभयानुसारित्वात्।
   महीदास कृत चरणव्यूह टीका 1.5
8. ऋ० 7.59.12; 10.20.1; 121.10; 190.1-3
9. Macdonell, A A HSL, p. 51.
10. यास्क, निरूक्त, 7.7
11. यो जायंमानः पृथिवीमदृं'हद्यो अस्तंभ्नादुन्तरिंक्षं दिवं' च।
    यं विभ्र'तं नानु' पाप्मा विवेद सा नोऽयं दुर्भो वरंणोऽधिवाकः ॥
    अथर्ववेद 19.52.9
12. ऋ० 5.3.1
13. ऋ० 1.164.46.
14. ऋ० 10.114.5

15. ऋ० 1.89.10; 10.121.10
16. ऋ० 1.101.3
17. ऋ० 1.156.4
18. ऋ० 2.38.9
19. देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ऋ० 10.72.2
    देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ऋ० 10.72.3
20. त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
    औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ऋ० 3.9.9;
21. सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः।
    ऋ० 10.158.1
22. नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः।
    ऋ० 1.27.13
23. नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतोमहान्त इत्।
    ऋ० 8.30.1
24. ऋ० 1.13,142,188; 2.3, 3.4; 5.5; 7.2; 9.5; 10.70,110.
25. यथा प्रसूता सवितुः० ऋ० 1.113.1
26. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
    ऋ० 1.115.2
27. Gonda, J.N., A History of Indian Literature (Vedic Literature) Vol. I PI., p. 119.
28. वही, पृ० 121
29. घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्।
    ऋ० 1.117.7;
30. जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात्।
    ऋ० 1.116.10;
    युवं च्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानं चक्रथुः शचीभिः। ऋ० 1.117.13; पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम्। ऋ० 1.118.6; प्र च्यवानाज्जुजुरुषो वव्रिमत्कं न मुञ्चथः। ऋ० 5.74.5; उत त्यद् वां जुरते अश्विना भूच्च्यवानाय प्रतीत्यं हविर्दे। ऋ० 7.68.6; युवं च्यवान जरसोऽमुमुक्त ऋ० 7.71.5; युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः ऋ० 10.39.4.
31. सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम् 1.116.15
32. ऋ० 3.53.11; 4.50.7; 10.34.12; 10.75.4.
33. ऋ० 9.1.10; 3.4; 10.69.5, 78.4, 103.11.
34. ऋ० 1.85. 10.11

35. ऋ० 1.116.9.
36. Keith, A.B., The Combridge History of India, Vol I, p. 77; Oldenberg, Veda for Schung, p. 48; Geldner, K.F, Vedische Studien, p. 129, Macdonell, HSL.
37. ऋ० 1.53.9
38. ऋ० 6.26.6
39. ऋ० 7.99.5
40. इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥
ऋ० 1.164.7.
41. Haug, Martin, Vedische Ratselfragen And Ratselspru che; Deussen, p., Allgemeine Geschichte der Philosophie, I. 1. P. 105-119, Roth, zeitschrift der deutschen morgenlandischen Gesellschaft 46 (1892) p. 759; Windisch, ZDMG 48 (1894) p. 353.
42. Winternitz, History of Indian Literatute, Vol I Part I, p. 102.
43. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥
ऋ० 1.164.48
44. ऋ० 10.129
45. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
ऋ० 10.129.1
46. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
ऋ० 10.129.7.
47. ऋ० 10.90
48. तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ऋ० 10.90.5
49. तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये॥ ऋ० 10.90.8
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ऋ० 10.90.9

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥ ऋ० 10.90.1.

50. ऊपर देखिए,

51. ऋ० 1.40.5, 2.23; 8.98.2; 10.81, 121.1; 121.10;

52. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥
ऋ० 2.12.5.

प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति ।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम ॥
ऋ० 8.100.3

53. इदमापः प्र वहत यत् किं च दुरितं मयि ।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥ ऋ० 10.9.8

54. यत् ते दिवं यत् पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् ।
तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ऋ० 10.58.2.

55. यत् ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम् ।
तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ऋ० 10.58.7

56. यत् ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् ।
तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ऋ० 10.58.12

57. यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥
ऋ० 10.60.9

58. अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ॥
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ऋ० 10.60.12

59. अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम् ।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोतु वृक्णम् ॥
ऋ० 10.87.5

60. यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥ ऋ० 10.97.11

61. मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ ऋ० 10.97.16

62. इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ ऋ० 10.145.1

63. ऋ० 1.50,11-13; 1:133, 191; 2.42,43; 3.18; 4.57.12.2; 6.28; 7.50,55, 103, 104.14-15, 22.24; 8.91.

64. तुलनीय Deussen, AGPA I. I. p. 100.
65. Bloomfield, Journal of American Oriental Society, 17, 1986 p. 173 ff; ऐसा ही विचार मार्टिन हॉग ने भी 1871 मे प्रकट किया था।
66. Gonda, J.N, HIL, pp. 149, 150, 156-160, 168-169.
67. प्र पर्व'तानामुशती उपस्थादश्वे' इव विषिते हासमाने।
गावे'व शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ।। ऋ० 3.33.1.
68. एषा शुभ्रा न तन्वो' विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये' नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दु'हिता ज्योतिषागात् ।।
ऋ०5.805.
एषा प्रतीची दु'हिता दिवो नृन् योषे'व भद्रा नि रिणीते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः ।। ऋ० 5.80.6
69. रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृ'णुते वर्ष्यां३' अह।
दूरात् सिहस्य स्तनथा उदी'रते यत् पर्जन्यः कृते वर्ष्यं१' नभः ।।
ऋ० 5.83.3
प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोष'धीर्जिह'ते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ।।
ऋ० 5.83.4
70. आ ये तस्थुः पृषतीषु श्रुतासु' सुखेषु' रुद्रा मरुतो रथे'षु।
वना' चिदुग्रा जिहते नि वो' भिया पृ'थिवी चिद् रेजते पर्वतश्चित् ।।
ऋ० 5.60.2
पर्व'तश्चिन्महि वृद्धो बिभाय दिवश्चित् सानु' रेजत स्वने वः।
यत् क्रीळथ मरुत ऋष्टिमन्त आप इव सुध्र्यञ्चो धवध्वे ।। ऋ० 5.60.3
71. "This poetry does not rank in the service of beauty, as this religion does not serve the aim of enlightening and uplifting the soul; but both rank in the service of class-interest, of personal interest, of fees. Oldenberg, Die Literaur des Alten Indien, p. 20.
72. Winternitz, HIL, p. 101.
73. ऋ० 10.117.1 (a), 2,3 (a), 4 (a), 6,9.
74. अग्निनेन्द्रे'ण वरुणेन विष्णु'नाऽऽदित्यै रुद्रैर्वसु'भिः सचाभुवा'।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना ।। ऋ० 8.35.1
75. हतं च शत्रून् यततं च मित्रिणः प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्।
सजोषसा उषसा सूर्ये'ण चोर्ज' नो धत्तमश्विना ।। ऋ० 8.35.12

76. यस्य॑ मा प॒रुषाः श॒तमु॑ द्धर्षय॑न्त्यु॒क्षण॑: ।
अश्व॑मेधस्य॒ दाना॒ः सोमा॑ इव॒ त्र्या॑शिरः ॥ ऋ० 5.27.5

77. उप॑ मा श्या॒वाः स्व॒नये॑न द॒त्ता व॒धूम॑न्तो॒ दश॒ रथा॑सो अस्थुः ।
षष्टि॒ः स॒हस्र॒मनु॒ गव्य॒मागा॒त् सन॑त् क॒क्षीवाँ॑ अभिपि॒त्वे अह्ना॑म् ॥
ऋ० 1.126.3

78. Gonda, HIL, pp. 65-92; 173-265.
Oldenbery, Die Hymnen des Rigveda.

तृतीय अध्याय

अथर्ववेद संहिता

स्तुति-प्रार्थना (2)

अथर्ववेद के विविध नाम और अर्थ

ऋग्वेद संहिता से सम्बद्ध विविध पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् इस वेद की दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक अथर्ववेद संहिता का विवेचन अब क्रम प्राप्त है। प्राचीन वैदिक साहित्य में इस संहिता के निम्नलिखित नाम[1] मिलते हैं—(1) अथर्ववेदः (2) अथर्वाङ्गिरसां वेदः (3) अङ्गिरोवेदः (4) भृग्वङ्गिरसां वेदः (5) ब्रह्मवेदः (6) क्षत्रवेदः (7) भैषज्यवेदः। स्वयं अथर्ववेद में इस वेद का नाम अथर्वाङ्गिरस वेद (10.7.20) दिया गया है। इसके अतिरिक्त सन्दर्भ के अनुसार विचार करने पर इसके अतिरिक्त नामों में से दो और नाम अथर्ववेद में ढूंढे जा सकते हैं।

'तनूर्वेदस्तु सामानि तु यजूंषि तु ब्रह्म' चातुर्वेद्य चलन्'[2]; तथा

'ऋचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमः'[3] उपर्युक्त इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। शतपथ ब्राह्मण[4] के 'ऋच्यं…यजुः…साम…क्षत्रं…वेद' इस उल्लेख में इस वेद को 'क्षत्रवेद' के नाम से भी अभिहित किया गया प्रतीत होता है। इसी ब्राह्मण[5] के एक और संदर्भ 'ता उपदिशति अङ्गिरसो वेदः' में इस वेद का नाम 'अङ्गिरस वेद' दिया गया है। गोपथ ब्राह्मण में 'शन्नो देवीरभिष्टये' इत्येवमादि कृत्वा 'अथर्ववेदमधीयते'[6] तथा 'एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद्भृग्वङ्गिरसः'[7] इन दो स्थलों पर इस वेद के लिए 'अथर्ववेद' और 'भृग्वङ्गिरसवेद' ये नाम प्रयुक्त किए गए हैं।

अथर्ववेद के अतिरिक्त इसके दूसरे अधिक प्रसिद्ध नाम—'अथर्वाङ्गिरसवेद' से यह प्रतीत होता है कि इस वेद में 'अथर्वन्' तथा 'अङ्गिरस्' नाम वाले दो ऋषियों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली प्रार्थनाएं संगृहीत हैं। इन दोनों का नाम अथर्ववेद 11.6.13[8] में एक दूसरे के बाद क्रमशः आया हुआ है। इनमें से प्रथम नाम 'अथर्वन्' एक अर्धदैवी वंश के या दैवी वंश के पुरोहितों[9] का है। अथर्वन् वंश के दैवी सम्बन्ध की बात 'अग्नी'जातो हि वेदस्य स्वधावन्नथर्वाणं पितरं' देव-बन्धुम्'[10] इससे भी पुष्ट होती है। पाश्चात्य लेखकों[11] की दृष्टि में 'अथर्वन्' का सम्बन्ध भारत-ईरानी काल के अग्नि उपासकों के साथ है। अग्नि की पूजा और उपासना भारतीय आर्यों के जीवन में भी उतना ही महत्त्व रखती थी जितना कि

प्राचीन ईरानियों के जीवन के साथ सम्बद्ध थी। ईरानियो को अग्निपूजक कहा जाता था। विन्टरनित्ज़ ने इन अग्नि के उपासक पुरोहितों की तुलना उत्तरी एशिया के शामन् लोगो तथा 'अमेरिकन-इंडियन्स' के जादूगर-वैद्यो के साथ की है। ये जादूगर-वैद्य जादू और औषधि के द्वारा अपनी जाति के लोगों की चिकित्सा किया करते थे। इसलिए अर्थवन् शब्द का अर्थ पश्चिम वालो की दृष्टि में जादूगर पुरोधा के जादूमन्त्रों के साथ सम्बद्ध माना जाता है। 'अङ्गिरस्' नाम ऐसे अग्नि पुरोहितों का है जो यातु की 'घोर' आभिचारिक क्रियाओं को करने मे कुशल थे। अङ्गिरस् पुरोहितों के साथ 'घोर' का सम्बन्ध हमे ऋग्वेद में मिलता है।

नाहं वे'द भ्रातृत्वं नो स्व'सृत्वमिन्द्रो' विदुरङ्गि'रसश्च घोरा: ।[12]

अथर्ववेद[13] में बहुत से स्थानों पर ऐसी प्रार्थनाएं उपलब्ध हैं जिनमें अन्य देवताओ के साथ मिलकर पाप से मुक्ति और शत्रुओं से रक्षा के लिए अङ्गिरस् से कहा गया है। अग्नि के साथ इनका सम्पर्क ऋग्वेद[14] तथा अथर्ववेद[15] में वर्णित है। इस वद के साथ जुड़ा हुआ इन दो ऋषियों का सम्मिलित नाम इस वेद की विषयवस्तु की द्विविधता को सूचित करता है। इस तथ्य की पुष्टि गोपथ ब्राह्मण[16] से की जा सकती है।

ऊपर गिनाए गए नामों के अतिरिक्त इस वेद का एक अन्य नाम भृग्वङ्गिरस् वेद भी है। इस नाम के साथ जुड़ा हुआ 'भृगु' नाम ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध वंश का नाम है और उसी वेद के कई मन्त्रों मे[17] इस वंश को अन्य वंशों से श्रेष्ठ कहकर वर्णित किया गया है।

इस वेद के साथ जुड़ा हुआ ब्रह्मवेद नाम इस तथ्य की ओर इशारा करता है कि बहुत समय तक त्रयीविद्या से पृथक् समझे जाने के बाद अन्य वेदो के साथ समानता प्राप्त करने के लिए इसके अनुयायियों द्वारा यह नाम ग्रहण किया गया हो।[18] सामान्यतया 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग चारों वेदों के लिए और वेद सामान्य के लिए भी किया गया है। यजुर्वेद के अश्वमेध प्रसंग मे 'आ ब्रह्म'न्ब्राह्म॒णो ब्र॑ह्म वर्च॒सी जयताम[19] तथा अन्यत्र प्रयुक्त 'ब्रह्म यस्य वर्धनम्' इत्यादि स्थलों पर 'ब्रह्म' शब्द से अभिप्राय सामान्य वेदज्ञान से ही है—जिसमे चारों ही वेद सम्मिलित हैं। यज्ञ के चार ऋत्विजों में सबसे प्रधान स्थान इस ब्रह्म नाम से सम्बद्ध 'ब्रह्मा' नामक पुरोहित को दिया गया है जो अन्य ऋत्विजों द्वारा यज्ञ मे की जाने वाली किसी भी त्रुटि के लिए प्रायश्चित्त करके त्रुटि के कारण होने वाले यज्ञ की क्षति से उसकी रक्षा करता है। गोपथ ब्राह्मण[20] में ब्रह्मा पुरोहित को सर्वज्ञ (सर्वविद्) कहा गया है। इसका अभिप्राय यह समझा जा सकता है कि उसे सम्पूर्ण याज्ञिक कर्मकाण्ड का ज्ञान होना आवश्यक था क्योंकि तभी वह यज्ञ के समय ऋत्विजों के क्रिया-कलाप पर नियन्त्रण रख सकता था। अपने अगाध ज्ञान के कारण ही उसे यज्ञ का वैद्य (The physician of the Sacrifice) कहा गया है।[21] शतपथ ब्राह्मण के

अनुमार ब्रह्मा की उपस्थिति यज्ञ की रक्षा के लिए पर्याप्त थी। इस ब्रह्मा पुरोहित की याज्ञिक कर्मकाण्ड सम्बन्धी कर्त्तव्य पूर्ति के लिए ही अथर्ववेद सहिता का 20वां काण्ड जोड़ा गया था।[22] इस काण्ड के 143 सूक्तो मे से 13 सूक्तो को छोड़कर शेष सब सूक्त ऋग्वेद से लिए गए है। इनका सम्बन्ध सोमयज्ञ के विधिविधानो से है और इनका देवता इन्द्र है।

अथर्ववेद की शाखाएं

परम्परा के अनुसार अथर्ववेद के 9 सम्प्रदाय माने जाते है। इनके नाम पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनक, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य थे। वर्तमान मे हमे इनमे से केवल दो सम्प्रदायों की शाखाएं ही उपलब्ध होती है। प्रो० होण्डा[23] का मत है कि इनमें से कुछ सम्प्रदाय अथर्ववेद के व्यावसायिक और क्रियात्मक पहलू से अधिक जुड़े हुए थे। 'चारणवैद्य' सम्प्रदाय ऐसा ही एक सम्प्रदाय रहा होगा जिसके अनुयायी भ्रमणकर्त्ता वैद्यो के रूप मे विचरण करते होगे। इस आधार पर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि अथर्ववेद की विषय-वस्तु का विभाजन अत्यन्त प्रारम्भ मे ही दो 'पाठो' मे विभक्त कर दिया गया था—एक पाठ पिप्पलाद या पिप्पलादि द्वारा स्थापित पैप्पलाद सम्प्रदाय मे तथा दूसरा शौनक द्वारा संस्थापित शौनकीय सम्प्रदाय मे प्रचलित रहा। इन दोनो सम्प्रदायों के सस्करणो मे बहुत भेद है।

पैप्पलाद शाखा की खोज डा० ब्यूहलर ने काश्मीर मे की थी।[24] इस शाखा का सर्वप्रथम प्रकाशन मोरिस ब्लूमफील्ड और गार्बे ने 'काश्मीरन अथर्ववेद' के नाम से स्टुटगार्ट से 1901 मे प्रकाशित किया था।[25] काश्मीर से प्राप्त पाण्डुलिपि मे[26] दूसरी पाण्डुलिपियो की अपेक्षा लगभग 6500 भिन्न मन्त्र मिलते हैं। दुर्गामोहन भट्टाचार्य[27] के अनुसार उडीसा से प्राप्त पाण्डुलिपि मे इस शाखा के लगभग 8000 मन्त्र प्राप्त होते है। अधिक संख्या मे मिलने वाले इन मन्त्रों मे दोनो ही प्रकार के मन्त्र है। कुछ की विषयवस्तु यातु प्रधान है और कुछ का विषय दर्शन सम्बन्धी है। स्व० डा० दुर्गामोहन भट्टाचार्य ने वर्तमान मे इस शाखा पर पर्याप्त कार्य किया है। पैप्पलाद शाखा की पाण्डुलिपि के उत्तर के कोने में प्राप्त होने के कारण पहले यह विश्वास किया जाता रहा कि इस शाखा का प्रभाव अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा यहा अधिक देर तक रहा।[28] इस भ्रान्त धारणा, का खण्डन डा० दुर्गामोहन भट्टाचार्य ने प्रमाणो सहित किया है। उन्होने यह सिद्ध करके दिखाया कि पैप्पलाद शाखा को, जो अथर्ववेद के सम्प्रदायो मे शायद सबसे मुख्य थी, प्राचीन काल में भारत के विविध क्षेत्रो मे अत्यधिक मान्यता प्राप्त थी। यह क्षेत्र नर्मदा के दक्षिण तक फैला हुआ था। सन् 1957 मे उन्हें उड़ीसा से लगने वाले पश्चिम वगाल और विहार के प्रदेशो मे इस सम्प्रदाय की शाखा के अनु-

यायियों का पता चला। उनमें से बहुत से लोगों को यह संहिता कण्ठाग्र थी। इस शाखा के अनुयायियों के कुछ परिवार गुजरात और सौराष्ट्र मे भी मिले हैं। उड़ीसा मे उड़िया लिपि में ताड़ पत्र पर लिखी बहुत सी पाण्डुलिपियां मिली है। अथर्ववेद संहिता की अधिक प्रचलित शौनक शाखा है। इस शाखा का प्रकाशन[29] बहुत बार हो चुका है।

अथर्ववेद का विभाजन

अथर्ववेद का विभाजन 20 काण्डों मे उपलब्ध है। ये काण्ड सूक्तों मे विभाजित हैं जिनकी संख्या 731 है। इनमे आये मन्त्रो की सख्या लगभग 6000 है। आधुनिक विद्वानो का मत है कि 20वा काण्ड अथर्ववेद संहिता मे बहुत पीछे से जोड़ा गया होगा। इसकी विषयवस्तु उन उत्सवो और संस्कारो के साथ जुड़ी हुई है जिनका सम्बन्ध अधिकांशत: गृह्यसूत्रो की विषयवस्तु के साथ है; यथा—जन्म, विवाह, मृत्यु आदि। इसके अतिरिक्त कुछ उत्सव राजा के राज्यारोहण से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इस प्रकार इस काण्ड की विषयवस्तु अथर्ववेद के अन्य काण्डो से भिन्न है। इस काण्ड के लगभग सभी सूक्त ऋग्वेद संहिता से लिये गए हैं। इनके अतिरिक्त अथर्ववेद का 1/7 भाग भी ऋग्वेद से ही लिया गया है। ऋग्वेद से उद्धृत आधे से अधिक मन्त्र ऋग्वेद के दसवे मण्डल से हैं। अवशिष्ट मन्त्र ऋग्वेद के पहले व आठवें मण्डल मे मे लिये गये है। 19वे काण्ड के बारे मे भी विद्वानों का यह मत है कि यह काण्ड भी पीछे से जोड़ा गया है।

अथर्ववेद के मूल 18 काण्डो मे उपलब्ध सूक्तो की व्यवस्था एक निश्चित योजना के अनुसार की गई है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह एक सावधानीपूर्वक किये गये सम्पादकीय क्रियाकलाप का फल है। विषयवस्तु की बाह्य रूपरेखा के अनुसार इसके 18 काण्डो को हम तीन भागो मे विभक्त कर सकते हैं—प्रथम भाग एक से 7वे काण्ड तक, इसे कुछ विद्वान्[30] अथर्ववेद का मूल नाभिक विन्दु मानते हैं; दूसरा भाग 8वे से 12वे काण्ड तक तथा तीसरा भाग 13वे से 18वे काण्ड तक है। अथर्ववेद के पहले 7 काण्डो मे बहुत से छोटे-छोटे सूक्त हैं। इन सूक्तों मे मन्त्रो की सख्या निम्न प्रकार है—प्रथम काण्ड मे 4 मन्त्रों वाले सूक्त, द्वितीय मे 5 मन्त्रो वाले सूक्त, तृतीय मे 6 मन्त्रों वाले सूक्त, चतुर्थ में 7 मन्त्रों वाले सूक्त, पांचवे काण्ड के सूक्तो में कम से कम 8 और अधिक से अधिक 18 मन्त्र हैं। छठे मे अधिकाशत 3 मन्त्रो वाले 142 सूक्त हैं और सातवें में 118 सूक्त है। इनमे से लगभग आधे सूक्त ऐसे है जिनकी मन्त्र संख्या एक है। सबसे लम्बा 73वां सूक्त 11 मंत्रो का है। एक प्रकार से पहले से छठे काण्ड तक संगृहीत मन्त्रो के परिशिष्ट के रूप मे सातवां काण्ड है। 8वें से 12वे काण्ड वाले भाग में लम्बे और विविध विषयो वाले सूक्त है। इनमे

जहां एक ओर यातुप्रधान और कर्मकाण्ड में प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्र हैं वहां दूसरी ओर रहस्यात्मक, दार्शनिक और सृष्टिरचना से सम्बन्ध रखने वाले तथा प्रशंसात्मक मन्त्रो की बहुतायत है। 12वे काण्ड को छोड़कर जिसकी सूक्त संख्या 5 है अन्य काण्डो की सूक्त सख्या 10 है। तृतीय भाग के सूक्त भी लम्बे है और इनमे सामान्यतया विषय की एकरूपता परिलक्षित होती है। 13वें काण्ड मे रोहित के नाम से सूर्य सम्बन्धी मन्त्र है, 14वे मे विवाह के मन्त्र है; 15वे मे व्रात्य सम्बन्धी मन्त्र है; 16वे और 17वे मे दुःखमोचन और अभ्युदय की प्रार्थनाएं है, 18वें मे अन्त्येष्टि विषयक मन्त्र है जिनका देवता यम है।

पैप्पलाद संहिता मे मत्रो और विषयवस्तु का सकलन शौनकीय सकलन से भिन्न है। इसमे मन्त्रों की सख्या और विषयवस्तु का चयन व सकलन अपेक्षया शिथिल सा है। शौनकीय संहिता के वे छोटे-छोटे सूक्त, जो पैप्पलाद सहिता में मिलते है, अपने स्वल्प आकार को छोड़कर अन्य दूसरे छोटे सूक्तो के साथ संयुक्त होकर अपेक्षया दीर्घ आकार मे प्राप्त होते है। इसके विपरीत शौनकीय शाखा के लम्बे सूक्त, जिनकी विषयवस्तु मिश्रित सी है, पैप्पलाद शाखा मे छोटे-छोटे सूक्तो के रूप मे सकलित हुए दिखायी देते है। इस संहिता मे कोई भी सूक्त 28 से अधिक मन्त्रो वाला नही है जबकि शौनकीय के 18वे काण्ड का चौथा सूक्त 89 मन्त्रो का है।

दोनो संहिताओं में दृष्टिगोचर होने वाला यह भेद उन दोनो के परस्पर सम्बन्ध और सरचना पर प्रकाश डाल सकता है। पैप्पलाद सहिता के प्रथम 4 काण्ड शौनकीय सहिता के प्रथम 4 काण्डो के रूप मे तथा 16वे से 18वें तक के काण्ड शौनकीय के 8 से 17 काण्ड के रूप मे मिलते है। शौनकीय संहिना की शेष विषयवस्तु बहुत अधिक विच्छिन्न रूप मे विद्यमान है। शौनकीय संहिता के 15वे काण्ड के व्रात्य सम्बन्धी सूक्त, 18वे के अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी मन्त्र, 20वे काण्ड तथा कुछ अन्य छुटपुट मन्त्रो को छोड़कर शौनकीय संहिता का अन्य कोई अश पैप्पलाद सहिता मे नही मिलता। शौनकीय सहिता का 19वा काण्ड पैप्पलाद मे बहुत अधूरे रूप में उपलब्ध है। पैप्पलाद सहिता के अन्तिम दो काण्डो (19वा और 20वा) की विषयवस्तु यातु सम्बन्धी है जो शौनकीय सहिता के प्रथम भाग जैसी—विशेषतया छठे और सातवे काण्ड जैसी है। इन तथ्यो के आधार पर लुई रेनो[31] तथा अन्य पाश्चात्य विद्वान् निम्न परिणामो पर पहुचे हैं।

(i) पैप्पलाद संहिता का उच्चावच तथा अनतिपरिमार्जित रूप इसकी स्वतन्त्रता और प्राचीनता को सूचित करते है।

(ii) शौनकीय सहिता के छठे और 8वे काण्ड की विषयवस्तु शायद पैप्पलाद के 19वे और 20वे काण्ड से ली गई प्रतीत होती है।

(iii) शौनकीय संहिता के 19वे काण्ड को पीछे से जोड़े जाने का अभिप्राय यह

नहीं है कि इसकी रचना शेष काण्डों के मन्त्रों की रचना के पश्चात् की है— इसका तात्पर्य इतना ही है कि इस सारी विषयवस्तु को उत्तम पाठ वाली शाखाओं के संस्करणो से लेकर पुनः वर्गीकृत किया गया है।[32]

इसके अतिरिक्त यह तथ्य[33] और ध्यान मे रखना चाहिए कि पैप्पलाद संहिता के पाठ अधिक स्वीकरणीय है, इसमे शौनकीय शाखा की संहिता की अपेक्षा ऋग्वेद के मन्त्र और पाठ अधिक हैं। पैप्पलाद सहिता मे यदि कोई ऋग्वेद का मंत्र परिवर्तित पाठ के रूप मे मिलता है तो वह यजुर्वेद की परम्परा के अनुसार होता है जबकि शौनकीय सहिता के पाठों मे ऐसी बात नही है; इससे भी शौनकीय सहिता की अपेक्षा इसकी प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

ऋग्वेद का प्रभाव

यह सामान्य धारणा रही हे कि दोनो संहिताओ के संकलनकर्ताओ ने कुछ प्रचलित पर असंगृहीत मन्त्रो के स्रोत में से चुन-चुनकर अपना-अपना सकलन तैयार किया। इसलिए यह विचार कि इन असंगृहित मन्त्रों पर आधृत होने के कारण इन संहिताओं का कुछ अंश ऋग्वेद के घटको की अपेक्षा भी अधिक प्राचीन होगा अधिक आक्षेपयोग्य नही है।[34] यह ध्यान रखने योग्य है कि मन्त्रों की रचना का काल, उनमे निहित भावों के परिपक्व होने का काल और अन्त मे उनके सगृहीत होने का काल तीनों पृथक्-पृथक् थे। यद्यपि अथर्ववेद के कुछ मूलतत्त्व निस्सन्देह ऋग्वेद की तत्सदृश विषयवस्तु से भी प्राचीन हैं तथापि उनका सहिता के रूप मे संकलन बहुत पीछे जाकर हुआ। मन्त्र और भाषा के आधार पर पूर्वापरता के विषय मे किसी परिणाम पर पहुचना सम्भव नही लगता क्योंकि इन पर आधारित भेद सामाजिक या क्षेत्रीय विशेषताओं के कारण भी हो सकता है। तैत्तिरीय सहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण[35] के अन्तिम काण्डो के लेखको को अथर्ववेद का किसी न किसी रूप मे ज्ञान अवश्य था। इसलिए इनकी रचना से तो अवश्य ही पहले इस वेद के मुख्य भाग का संकलन हो चुका होगा।

अथर्ववेद की भाषा और शैली

अथर्ववेद की भाषा और छन्द सामन्यतया ऋग्वेद-संहिता की भाषा और छन्दों से प्रभावित हैं तथापि अथर्ववेद की भाषा मे निश्चय ही ऋग्वेद की भाषा की अपेक्षा कुछ नये तथा लोकप्रिय रूप मिलते हैं। अथर्ववेद मे छन्दों का प्रयोग उतनी सावधानी से नही किया गया है जितना कि ऋग्वेद में। इस वेद के 15वे और 16वे काण्डों के अतिरिक्त जिनकी अधिकांश रचना गद्यमय है हमें अन्य स्थानो पर भी पद्य के बीच मे गद्य खण्ड मिलते है पर वे इतने विकृत रूप में है कि यह निर्णय करना कठिन होता है कि इन स्थलो की मूल रचना गद्य मे की गई

थी अथवा पद्य में । कही-कही तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूलतः शुद्ध छन्द को अपपाठ जोड़कर बिगाड दिया गया है । डा० ह्विटने[36] ने अथर्ववेद के छन्द के विषय पर लिखते हुए उनमे मिलने वाली अनियमितताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है । कुछ स्थानो पर भाषा और छन्द सम्बन्धी तथ्य यह सूचित करते है कि ये दोनो ही किसी ऐसी रचना से सम्बद्ध हैं जो निश्चय ही समय की दृष्टि से पीछे की कृति है ।[37] तथापि इन दोनो के आधार पर ऐसा कोई सामान्य परिणाम नही निकाला जा सकता जो उनकी रचना की तिथि या संहिता रूप मे संकलन की तिथि निर्धारित करने मे समर्थ हो । ऐसा इसलिए है कि ऋग्वेद के मन्त्र को— जिसकी रचना मूलत' किसी देवता विशेष की स्तुति के लिए की गई थी— पश्चात्काल में आथर्वण् और आङ्गिरस् पुराधाओं ने किसी रोग रूपी राक्षस का नाशकरने के लिए प्रयुक्त किया । ऐसा करते समय उन ओझा पुरोहितो के लिए यह आवश्यक था कि वे उस देवता के अन्य विशेषणो के साथ अथवा उनमे से किसी एकाध विशेषण के स्थान पर 'रक्षोहा', 'अमीवचातन', 'किमीदिन्' आदि विशेषणो का प्रयोग करे । यथा—

उप प्रागा'द् देवो अग्नी रक्षोहामी'वचातनः । दहन्नप' द्वयाविनो' यातुधानान् किमीदिनः ।[38]

इस प्रकार छन्द और भाषा मे परिवर्तन हो जाना अनिवार्य था । ऐसी अवस्था मे एकमात्र एकाध विशेषण के परिवर्तन के कारण उस रचना को नवीन काल की रचना अथवा उस छन्द को एक नवीन छन्द नही कहा जा सकता । अपने जादूविषयक उद्देश्य को पूरा करने के लिए ओझाओ के लिए ऐसा करना आवश्यक था ।

ऋग्वेद और अथर्ववेद की पूर्वापरता

इसके विपरीत अथर्ववेद मे ऐसे तथ्य उपलब्ध हैं जिनके आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अथर्ववेद सहिता का वर्तमान पाठ ऋग्वेद सहिता के पाठ की अपेक्षा पीछे का है । सर्वप्रथम तथ्य यह है कि अथर्ववेद मे उपलब्ध होने वाली भौगोलिक तथा सास्कृतिक अवस्थाएं यह निश्चय से दर्शाती हैं कि इनका काल ऋग्वेद के पीछे का है । अथर्ववेद मे मिलने वाले वर्णन के अनुसार वैदिक आर्य लोग दक्षिण पूर्व मे आगे वढ़कर गंगा के देश मे वम चुके थे । ऋग्वेद में उनकी निवास भूमि सप्तसिन्धु या उससे भी कुछ ऊपर का प्रदेश थी । द्वितीय, ध्यान देने योग्य वात यह है कि सिंह, जो ऋग्वेद के समय अज्ञात है, अथर्ववेद मे सर्वशक्तिशाली हिंसक पशु के रूप मे उपलब्ध होता है । इसे महाभयानक पशु माना गया है और इसका निवास-स्थान वंगाल के दलदल वाले जगल हैं जो ऋग्वैदिक आर्यो से अत्यन्त दूर थे और इसलिए अज्ञात थे । अथर्ववेद मे इस पशु

को राज्यशक्ति के प्रतीक के रूप मे दिखाया गया है जिसके चर्म पर राजा अपने राज्याभिषेक के समय आरूढ़ होकर अपने पराक्रम का प्रदर्शन करता था। तृतीय तथ्य यह है कि अथर्ववेद में न केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का वर्णन मिलता है परन्तु ब्राह्मणो के लिए इस वेद में सर्वाधिक प्रतिष्ठा और अधिकार स्वीकार किए गए है और ब्राह्मणो को पृथ्वी पर रहने वाले देवता के रूप मे माना गया है।[39] यह प्रक्रिया आगे चलकर अधिकाधिक बढ़ती चली गयी परन्तु ऋग्वेद में एकाध स्थलों को छोड़कर ऐसी स्थिति अनुपलब्ध है। चतुर्थ, अथर्ववेद के जादू प्रधान गीतों का जो अपने मुख्य विषय के अनुसार निश्चय ही लोकप्रिय और प्राचीन थे—अथर्ववेद संहिता मे अपना मौलिक रूप उपलब्ध नही होता, अपितु उन्हें ब्राह्मणीकृत[40] करके संगृहीत किया गया है। ऐसा करने का मुख्य कारण पुरोहितो के लिए अपने यजमानो की सख्या बढ़ाने मे देखा जा सकता है। निश्चय ही मूलतः जादूटोने का प्रयोग करने वाले ओझा यज्ञयाग कराने वाले पुरोहित नही थे और समाज के जिस वर्ग के लिए वे अपने जादूमन्त्रो का प्रयोग करते थे, वह वर्ग भी समाज का आभिजात्य वर्ग नही था। यज्ञ कर्मकाण्ड के अत्यधिक व्ययसाध्य और दक्षिणा-धन के प्रभूततम होने के कारण समाज के सामान्य व्यक्तियो के लिए ऐसे यज्ञो को संपन्न करवाना सम्भव नही था। इस कारण आभिजात्य वर्ग के पुरोहितो के लिए अधिक संख्या मे यजमानों का खोजना आवश्यक हो गया। ये बहुसंख्यक यजमान जादूटोनो की क्रियाओ मे विश्वास रखते थे और ओझा-जादूगरो के प्रभाव मे थे। पुरोहितों ने इन ओझाओ के जादू-मन्त्रो और अपने स्तुतिमन्त्रो का मिश्रण तैयार करके एक नवीन रचना को जन्म दिया। इस प्रकार निर्मित रचना मूलत. प्राचीन होती हुई भी अथर्ववेद मे उस रूप में नही मिलती। साथ ही साथ इन पुरोहितों ने जादू शैली के नये मन्त्रों का भी निर्माण किया जो अथर्ववेद मे संगृहीत है। इन नये मन्त्रो का निर्माण करने वाले तथा प्राचीन मन्त्रों को नया रूप देकर संग्रह करने वाले पुरोहितो का दृष्टिकोण देवताओं के लिए प्रयुक्त उन नवीन विशेषणो मे तथा मन्त्र-रचना मे प्रकट होता है। उदाहरणार्थ—खेती का नाश करने वाले कीड़े और टिड्डियो के विरुद्ध प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्रो मे कहा गया है कि ये कीड़े अनाज को ऐसे ही अछूता छोड़ दे जैसे कि ब्राह्मण अपरिपक्व और अपूर्ण यज्ञ-सामग्री का स्पर्श नही करता।[41] अथर्ववेद मे बहुत से सूक्त एक मात्र ब्राह्मणो के हित को ध्यान मे रखकर बनाये गये हैं जिनमे ब्रह्मभोज कराने, यज्ञ मे बड़ी-बड़ी दक्षिणा देने जैसे विषयो का वर्णन किया गया है।[42]

प्राचीन जादूमयी कविता का ब्राह्मणीकरण जिस प्रकार अथर्ववेद के बाद मे संगृहीत किये जाने का द्योतक है उसी प्रकार अथर्ववेद मे वर्णित देवताओ का स्वरूप भी इसी बात का द्योतक है। अथर्ववेद मे भी अग्नि, इन्द्र आदि उन्ही

देवताओ का दर्शन होता है जो ऋग्वेद मे थे परन्तु उनका स्वरूप अब बिल्कुल धुँधला पड चुका था। उनके कृत्यो मे एक-दूसरे से बहुत ही कम भेद है। उनका प्राकृतिक शक्ति वाला रूप अधिकाश मे भुला दिया गया था और अथर्ववेद के मन्त्रो का प्रयोग क्योकि रोगो और राक्षसो को दूर भगाने तथा उनके नाश के लिए किया जाता था इसलिए अथर्ववेद मे इन देवताओ का स्वरूप एकमात्र 'रक्षो-हन्ता'[43] का रह गया है। अथर्ववेद के वे सूक्त, जिनमे दार्शनिक, आध्यात्मिक और सृष्टि रचना सम्बन्धी विचारो का संग्रह है, इसके वेदत्रयी की अपेक्षा बहुत बाद मे संगृहीत किये जाने के द्योतक है। इन सूक्तो मे पर्याप्त रूप से विकसित दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है और इनमे वर्णित अधिदेववाद उपनिषदो मे वर्णित दार्शनिक स्तर का है। इन दार्शनिक सूक्तो का भी विनियोग जादूक्रियाओ के लिए किया जाता था। 'असत्' (सत्तारहित) जैसे दार्शनिक विचार को शत्रुओ, राक्षसो और जादूगरो के नाश के लिए विनियुक्त किया गया है—

असद् भूम्याः समभवत् तद् यामेति महद् व्यचः।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ।।[44]

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे सम्मुख एक अत्यन्त प्राचीन जादूगरी का कृत्रिम तथा आधुनिकीकृत रूप विद्यमान है।

अथर्ववेद को विलम्ब से मिली मान्यता का कारण

अन्य वेदो की अपेक्षा अथर्ववेद के बाद मे संगृहीत किये जाने के विषय मे कुछ लोगों द्वारा यह मत प्रकट किया गया है कि अन्य वेदो की अपेक्षा इसे वेदत्रयी के साथ बहुत बाद मे सम्मिलित किये जाने के कारण इसकी रचना निश्चय से बाद मे हुई होगी। इस मत मे अधिक सार नही है। अथर्ववेद को बहुत पीछे जाकर मान्यता मिलने के कारण कुछ और ही है। वस्तुतः वेदत्रयी के साथ समकक्षता या मुख्यता न मिलने का कारण इस वेद का अपना स्वरूप है। अथर्ववेद का मुख्य ध्येय 'अतिमानवीय शक्तियो को तुष्ट करना', 'मित्रो को आशीष देना' और 'दुश्मनो को शाप देना' माना जाता है। जादू क्रियाओ मे प्रयुक्त होने वाले वे असख्य मन्त्र जिनमे शाप और छूमन्तर की बाते कही गयी है 'अपवित्र यातु' का क्षेत्र मानी जाती है जिसका पुरोहित वर्ग और ब्राह्मणिक धर्म ने बार-बार खण्डन किया है। तथापि यदि हम 'यातु' और 'तुष्टि' अथवा 'पूजा' पर समग्र रूप मे विचार करे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि दोनो मे कोई मौलिक मतभेद नही है: दोनो के ही प्रयोग द्वारा मनुष्य अतीन्द्रिय और अतिमानवीय शक्तियो पर प्रभावी होना चाहता है। वस्तुतः पुरोहित और जादूगर मूलत एक ही हैं। ससार के इतिहास मे यह प्रक्रिया सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है कि एक समय ऐसा आता है जब देवपूजा और जादूगर की भूतपूजा अलग-अलग होने लगती है तथा पुरोहित,

जो कि देवताओ का मित्र होता है, अशुभ भूत प्रेतादि के साथ सन्वन्ध रखने वाले जादूगर को हेय और तुच्छ दृष्टि से देखता है। भारतवर्ष मे भी पुरोहित और जादूगर का यह विरोध विकसित हुआ। यद्यपि स्मृतिग्रन्थो[45] मे जादूगरी को पाप कहा गया है और जादूगरो को दुष्ट और धोखेवाज वताया गया है पर अन्ततः अथर्ववेद के मन्त्रप्रयोग द्वारा शत्रुनाश की आज्ञा भी दी गई है। शत्रुओ के विरुद्ध प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्राशो का रूप इस प्रकार है—'योऽस्मान् द्वेष्टि य वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्म.'।[46]

लेकिन यह सत्य है कि अथर्ववेद के प्रति पुरोहित वर्ग मे हीनता और असमानता का भाव पर्याप्त समय तक वना रहा। प्राचीन ग्रन्थो मे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के नाम से सर्वप्रथम वेदत्रयी को स्मरण किया जाता है और वाद मे अथर्ववेद को। यहाँ तक कि कभी-कभी पवित्र साहित्यिक ग्रन्थो मे वेदाङ्ग, इतिहास और पुराण को तो सम्मिलित किया गया है परन्तु अथर्ववेद का नाम-निशान भी नही है। शाङ्खायन गृह्यसूत्र[47] मे नवजात शिशु का संस्कार करते हुए पुरोहित कहता है—"मैं तुझमे ऋग्वेद को स्थापित करता हूँ, मै तुझमे यजुर्वेद को स्थापित करता हूँ, मै तुझमे सामवेद को स्थापित करना हूं, मैं तुझमे वाकोवाक्य को स्थापित करता हूँ, मैं तुझमे इतिहास पुराण को स्थापित करता हूँ, मैं तुझमे सव वेदो को स्थापित करता हूँ।" यहाँ स्पष्टतः ही अथर्ववेद का नाम जानवूझकर छोड़ दिया गया है।

दूसरी ओर यह भी एक तथ्य है कि प्राचीन सहिताओं मे उदाहरणार्थ तैत्तिरीय सहिता मे—तथा प्राचीन व्राह्मणो और उपनिषद् मे अथर्ववेद का अन्य वेदों के साथ नाम गिनाया गया है—'ऋग्भ्यः स्वाहा यजुर्भ्यः स्वाहा सामभ्यः स्वाहा ऽङ्गिरोभ्यः स्वाहा वेदेभ्यः स्वाहा'[48]। इससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'अथर्ववेद' नाम का अभाव या परित्याग उसके वहुत वाद की रचना होने में प्रमाण रूप से उपस्थित नही किया जा सकता। स्तुति और प्रार्थना मन्त्रो से परिपूर्ण ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनो की तुलना करने पर हम इस सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अथर्ववेद के पश्चात्कालीन सूक्त ऋग्वेद के पश्चात्कालीन सूक्तों की अपेक्षा पीछे के हैं। यह भी निश्चित है कि अथर्ववेद के वहुत से सूक्त ऋग्वेद के अधिकाश सूक्तो की अपेक्षा पश्चात्कालीन हैं।

इसके विपरीत यह भी तथ्य है कि अथर्ववेद की जादूमयी कविता अधिक नही तो उतनी ही प्राचीन है जितनी कि ऋग्वेद की याज्ञिक कविता तथा अथर्ववेद के वहुत से भाग उतने ही प्राचीन प्रागैतिहासिक काल की रचना हैं जिस काल के ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्त। 'अथर्ववेद का काल' नाम से हम किसी समय विशेष को सूचित नही कर सकते। ऋग्वेद संहिता के समान ही अथर्ववेद सहिता मे भी ऐसे मन्त्र और मन्त्रांश बिखरे पड़े हैं जिनकी रचनाओ मे शताब्दियों का अन्तर

विद्यमान है। अथर्ववेद संहिता के पिछले काण्डो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी रचना ऋग्वेद के सूक्तो के अनुकरण पर हुई थी।

विन्टरनिट्स[49] ने ओल्डनवर्ग की इस सम्मति से असहमति प्रकट की है कि भारत का प्राचीनतम जादूपरक सूत्र गद्य रूप मे निर्मित हुआ था तथा जादूमन्त्रो और जादूगीतो का सम्पूर्ण साहित्य अपने सहोदर याज्ञिक सूक्तो के अनुकरण पर निर्मित किया गया था। अन्ततः यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि ऋग्वेद के सूक्तो की अपेक्षा अथर्ववेद के जादूमन्त्रो मे एक सर्वथा दूसरी ही भावना उभर रही है। यहाँ एक नया ही संसार दृष्टिगोचर होता है। एक ओर द्युलोक और पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्ष लोक के महान देवता हैं जिन्होने प्राकृतिक शक्तियो का रूप धारण किया हुआ है, जिनका गान और प्रशंसा ऋषि करते है, यजमान जिनको हवि प्रदान करते हैं, जिनकी शक्ति और सहायता के लिए वह प्रार्थना करता है और जिन देवताओ मे से अधिकाश उसके साथ मैत्री-भाव रखते हैं—यह है ऋग्वेद का रूप।

इसके विपरीत, अथर्ववेद मे वे कष्टदायिनी राक्षसी शक्तियाँ हैं जो मानव-मात्र को रोग और दुर्भाग्य द्वारा सताती हैं, भूत और प्रेत है जिनके विरुद्ध जादूगर डरावने शाप प्रेरित करता है अथवा चाटुभरी उक्तियो के द्वारा जिन्हे वह प्रसन्न करके दूर भगाने का यत्न करता है। अथर्ववेद के इन जादूमन्त्रो और विश्वासो की तुलना ससार के सभी देशो की सभी प्राचीन जातियो में मिलने वाले ऐसे ही क्रिया-कलापो के साथ की जा सकती है। उत्तरी अमेरिका के निवासियो मे, अफ्रीका की नीग्रो जातियो मे, मलयदेशवासियों और मगोल जातियों मे, प्राचीन ग्रीक और रोमन जातियो मे तथा यूरोप के वर्तमान कृषको में हमे बिल्कुल इसी प्रकार के विचार, इसी प्रकार के भाव, जादूगीत, जादूक्रियाएँ दृष्टिगोचर होती है।

अथर्ववेद की महत्ता इस तथ्य मे निहित है कि यह ब्राह्मणिक धर्म से अप्रभावित रहने वाले वास्तविक लोकप्रिय विश्वासो की सूचना प्रदान करने वाला बहुमूल्य स्रोत है। इसके द्वारा हमे अनगिनत भूत, प्रेत, पिशाच, प्रत्येक प्रकार के यक्ष, राक्षस और जादू, तन्त्र तथा जातिविद्या और धर्म के इतिहास का ज्ञान मिलता है। इसकी प्रामाणिकता को परखने के लिए अब हम अथर्ववेद की विषय-वस्तु का विवेचन करेंगे।

अथर्ववेद की विषय-वस्तु

अथर्ववेद की विषय-वस्तु का एक मुख्य भाग उन गीतो और मन्त्रो का है जिनका प्रयोग रोगनाश और स्वास्थ्यलाभ की प्रार्थनाओ के रूप मे किया जाता था[50]—यथा सूर्य॑स्य र॒श्मयः॑ परा॒पत॑न्त्याशु॒मत्। ए॒वा त्वं का॑से॒ प्र प॑त समु॒द्रस्यानु॑ विक्ष॒रम् (अथर्व० 6.105.3)। शं मे॒ पर॑स्मै॒ गात्रा॑य॒ शम॒स्त्वव॑राय मे। शं मे॑

चतुर्भ्यो अङ्गे'भ्यः शर्मस्तु तन्वे३' मम (अथर्व 1.12.4)। इन्हे हम 'भैपज्यानि-सूक्तानि' के' नाम से कह सकते हैं। ये मत्र स्वयं रोगो को, जिनकी कल्पना मानवीकृत रूप मे राक्षस या राक्षसो की श्रेणी के रूप मे की गयी है, उद्दिष्ट करके अभिहित किये गये है। इसके मूल मे यह विश्वास था कि ये ही रोगो को उत्पन्न करने वाले है। यह विश्वास सामान्यतया सभी प्राचीन जातियो मे विद्यमान है कि ये रोग उत्पन्न करने वाले राक्षस या तो रोगी के शरीर मे प्रवेश करके अथवा स्वयं बाहर रहकर उसे सताते है और पीड़ित करते है। दूसरी ओर ये भैपज्यानि-सूक्त उन ओपधियो और वनस्पतियों को सम्बोधित किये गये है जो रोगनाशक समझी जाती थी।[51]

यो गिरिष्वजायथ वीरूधा वलवत्तमः। कुष्ठेहि' तक्मनाशन तक्मानं' नाशयन्नितः।। (अथर्व० 5.4.1)। इसी प्रकार सूक्त जलो को सम्बोधित किये गये है जिनमे विशिष्ट रोगनाशक शक्ति मानी जाती थी।[52]

आपो' ह् मह्यं' तद देवीर्ददन् हृद्द्योतभेपजम् (अथर्व० 6.24.1)।

कुछ अग्नि को सम्बोधित किये गये हैं जो राक्षसो को भगाने मे सर्वशक्ति-शाली माना जाता था।[53] जादूगर पुरोहितो द्वारा इन यानुमन्त्रो और इनके साथ की जाने वाली जादू-क्रियाओ का विशेप वर्णन कौशिक सूत्रो मे उपलब्ध होता है।

इन सूक्तो मे कभी-कभी रोग के लक्षणो का अत्यन्त स्पष्टता के साथ वर्णन किया गया है इसलिए इनका महत्त्व चिकित्सा के इतिहास की दृष्टि से भी बहुत है। ज्वर के प्रति प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों मे यह विशेषता अधिक दृष्टिगोचर होती है। पश्चात्कालीन चिकित्सा ग्रन्थो मे भी ज्वर को रोगो का राजा कहा गया है क्योकि कई रोगो के बाह्य लक्षण के रूप मे इसका बाहुल्य और भयकरता दृष्टि-गोचर होती थी। बहुत से जादूमन्त्र तक्मन को सम्बोधित किए गये हैं। अथर्व-वेद मे इस ज्वर रोग को एक राक्षस के रूप मे कल्पित करके वर्णित किया गया हैं। अथर्ववेद के पाचवे काण्ड का 22वाँ सूक्त उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। इन जादूमन्त्रो के प्रयोग के साथ यह कामना की जाती थी कि इस मन्त्र के प्रभाव से यह रोग अन्य दूसरी जातियो, विभिन्न देशो और शत्रुओ को प्रभावित करेगा।[54]

तक्मन् मूजवतो गच्छ वल्हिकान् वा परस्तराम्। शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं१ ता तक्मन् वी/व धूनूहि (अथर्व० 5.22.7)। इन जादूमन्त्रो मे कही-कही अपेक्षाकृत सुन्दर कविता के भी दर्शन होते है[55]—

अमूर्या यन्ति योपितो' हिरा लोहितवाससः। अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः (अथर्व० 1.17.1) पर ऐसा अपवाद रूप ही है। अधिकाश मे ये जादू-मन्त्र एक ही आवृत्यात्मक शैली मे रचित हैं। उदाहरथार्थ—

पञ्च॑ च याः पं॑ञ्चाश॒च्च॑ सं॒यन्ति॒ मन्या॑ अ॒भि । इ॒तस्ताः सर्वा॑ नश्यन्तु वा॒का अ॑पचि॒तामिव ॥

स॒प्त च॒ याः स॑प्त॒तिश्च॑ सं॒यन्ति॒ ग्रैव्या॑ अ॒भि । इ॒तस्ताः सर्वा॑ नश्यन्तु वा॒का अ॑पचि॒तामिव" ॥

नव॑ च या न॑व॒तिश्च॑ सं॒यन्ति॒ स्कन्ध्या॑ अ॒भि । इ॒तस्ताः सर्वा॑ नश्यन्तु वा॒का अ॑पचि॒तामिव ॥[56]

अथर्ववेद मे यह विश्वास भी पाया जाता है कि बहुत से रोग कीड़ों या कीटाणुओं से पैदा होते हैं इसलिए इनको दूर भगाने के लिए कुछ सूक्तों का प्रयोग किया जाता था। इन कीड़ों को राक्षसी प्राणी माना जाता था। कहीं-कहीं पर इनके राजा और शासक का भी वर्णन है और ये पुरुष-स्त्री के रूप में भी वर्णित हैं[57]—

ह॒तो राजा॒ क्रिमी॑णामु॒तैषां स्थ॒पति॑र्ह॒तः ह॒तो ह॒तमा॑ता॒ क्रिमि॑र्ह॒तभ्रा॑ता ह॒तस्व॑सा ॥ (अथर्व० 2.23.17)

बहुत से जादूमन्त्र पिशाचों, राक्षसों और दैत्यों के विरुद्ध प्रयुक्त किये जाते थे। ये सभी रोगो को उत्पन्न करने वाले समझे जाते थे और इन मन्त्रों के प्रयोग द्वारा इन्हे दूर भगाया जाता था। कुछ ऐसी अतीन्द्रिय शक्तियाँ अथर्ववेद में वर्णित हैं जो स्त्रीरूप धारिणी हैं। ये मूलतः प्राकृतिक शक्तियाँ नदी, वन आदि की स्त्री देवताओ के रूप मे वर्णित हैं। इन्ही के साथ अप्सराओं को भी जोड़ा गया है जिनके सम्पर्क मे गन्धर्व भी इस कोटि मे आ गये हैं। इन्हें दूर भगाने के लिए 'अजशृङ्गि'[58] औषध या वनस्पति का प्रयोग बताया गया है जिसकी गन्ध मधुर थी। इस सूक्त के वर्णन से ज्ञात होता है कि अप्सराएँ और गन्धर्व नाना पशुओ के रूप धारण करके मनुष्यों को पीड़ित करते थे। अथर्ववेद के इन जादूमन्त्रों मे वर्णित विश्वासो की तुलना एडलबर्ट कुन्ह[59] ने जर्मन लोकप्रिय विश्वासों के साथ की है।

एक दूसरे प्रकार के सूक्त जिन्हे 'आयुष्याणि-सूक्तानि' के नाम से कहा गया है अथर्ववेद की विषयवस्तु के प्रमुख भाग के रूप में विद्यमान है। ये सूक्त स्वास्थ्य प्रदान के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले भैषज्यानि सूक्त वाले जादूमंत्रों से बहुत भिन्न नही हैं। ये वे प्रार्थनाएँ हैं जो बच्चों के प्रथम मुण्डन संस्कार, नौजवान के प्रथम श्मश्रुमुण्डन, उपनयन आदि पारिवारिक उत्सवो के समय प्रयुक्त की जाती थीं। इन आयुष्याणि सूक्तो मे दीर्घायु के लिए 'जीवेम शतं शरदः' और 'जीवेम शतं हिमाः' जैसी प्रार्थनाएँ थी। उदाहरणार्थ—

सं क्रा॑मतं॒ मा ज॑हीतं॒ शरी॑रं प्राणापा॒नौ ते॑ स॒युजा॑वि॒ह स्ता॑म् । श॒तं जी॑व श॒रदो॒ वर्ध॑मानो॒ऽग्निष्टे॑ गो॒पा अ॑धि॒पा वसि॑ष्ठः ॥

मेमं प्रा॒णो हा॑सी॒न्मो अ॑पा॒नो/व॒हाय॒ परा॑ गात् । स॒प्तर्षिभ्य॑ एनं॒ परि॑ ददामि॒ त ए॑नं स्व॒स्ति ज॒रसे॑ वहन्तु ॥

आ ते' प्राणं सु'वामसि परा यक्ष्मं' सुवामि ते । आयु'र्नो विश्वतो' दधदुय-मुग्निर्वरे'ण्यः ।।[60]

इनमे सौ या एक सौ एक प्रकार की मृत्युओ से मुक्ति की प्रार्थना, नाना प्रकार की बीमारियो से सुरक्षा की प्रार्थनाएँ बार-बार की गई हैं । 17वे काण्ड का तीस मन्त्रो वाला सूक्त ऐसा ही एक सूक्त है । जिस प्रकार भैषज्यानि सूक्तो मे बहुत सी प्रार्थनाएँ यातु वैद्य द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली वनस्पतियो को सम्बोधित की गई हैं उसी प्रकार आयुष्याणि सूक्तो की कुछ प्रार्थनाएँ उन गडे तावीजो को सम्बोधित की गई है जिनका उपयोग उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घायु की प्राप्ति के लिए पहनने वाला किया करता था ।

आयुष्याणि सूक्तो के साथ गहरा सम्बन्ध रखनेवाले 'पौष्टिकानि-सूक्तानि' है जिनके प्रयोग द्वारा व्यापारी, पशुपालक और किसान अपने व्यवसाय और धन्धे मे सफलता और समृद्धि की कामना करते थे[61]—

शतंहस्त समाहर सहंस्रहस्त स किंर । कृतस्यं कार्यं/स्य चेह स्फातिं समावंह । (अथर्व० 3 24.5);

ये पन्थानो बहवो' देवयाना' अन्तरा द्यावांपृथिवी संचरंन्ति । ते मा' जुषन्तां पयंसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनंमाहराणि (अथर्व० 3.15.1) ।

इनमे गृह-निर्माण के समय की जाने वाली प्रार्थना, हल चलाने से पहले की जाने वाली प्रार्थना, अनाज का बीज बोए जाने से पहले की जाने वाली प्रार्थना, खेती को नुकसान पहुँचाने वाले कीड़ो के विरुद्ध प्रयुक्त किए जाने वाले यातु-मत्र, अग्नि की विपत्ति से सुरक्षा के लिए किए जाने वाले मन्त्र, वर्षा के लिए की जाने वाली प्रार्थना, घरेलू पशु और पशुसमूह की समृद्धि के लिए की जाने वाली प्रार्थना, जंगली पशु तथा डाकुओ से सुरक्षा के लिए किए जाने वाले यातुमन्त्र, व्यापारियो द्वारा सौभाग्य और अच्छे व्यापार के लिए की जाने वाली यात्रा के समय प्रयुक्त प्रार्थनाएँ जुआरी द्वारा जुए मे विजय दिलाने की स्थिति मे अक्ष के गिरने की प्रार्थना तथा साँपों आदि के विरुद्ध प्रयुक्त होने वाले यातुमन्त्र सम्मिलित हैं ।[62] उदाहरणार्थ —

शिवा भंव पुरुंषेभ्यो गोभ्यो अश्वे'भ्यः शिवा । शिवास्मै सर्वं'स्मै क्षेत्राय शिवा नं इहैधि ।।

इह पुष्टिंरिह रसं इह सहस्रंमातमा भव । पशून् यंमिनि पोषय (अथर्व० 3-28.3.4) । यथा वृक्षमशनिंर्विश्वाहा हन्त्यंप्रति । एवाहमद्य किंतवानक्षैर्ब'ध्यासमप्रति ।।

अजै'षं त्वा सलिखितमजैष'मुत संरुधम् । अविं वृको यथा मथंदेवा मंथ्नामि ते कृतम् ।।

कृतं मे दक्षिंणे हस्ते' जयो मे' सव्य आहिंतः । (अथर्व० 7.50.1.5.8)

ऐसी प्रार्थना मे कविता कोई ऊंचे दर्जे की नही है। हा, यह सत्य है कि एक सामान्य लम्बी कविता मे कभी-कभी सुन्दर कवित्वमय भाषा का प्रयोग भी मिलता है। अर्थववेद का 4.15 अच्छी कविता का एक उत्तम उदाहरण है। उकताहट पैदा करने वाली कविता का दर्शन निम्नलिखित मन्त्र मे देखा जा सकता है—

स्वप्तु' माता स्वप्तु' पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु' विश्पतिं.। स्वपंन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनंः।[63]

एक अन्य प्रकार का विषय—जिसका 'मृगार सूक्तानि' के अन्तर्गत वर्णन किया जाता है—सामान्य प्रसन्नता और आशीर्वाद के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ऐसे छः सूक्त अथर्ववेद के चौथे काण्ड मे सूक्त सख्या 23 से 29 तक है। इनमे से प्रत्येक सूक्त मे 7-7 मन्त्र है जिन्हे क्रमशः अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, द्यावापृथिवी, मरूत्, भव और शर्व तथा मित्र और बरुण के प्रति सम्बोधित किया किया है। इन सबका अन्तिम मन्त्र 'स नो मुञ्चत्वहसः' इस टेक के साथ समाप्त होता है।

वैदिक साहित्य मे और विशेषतया ऋग्वेद और अथर्ववेद मे प्रयुक्त 'अहस्' शब्द का सामान्य अर्थ पाप लिया जाता है परन्तु इस प्राचीन शब्द का प्रयोग कष्ट, विघ्न, विपत्ति, दुरित, अपराध आदि सभी अर्थो मे हुआ है। इसलिए ऐसे सूक्तो को जिनमे अंहस् से छुटकारे की प्रार्थना की गई है हम 'प्रायश्चित्तानि सूक्तानि[64] के अन्तर्गत भी कर सकते हैं। इन सूक्तो की सख्या 40 के लगभग है। आर्यो मे प्रायश्चित के कई रूप थे। यह न केवल पाप और अपराध से मुक्ति के लिए किया जाता था अपितु कर्तव्य कर्मो के न करने अथवा अपूर्ण रूप मे करने या उचित रूप मे न करने के लिए भी किया जाता था। यथा—

यद् दु'ष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया। त्वया तद् विश्वतोमुखापा-मार्गाप मृज्महे।[65]

इसमे नैतिक तथा धार्मिक नियमो के उल्लघन और यज्ञादि नित्य और नैमित्तिक कर्मो के अपूर्ण या उचित रूप मे करने और न करने के लिए भी प्रायश्चित का किया जाना अनिवार्य था। ये अपराध जाने-अनजाने रूप मे मन, वचन कर्म द्वारा किये जाने पर भी प्रायश्चित द्वारा शान्त किये जा सकने वाले माने जाते थे। अपराध माने जाने वाले कर्मो मे कर्ज का न लौटाना, जुए मे हारे गये धन की अदायगी न करना, निषिद्ध गोत्र या सपिण्ड वर्ण मे शादी करना, बड़े भाई से पूर्व छोटे भाई का विवाह करना आदि कृत्य भी शामिल थे। प्रायश्चित्तानि के अन्तर्गत परिगणित सूक्तो का प्रयोग मानसिक और शारीरिक कमजोरियो, अपशकुनो, अशुभ नक्षत्र मे सन्तान जन्म, बुरे स्वप्न, दुर्घटना आदि के प्रभाव को नष्ट करने या कम करने के लिए भी किया जाता था। अपराध, पाप, बुराई, दुर्भाग्य सम्बन्धी विचार परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध माने जाते थे। वस्तुस्थिति यह थी

कि प्रत्येक अनिष्ट—चाहे वह रोग व दुर्भाग्य हो और चाहे अपराध व पाप हो बुरी आत्माओं द्वारा पैदा किया माना जाता था। अपङ्ग या पागल के समान बुरा काम करने वाला भी पापी था और किसी दुष्टात्मा या राक्षस द्वारा अधिष्ठित माना जाता था। वही प्रेत, पिशाच आदि जो रोग आदि से हमे सताते हैं—हमारे लिए दुर्भाग्य व अपशकुन लाते हैं। अथर्ववेद के 10.3 के मन्त्र एक तावीज को बाँधते समय प्रयुक्त किये जाते हैं। इस तावीज को धारण करने वाला व्यक्ति हर प्रकार के कष्ट, विपत्ति, बुराई, बुरे स्वप्न, जादू या उसके सगे-सम्बन्धियो यथा—माता-पिता, भाई-बहिन-द्वारा किये गये दुष्कृत्यो से भी सुरक्षा प्राप्त कर लेता है। इसके साथ ही वह सब प्रकार की बीमारियो से छुटकारा दिलाने मे समर्थ माना जाता था।

परिवारो और जातियो मे वैमनस्य, राक्षसों और द्वेषी जादूगरों के प्रभाव से उत्पन्न किया गया माना जाता था। इस वैमनस्य को दूर करके मैत्री और सद्-भावना उत्पन्न करने के लिए कुछ जादू-मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था जिन्हें 'सांमनस्यानि सूक्तानि'[66] के नाम से जाना जाता है। उदाहरणार्थ—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्। समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ (अथर्व० 6.64.2,3)।

इन जादूमन्त्रों में न केवल शान्ति और सद्भाव पैदा करने की शक्ति मानी जाती थी अपितु स्वामी के क्रोध को शान्त करने, सभा तथा समाज मे प्रभावोत्पादकता प्राप्त करने की शक्ति, न्यायालय में उपस्थित विवाद मे विजय दिलवाने की शक्ति मानी जाती थी।

नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु। विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव॥ (अथर्व० 6.123.5)। दो समुदायो में सांमनस्य उत्पन्न करने के लिए 3.30 का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार के सूक्तो का प्रयोग पारिवारिक विवादों मे शान्ति स्थापना तथा पति-पत्नी मे मेल उत्पन्न करने के लिए भी किया जाता था। यथा—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः (अथर्व० 3.30.1,3,6)।

विवाह के समय तथा प्रेमी-प्रेमिकाओं मे सद्भाव की स्थापना के लिए एक

अन्य प्रकार के यातुमन्त्रों या प्रार्थनाओ का प्रयोग किया जाता था। कौशिक सूत्रों मे इन्हे 'स्त्री कर्माणि'[6] के नाम से कहा गया है। ये मन्त्र दो प्रकार के है—एक तो वे जो सद्भावना तथा शान्त प्रकृति के है—जिनका प्रयोग विवाह और सन्तानोत्पत्ति के लिए किया जाता था। इनका सम्बन्ध हानिरहित जादूकृत्यो के साथ है और इनका प्रयोग युवक-युवति द्वारा अभीष्ट कन्या या वर की प्राप्ति के लिए किया जाता था। यथा—

यथे॒दं भूम्या॒ अधि॒ तृण॒ं वातो॑ मथा॒यति॑। ए॒वा म॑थ्नामि ते॒ मनो॒ यथा॒ मा का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ अस॑ः॥

यदन्त॑रं तद् बा॒ह्यं यद् बा॒ह्यं तदन्त॑रम्। क॒न्या/ना वि॒श्वरू॑पाणां॒ मनो॑ गृभायौषधे (अथर्व० 2.30.1,4)।

नवविवाहित दम्पतियो के लिए आशीर्वाद के लिए भी बहुत से मन्त्रों का प्रयोग होता था। ऐसे मन्त्रो का संग्रह अथर्ववेद के 14वे काण्ड मे है और यह संग्रह ऋग्वेद मे उपलब्ध ऐसे ही मन्त्रो का प्रवृद्ध रूप है। दूसरे प्रकार के मन्त्रो का सम्बन्ध, जो संख्या मे कही अधिक है, विवाहित जीवन मे आने वाली विपत्तियो को दूर भगाने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले यातु के साथ है। इनमे से कुछ जादूमन्त्र तो हानिकारक नही हैं—जिनके प्रयोग द्वारा पत्नी या पति एक-दूसरे के क्रोध या ईर्ष्या के भाव को शान्त करना चाहते है। कुछ ऐसे भी यातुमन्त्र हैं जिनका प्रयोग किसी व्यक्ति के मन को जीतने के लिए किया जाता था—

यथे॒मे द्यावा॑पृथि॒वी स॒द्यः प॒र्येति॒ सूर्य॑ः। ए॒वा पर्ये॑मि ते॒ मनो॒ यथा॒ मा का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ अस॑ः। (अथर्व० 6.8.3)।

संसार मे अन्यत्र भी माने जाने वाले इस विश्वास का रूप भारत मे भी विद्यमान था कि किसी व्यक्ति पर प्रभाव डालने के लिए या उसके मन को जीतने के लिए उस व्यक्ति की मूर्ति या चित्र बनाकर उस पर जादू का प्रयोग करने से उस व्यक्ति के मन को वश मे किया जा सकता है। इस कार्य के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्र अथर्ववेद 3.25 तथा छठे काण्ड मे संगृहीत हैं। ऐसे ही मारण-उच्चाटन के लिए प्रयुक्त किये जाने के लिए बहुत से मन्त्र है जिनके उदाहरण अथर्व० 1 14, 7.45, 90; 6.148 है।

इसी प्रकार बलात् किसी व्यक्ति के मन को जीतने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले जादूमन्त्र अङ्गिरा पुरोहित द्वारा प्रयुक्त किये जाते थे। इनमें राक्षसों, जादूगरो तथा शत्रुओ के विरुद्ध प्रयुक्त किये जाने वाले जादूमन्त्र सम्मिलित हैं। इन कर्मो के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्रो को 'आभिचारिकाणि-सूक्तानि' का नाम दिया गया है। 16वे काण्ड का पिछला आधा भाग ऐसे ही मन्त्रो का है। इनका प्रयोग दु.स्वप्न नाश के लिए भी किया जाता था। यथा—

यदि॑न्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि॒ मृ॒षा चरा॑मसि। प्रचे॑ता न अङ्गिर॒सो दु॑रि॒तात् पा॒त्वं-

हंसः ।। (अथर्व० 6.45.3)

विद्म ते' स्वप्न जुनित्रं' देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नंः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि (अथर्व० 6.46.2) ।

इसी नाम के राक्षस से कहा गया है कि वह हमे छोड़कर हमारे शत्रुओ पर प्रभाव डाले । इन अभिशापों का प्रयोग करते समय राक्षसो, द्वेपी जादूगरों और जादूगरनियो मे कोई भेद नही किया जाता था । 'रक्षोहा' अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह इन सब यातुधानों का नाश करे । इन मारण और उच्चाटन के मन्त्रों में हमे राक्षसो और यातुधानो के ऐसे लोकप्रिय नाम मिलते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं । इन मंत्रों में हमें दृढ़ता से जमे हुए एक ऐसे विश्वास के दर्शन भी होते है कि रोग और दुर्भाग्य न केवल राक्षओ द्वारा भेजे जाते हैं अपितु यातुशक्ति सम्पन्न द्वेपी मनुष्यो द्वारा भी पैदा किये जाते हैं । इस यातुशक्ति का मानवीकरण करके इसका सान्मुख्य एक स्वास्थ्यवर्धक वनस्पति या तावीज से कराया जाता है । इस दु.खदायी और कष्टदायक यातु से सम्बद्ध मन्त्रों मे जहाँ एक ओर भापा की चुलबुलाहट और भयंकरता के दर्शन होते हैं वही मधुरता और सुन्दरता भी दृष्टिगोचर होती है । अथर्ववेद के इन अभिशापो और यातुमन्त्रो मे याज्ञिक मंत्रों और ऋग्वेद की प्रार्थनाओं की अपेक्षा भावपूर्ण लोकप्रिय कविता के दर्शन अधिक मात्रा मे मिलता है । अथर्ववेद के पाचवे काण्ड के चौदहवें सूक्त के कुछ मन्त्र इसके उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते है—

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा । दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ।। (1)

रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः । कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रतिं मुञ्चत ।(3)

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते । सुखो रथ इव वर्तताम् कृत्या कृत्याकृतं पुनः । (5)

पुत्र ईव पितरं' गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश । बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये' कृत्याकृतं पुनः । (10)

एक सुन्दर कविता हमे अथर्ववेद के वरुणसूक्त[68] मे उपलब्ध होती है। इसमे वरुण की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता का वर्णन ऐसी सुन्दर भापा मे किया गया है जिसका दर्शन पाश्चात्य लेखकों को वाइविल की प्रार्थना मे मिलता है ।

यस्तिष्ठंति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति य प्रतंकम् । द्वौ संनिपद्य यन्मन्त्रये'ते राजा तद् वे'द वरुणस्तृतीयः ।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता । उतो संमुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीन : ।

उत यो द्यामंतिसर्पात् परस्तान्न स मुंच्यातै वरुणस्य राज्ञः। दिव स्पशः प्र चंरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥

सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्। सख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि (अथर्व० 4.16.2-5)

उनकी दृष्टि मे भारतीय साहित्य मे ऐसी सुन्दर कविता अन्यत्र दुर्लभ है। रॉथ[69] के शब्दो मे 'सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मे ऐसा कोई दूसरा गीत नही है जो इतने प्रभावपूर्ण शब्दों मे दैवी सर्वज्ञता को प्रकट करता हो।' उसने इस बात पर खेद व्यक्त किया है कि इतनी सुन्दर कला का प्रयोग एक यातुक्रिया के लिए किया गया है। यहाँ और अथर्ववेद के अन्य भागो मे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन गीतो और गीतखण्डों का प्रयोग यातुमन्त्रो को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए किया गया है। इस सूक्त के पहले पाँच-छ मन्त्र पिछले मन्त्रो के साथ ऐसा ही एक उदाहरण प्रस्तुत करते है। रॉथ की इस सम्मति से विन्टरनिट्स[70] भी पूर्णतः सहमत है। इसके विपरीत ब्लूमफील्ड[71] का विचार था कि इस सारी कविता की रचना एकमात्र यातुकृत्यो के लिए ही की गई थी। शताब्दियो पश्चात् रचे गये कौशिक सूत्रो मे निर्दिष्ट विनियोग के आधार पर आधुनिक वैदिक विद्वानो का—जिनमे पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनो ही सम्मिलित है—मानस विनियोग से इतना आक्रान्त है कि वे इस वेद मे कविता के सौन्दर्य, भाव की गम्भीरता तथा शब्द सौष्ठव को स्वतन्त्र रूप से देखने मे असमर्थ है और सम्पूर्ण अथर्ववेद को यातु और यातुकृत्यो के लिए निर्मित रचना के अतिरिक्त और कुछ मानने को तैयार नही है।

अथर्ववेद मे मन्त्रो की ऐसी सख्या भी है जिनका प्रयोग राजाओ के विभिन्न कृत्यो के लिए किया जाता था। इनमे से कुछ शत्रुनाश के लिए प्रयुक्त होते थे और कुछ राजा, राज्य तथा प्रजा के कल्याण के लिए। भारतीय परम्परा के अनुसार अत्यन्त प्राचीन काल से राजाओ को अपना एक कुल पुरोहित रखना होता था जो अथर्ववेद मे वर्णित राजकर्मो से पूर्णतया अभिज्ञ होता था। इन कृत्यो का वर्णन करने वाले सूक्तो को 'राजकर्माणि सूक्तानि'[72] के नाम से कहा गया है। कुछ विद्वान् अथर्ववेद को क्षत्रियो के कृत्यो के साथ बहुत गहराई से जुडा हुआ मानते है। इन कृत्यो मे राजा के राज्याभिषेक का वर्णन है। उस समय राजा पर पवित्र जलो के छीटे दिये जाते हैं और वह एक सिंह चर्म पर आरूढ होता है। इस कृत्य का सम्बन्ध उस राजा का अन्य राजाओ पर प्रभुत्व पाने और सामान्यतया उसकी शक्ति और यश के विस्तार के साथ जुड़ा हुआ है। अथर्ववेद 3.4 मे एक ऐसी प्रार्थना दी गई है जिसका प्रयोग राजा के चुनाव के समय किया जाता था।

त्वां विशो वृणता राज्या/य त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः[73]।

इस सूक्त मे वरुण शब्द के कर्तृनिमित्त अर्थ को लेकर वरुण द्वारा राजा के चुनाव के वर्णन की बात कही गयी है—

'तद॒यं राजा॒ वरु॑णस्तथा॑ह॒ स त्वा॒यम॑ह्वत् स उपे॒दमेहि॑ ।'[74]

इसी सूक्त के तृतीय मन्त्र मे एक निर्वासित राजा के पुनः राज्यारूढ़ होने की बात भी वर्णित की गई है—

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विनः॑ सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः सं च॑रातै । जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवन्तु ब॒हुं ब॒लिं प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः ।

इन राजकर्माणि सूक्तो में युद्ध के समय प्रयुक्त किये जाने वाले यातु मन्त्रो में अत्यन्त सुन्दर और प्रभावोत्पादक कविता दृष्टिगोचर होती है। योद्धाओ मे उत्साह भरने के लिए अथर्ववेद 5.20, 21 के कुछ मन्त्र उल्लेखनीय है।

सि॒ह इ॑वास्तानीद् द्रु॒वयो॒ विब॑द्धोऽभि॒क्रन्द॑न्नृ॒षभो॒ वा॑सिताम॑िव । वृषा॒ त्वं वध्र॑यस्ते स॒पत्ना॑ ऐन्द्रस्ते शुष्मो॑ अभिमातिषाहः ।

पूर्वो॑ दुन्दभे प्र व॑दासि॒ वाचं॒ भूम्याः॑ पृ॒ष्ठे व॑द रोच॑मानः । अ॒मि॒त्र॒से॒नाम॑भि॒जञ्जभानो द्यु॒मद् व॑द दुन्दुभे सू॒नृता॑वत् ।। (अथर्व० 5.20.2,6)।

विहृ॑दयं वैम॑न॒स्यं व॒दामित्रे॑षु दुन्दुभे वि॒द्वेषं कश्म॑शं भ॒यम॒मित्रे॑षु नि-द॑ध्मस्यवैनान् दुन्दभे जहि ।।

उ॒द्वेपना॒ना॒ मन॑सा चक्षु॑षा हृद॑येन च । धाव॑न्तु बिभ्य॑तो॒ऽमित्राः॑ प्र॒त्रासेनाज्ये॑ हुते ।।

यथा॒ वृका॑दजाव॒यो॒ धाव॑न्ति ब॒हु बिभ्य॑तीः । ए॒वा त्वं दु॑न्दुभे॒ऽमित्रा॑न॒भि क्रन्द॒ प्र त्रा॑स॒याथो॑ चि॒त्तानि॑ मोहय ।। (अथर्व०5.21.1,2,5)।

राजा सम्बन्धी इन कृत्यो के करने करवाने मे राजपुरोहित की सर्वप्रधान भूमिका होती थी और ब्राह्मण पुरोहित राजा की उन्नति और समृद्धि के कृत्य करवाते हुए भी अपने स्वार्थ को सदा सुरक्षित रखते थे। राजकर्माणि मे कुछ ऐसे कृत्य भी है जिनका राजा की अपेक्षा पुरोहित के साथ अधिक गहरा सम्बन्ध होता था। इन क्रियाओ मे ब्राह्मण-वाक्य का उल्लंघन न करने की शिक्षा देना भी एक प्रमुख कृत्य था और उल्लंघन करने वाले के लिए पश्चाताप करना या दण्ड भोगना भी अनिवार्य था। प्रत्येक कृत्य के साथ राजपुरोहित को दक्षिणा देना राजा का आवश्यक कर्तव्य था। यद्यपि यातु और मारण-उच्चाटन की क्रियाओ के विरोध में धर्मशास्त्रो मे बहुत कुछ कहा गया है फिर भी मनुस्मृति[75] मे यह स्पष्ट निर्देश है कि ब्राह्मण बिना हिचकिचाहट के अथर्ववेद के पवित्र मन्त्रो का प्रयोग करे। ये मन्त्र ही उसके शस्त्र है और उनके द्वारा वह अपने शत्रुओ का नाश कर सकता है। अथर्ववेद[76] मे एक लम्बी श्रेणी ऐसे यातु और यातुमन्त्रो की है जो ब्राह्मणो के हित के लिए बनाये गये थे। इन सूक्तो मे ब्राह्मणो की अनुल्लघनीयता और उनकी सम्पत्ति को बल प्रयोग द्वारा न लिए जाने के विषय मे पर्याप्त बल दिया

गया है। इसके विरुद्ध आचरण करने वालो पर बड़े से बड़ा अभिशाप गिरता है। ब्राह्मणों पर अत्याचार करने वाला सबसे बड़े पाप का भागी होता है और इन्हें बहुतायत मे दानदक्षिणा देने वाला दयालुता की मूर्ति समझा जाता था। अथर्ववेद के राजकृत्यविषयक सूक्तों मे इन बातो पर पर्याप्त बल दिया गया है। इनके साथ कुछ ऐसे भी सूक्त हैं जिनमे धार्मिक ज्ञान, प्रकाश, यश और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। विद्वानो की सम्मति मे अथर्ववेद में ऐसे सूक्त सबसे बाद मे जोड़े गए होगे।

यातु और कर्मकाण्ड का मिश्रण

अथर्ववेद के कुछ सूक्त और कुछ यातु प्रयोग कर्मकाण्ड की प्रक्रिया[77] से भी सम्बन्ध रखते है। इन मन्त्रो का प्रयोग हविर्प्रदान के साथ किया जाता है जिसमे दूध,घी और ओदन का मिश्रण होता था—

स सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः। इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च। तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि (अथर्व० 1.15.1,4)।

इस प्रकार के कुछ अन्य सूक्त[78] भी हैं। इन हविषो से प्राप्त होने वाली समृद्धि और शक्ति निम्न दो मन्त्रो मे देखी जा सकती है—

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम्। प्रसर्स्राणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये ॥ (अथर्व० 6.39.1.)

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु। अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥ (अथर्व० 6.40 1)

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे। सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम्. निरमु नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति। नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरीत्, सांतपन। इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन[79]

इन मन्त्रो से ऐसा प्रतीत होता है कि इन हविषो को स्वीकार करने के लिए विशिष्ट देवताओ का, जिनमे मरुत् भी शामिल हैं, आह्वान किया जाता था। ऋग्वेद[80] के कुछ सूक्तो मे इस प्रकार की हविर्प्रदान का वर्णन मिलता है जिनका स्वरूप अथर्ववेद मे वर्णित इन हविओ जैसा ही है। अथर्ववेद मे दीर्घायु, सम्पत्ति और सुरक्षा सम्बन्धी ऐसी प्रार्थनाओं का वर्णन है जिनसे प्रतीत होता है कि इन हविओ की आहुति प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल सोम रस के अभिषवण के समय दी जाती थी। ये तीनो पाठ तैत्तिरीय संहिता मे भी उपलब्ध हैं परन्तु कौशिक सूत्र इस विषय मे मौन है।

अग्निः प्रातः सवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः। स नः पावको

द्रविंणे दधात्वायुं ष्मन्तः सुहभंक्षाः स्याम ।।

विश्वे'देवा मुरुत इन्द्रो' अस्मानुस्मिन् द्वितीये सवंने न जंह्युः, इदं तृतीयं सवंनं कवीनामृतेन ये चंमसमैरंयन्त (अथर्व० 6.47.1,2अ, 3अ) तुलनीय—

अग्नि. प्रातः सवने पांत्वस्मान् वैश्वानुरो मंहिना विश्वशंम्भूः । स नंः पावको द्रविंणं दधात्वा-(1)-यु'ष्मन्तः सुहभंक्षा' स्याम ॥

विश्वे' देवा मुरुत इन्द्रो' अस्मानुस्मिन् द्वितीये सवंने न जंह्युः । इदं तृतीयं सवंनं कवीनामृतेन ये चंमसमैरंयन्त (तै० सं० 3.1.9.1,2,3)

अथर्ववेद मे मिलने वाले इस याज्ञिक कर्मकाण्ड मे तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक रीतिरिवाजो को भी देखा जा सकता है। इसके 9.6 के गद्यमय भाग मे अतिथियो के सत्कारार्थ की जाने वाली क्रियाएँ और उनके महत्त्व का वर्णन है। गृहस्थी के घर मे अतिथि की उपस्थिति की तुलना ब्रह्म के साथ की गयी हे और उसके विविध अङ्गो की तुलना तीनो वेदो के साथ की गयी है। जब गृहस्वामी अतिथि को देखता है तो वह यज्ञ को देखता है, जब वह अतिथि का स्वागत करता है तो वह यज्ञ की दीक्षा मे दीक्षित होता है, अतिथि को दिया जाने वाला यह सम्मान एक इस प्रकार की हवि है जो गृहस्वामी के पापो को नष्ट कर देती है, उसे स्वर्ग मे पहुँचाती है तथा अतिथि के प्रति किया जाने वाला अपमान यज्ञफल को नष्ट कर देता है।

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजंः स्वर्गं लोकं गंमयन्ति यदतिथयः, इष्टं च वा एष पूर्तं चं गृहाणांमश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति (अथर्व० 9.6.23,31)

'सवयज्ञ' विधान

कुछ सूक्त जिनमें प्रतीकात्मक वर्णन है विशुद्ध आथर्वणिक याज्ञिक प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त होते थे। 'सवयज्ञ'[81] में प्रयुक्त होने वाले सूक्त इसी प्रकार के है। इस यज्ञ की प्रक्रिया अथर्ववेद की अपनी याज्ञिक प्रक्रिया है और इस विषय पर डॉ० होण्डा[82] ने विशेप प्रकाश डाला है। अथर्ववेद मे यातु प्रयोग और कर्मकाण्ड की प्रक्रिया मे सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता का अनुभव शायद इसलिए किया गया होगा कि इस वेद की अन्य वेदो के साथ समानता दर्शायी जा सके और इसे अन्य वेदो के साथ 'वेद' रूप मे परिगणित किया जा सके। इस प्रकार के सूक्तो मे दो आप्री सूक्त भी है जिनकी तुलना ऋग्वेद के ऐसे ही सूक्तो के साथ की जा सकती है।[83] इसी प्रकार यजुर्वेद की गद्यमय रचनाओ की समता रखने वाले कुछ गद्यमय भाग अथर्ववेद के 18वे काण्ड मे मिलते है। इसी प्रकार अथर्ववेद के 18वे काण्ड के वे सूक्त जिनमे अन्त्येष्टि तथा पितृपूजा विपयक प्रार्थनाएँ मिलती है वे सभी यजुर्वेद के कर्मकाण्ड की याद दिलाती है। ऋग्वेद के 10वे मण्डल का अन्त्येष्टि सूक्त मन्त्रवृद्धि के साथ इसमे

उपलब्ध है। यद्यपि 20वें काण्ड मे मिलने वाले अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद से ही उधार लिए गए हैं पर इसके कुछ अपवाद भी है जिनमे इसी काण्ड के 10 सूक्त है। इनका नाम 'कुन्ताप-सूक्त' दिया गया है। इनका स्वरूप याज्ञिक कर्मकाण्ड जैसा है और विषय मे ये ऋग्वेद की दानस्तुतियों जैसे हैं जिनमे कुछ उदार और दानी राजाओं की प्रशंसा की गयी है। इनमे से कुछ पहेलियो और उनके उत्तर के रूप में है कुछ का विषय अश्लील और अशिष्ट हंसी-मजाक वाला है।[84] कई दिन तक चलने वाले यज्ञों के अवसर पर पुरोहितो द्वारा इनका प्रयोग निर्धारित था।

दार्शनिक विचार

अथर्ववेद का अन्तिम महत्त्वपूर्ण विषय दार्शनिक तथा ब्रह्माण्ड सम्बन्धी सूक्तो का है। दर्शन से बढ़कर यातु का विरोधी विषय और कुछ नही हो सकता और यह देखकर आश्चर्य होता है कि अथर्ववेद मे यातु के साथ-साथ इस विषय को भी सम्मिलित किया गया है। अथर्ववेद के इन दार्शनिक सूक्तो के विषय मे आधुनिक विद्वानों का मत कुछ आवश्यकता से अधिक पक्षपातपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। यह सत्य है कि सब सूक्तो मे एक समान ऊँचे और उदात्त दार्शनिक विचार नही है पर इसीलिए सबको रहस्यवादी जादूगरो की रचना नही कहा जा सकता। विन्ट्रनित्स[85] ने लिखा है कि इनके लेखकों मे सत्य की खोज और विश्व की गहन पहेलियो को सुलझाने की रुचि नही है। ये केवल कल्पना की उड़ान भरने वाले है जो अपने आपको दार्शनिक के रूप मे प्रगट करने के लिए सुप्रसिद्ध दार्शनिक विचारो को कृत्रिम और अविवेकपूर्ण कल्पना के जाल से ढककर इसे रहस्यवाद के नाम से प्रकट करते है। अपातत. जो हमें गूढ दार्शनिक सत्य प्रतीत होता है वास्तविकता मे वह खोखला रहस्यवाद निकलता है जिसके पीछे गम्भीरता की अपेक्षा अविवेकिता दृष्टिगोचर होती है। रहस्यवाद के पर्दे के पीछे वस्तुतत्त्व को छिपाना और रहस्यवाद का डंका बजाना जादूगरो के व्यापार का मूलतत्त्व है। तथापि इन 'तथाकथित' दार्शनिक सूक्तो से यह तो स्पप्ट ही है कि उनकी रचना से बहुत पहले पर्याप्त ऊँचे स्तर के दार्शनिक विचारो का विकास हो चुका था।

उपनिषदो के मुख्य विचार—ससार की उत्पादक और पालक सर्वोच्च सत्ता की कल्पना और इनके अतिरिक्त एक निर्वैयक्तिक उत्पादक सिद्धान्त का प्रणयन तथा ब्रह्मन्, तपस्, असत्, प्राण, अनस् आदि दार्शनिक शब्दावली—इन सूक्तो की रचना से पहले ही एक विस्तृत क्षेत्र मे प्रचलित हो चुके थे। इसलिए इस कारण से भी हमे अथर्ववेद के दार्शनिक और ब्रह्माण्ड रचना सम्बन्धी सूक्तो को भारतीय दर्शन के विकास मे एक नये चरण के रूप मे नही देखना चाहिए। ऋग्वेद के वास्तविक दार्शनिक सूक्तो मे वर्णित उत्पादक विचारो का और अधिक विकास हमे उपनिपदो मे ही प्राप्त होता है और हम अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तो को इन

दोनो के बीच की एक कड़ी के रूप में स्वीकार नही कर सकते। कुछ ऐसी ही सम्मति ड्यूमन[35] की भी है। उसके अनुसार अथर्ववेद के इन सूक्तो की स्थिति दार्शनिक विचारधारा के मध्य की न होकर उसके परिपार्श्व मे पृथक् रूप की है।

अथर्ववेद के इन रहस्यवादी सूक्तो के धुँधलके मे कभी-कभी गम्भीर और वस्तुत. दार्शनिक विचारो का प्रकाश फूट पड़ता है। अपनी पूर्वाग्रहयुक्त धारणा के कारण बहुत से विद्वानो ने इसका श्रेय भी अथर्वन् ऋषियो को नही दिया है। उनकी दृष्टि मे यह मत्र प्राचीन विचारो को नूतन आवरण प्रदान करने के तुल्य है। संपूर्ण सत्ता के मूल कारण के रूप मे 'काल' की कल्पना निश्चय ही एक उत्तम दार्शनिक का विचार होने के योग्य है तथापि जिस भाषा मे यह व्यक्त किया गया है वह एक दार्शनिक की न होकर एक रहस्यवादी की है। अथर्ववेद 19 53 तथा 54 इसकी दार्शनिकता को प्रामाणित करते हैं। इनमें एक यान्त्रिक प्रक्रिया के रूप में नाना प्रकार की वस्तुओ का परिगणन किया गया है जिन सबको काल से उत्पन्न हुआ माना है। जहाँ तक कि काल द्वारा उत्पन्न वस्तुओ मे प्रजापति, ब्रह्मन्, तपस् और प्राण इत्यादि दैवीय शक्तियों को भी इन्ही मे गिना दिया हैं। उदाहरणार्थ—

कालो अश्वो' वहति सप्तरश्मि सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः। तमारो'हन्ति कवयो' विपश्चितस्तस्य' चक्रा भुवनानि विश्वा'॥ सप्त चक्रान् वहति काल एष. सप्तास्य नाभी'रमृत न्वक्षः। स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् काल. स ईयते प्रथमो नु देवः॥ काले तपं काले ज्येष्ठं' काले ब्रह्म समाहितम्। कालो ह सर्वस्येश्वरो य' पितासीत् प्रजापतेः॥ तेने पितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्। कालो ह ब्रह्म' भूत्वा विभर्ति परमेष्ठिनम्॥(अथर्व० 19 53 1,2,8,9)।

कालो ह भूतं भव्य' च पुत्रो अंजनयत् पुरा। कालादृच. समभवन् यजु'. कालादंजायत॥, कालेऽयमङ्गि'रा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठत। इम च लोक परम च लोकं पुण्या श्च लोकान् विधृ'तीश्च पुण्या सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्म'णा काल स ईयते परमो नु देव (अथर्व० 19 54 3,5)।

अथर्ववेद में कुछ इस प्रकार के सूक्त है जिनके वास्तविक उद्देश्य और सच्चे अर्थ के विपय में विद्वानों मे मतभेद है। ऐसे सूक्तो मे अथर्ववेद के 13वे काण्ड का 'रोहित-सूक्त' भी एक है। रोहित जिसका सामान्य अर्थ लाल है उसे सूर्य या सूर्य की प्रतिभा के रूप में मानवीकृत करके वर्णित किया गया है। कुछ मन्त्रो मे उसका रूप एक उत्पादक शक्ति के रूप मे वर्णित किया गया है—

रोहितो द्यावापृथिवी जंजान तत्र तन्तु' परमेष्ठी ततान। तत्रं शिश्रियेऽज एकंपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बले'न॥; रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत तेन स्व/ स्तभितं तेन नाकः। तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेनं देवा अमृतमन्वंविन्दन्॥ (अथर्व० 13.1.6,7)।

उसने द्यावा पृथिवी को उत्पन्न किया है और अपनी शक्ति से इन्हें धारण

किया हुआ है पर बीच के कुछ मन्त्रों मे रोहित नामक पार्थिव राजा का वर्णन प्रतीत होता है जिसके साथ यह दिव्य रोहित एकाकार दिखाया गया है—

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह। प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं स स्पृशस्व॥ ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम्। तैष्टे रोहित संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः (अथर्व० 13.1 34,35)। इस प्रकार के सम्मिश्रण के कारण विन्टरनित्स[86] ने इस और ऐसे अन्य सूक्तो को जिनमे 'उक्ष सूक्त' (4 11), ब्रह्मचारी सूक्त (11 5), व्रात्य काण्ड (15) आदि सम्मिलित है वास्तविक दार्शनिक सूक्त न मानकर व्यर्थ के प्रलापपूर्ण तथाकथित रहस्यात्मक सूक्त माना है। विन्टरनित्स का यह मत सर्वांश मे सही नही माना जा सकता। यह ठीक है कि इस संहिता के संकलन के समय बहुत से भिन्न-भिन्न विषय के मन्त्रो को एक स्थान पर एकत्र किया गया होगा और इसलिए अपने मूल स्थान से हट जाने के कारण उन मन्त्रो मे न तो परस्पर एकरूपता दिखाई देती है और न विषय की सम्बद्धता। इसके विपरीत, ड्यूसन[87] ने इनमे से बहुत से सूक्तो मे दार्शनिक तत्त्व का दर्शन किया है उसने अथर्ववेद 11 8 मे सूक्ष्म (मनोवैज्ञानिक) और स्थूल (भौतिक) तत्त्वो के समन्वय द्वारा, जो अपने आप में ब्रह्मन् पर आधारित है, मानव की उत्पत्ति का वर्णन माना है—

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि। क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ (अथर्व० 11.8 1,2)।

इसी प्रकार ब्रह्मचारी सूक्त मे भी अध्यात्म के दर्शन किये जा सकते है—

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च। ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥ अर्वागन्य इतो अन्य पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे। तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी॥ (अथर्व० 11.5 9,11)।

व्रात्य शब्द का क्या अर्थ था इस विषय मे विद्वानो मे बहुत मतभेद है। वेबर, ऑफ्रेक्ट, हिल्लेब्रान्ड्ट, ब्लूमफील्ड, लॅनमॅन, मैक्डानल, कीथ, भागवत और विन्टरनित्स[88] आदि विद्वानों ने इसकी विभिन्न व्याख्याएँ की है। ऐसी स्थिति मे अर्थ-निर्धारण के पूर्व ही किसी विषय का खण्डन कर देना उचित नही प्रतीत होता। उदाहरणार्थ अथर्ववेद के 10 2 और 11 8 मे उपनिषदो के प्रसिद्ध 'अयमात्मा ब्रह्म' के सिद्धान्त का पूर्वरूप देखा जा सकता है। ड्यूसन ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। अथर्ववेद का एक अन्य सूक्त जिसे हम 'पृथिवी-सूक्त' या 'भूमि-सूक्त' (12.1) कहते है—एक अत्यन्त उदात्त कविता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसका प्रथम मन्त्र उन तात्त्विक सिद्धान्तो का परिगणन करता है जिन पर सार्वभौमिक समाज व्यवस्था टिकी रहती है। आलंकारिक और कवित्वमयी भाषा में

इस तथ्य को इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है कि सत्य, महत् ऋत, दीक्षा, उग्र, तपस्, ब्रह्म तथा यज्ञ ने इस पृथिवी को धारण किया हुआ है --

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

शब्दों के शुष्क अर्थों को एकमात्र चरम सत्य मानने पर इतनी सुन्दर कविता की दार्शनिकता में भी पूर्वाग्रही विद्वानों को मात्र क्रियाओं की नीरसता ही दृष्टिगोचर होगी। इसमें सन्देह नहीं कि सम्पूर्ण अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के विषयों का वर्णन है जिनका स्तर ओझा वैद्यों के जादू-मन्त्रों से लेकर उच्चतम कोटि की दार्शनिकता तक दृष्टिगोचर होता है।

पाद-टिप्पणी व सन्दर्भ

1. अथर्ववेद संहिता, सम्पादित—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भूमिका, पृ० 3
2. अथर्व० 15.6.8
3. वही, 11.6.14
4. शतपथ ब्राह्मण, 14.8.14.2-4
5. वही, 13.4.38
6. गोपथ ब्राह्मण, 1.29
7. वही, 3.4
8. आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाण।
   अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहस॥
9. Shende, N. J. Journal of the University of Bombay 17 New Series (1948, 2), p. 23
10. अथर्व० 5.11.11
11. Winternitz, M., HIL, p. 104ff
12. ऋ० 10.108.10
13. अथर्व० 3.21.8
14. ऋ० 10.62.5
15. अथर्व० 6.35.3
16. गो० ब्रा० 1.4; 1.8
17. ऋ० 8.43.13; 10.14.6; 10.92.10
18. Gonda, J., HIL, p. 268
19. यजु० 22.22
20. गो० ब्रा० 1.16

21 श० ब्रा० 14 2 2 1, 19 7 4 18

22. तुलनीय, उदाहरणार्थ-कौशिकसूत्र 94 2 अग्रेऽपि, वैतान श्रौतसूत्र 1.1; 11 2, 37 2, अथर्व परिशिष्ट 2 2 अग्रेऽपि, 3 1, 3 यथा तुलनीय कौशीतकी ब्राह्मण 5 32 अग्रेऽपि, श० ब्रा० 11 5 8 7

23 *Gonda, J , HIL, p. 272*

24 जे होण्डा ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' मे लिखा है कि सन् 1856 मे एक यात्री के साथ प्रासगिक बातचीत से डॉ० रॉथ को यह आभास हुआ कि काश्मीर मे अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा की कोई पाण्डुलिपि विद्यमान है। उसने ब्रिटिश सरकार को इस तथ्य की जानकारी प्राप्त करने की प्रेरणा की। काश्मीर मे की गई खोज के परिणामस्वरूप वैदिक साहित्य के इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। रॉथ ने इस खोज मे प्राप्त पाण्डुलिपि के साथ शौनकीय सहिता की एक सक्षिप्त-सी तुलना करके 'डेर अथर्ववेद इन काश्मीर' टयूबिनजिन विश्वविद्यालय से 1875 मे प्रकाशित की। काश्मीर से प्राप्त पाण्डुलिपि की क्रोमोफोटोग्राफी विधि द्वारा तैयार की हुई प्रति 'द काश्मीरन अथर्ववेद' नाम से मोरिस ब्लूमफील्ड और गार्बे ने सम्पादित करके बाल्टीमोर मे 1901 मे प्रकाशित की। इस पाण्डुलिपि की अवस्था, पाठो मे गडबडी तथा अन्य विशेषताओ के बारे मे ह्विटने और लॅगमॅन ने अथर्ववेद की अपने अनुवाद की भूमिका मे प्रकाश डाला है। एल० सी० बॅरट ने 'जर्नल आफ अमेरिकन सोसाइटी' के पृथक्-पृथक् अको मे प्रकाशित किया। इसका अन्तिम भाग 1940 मे प्रकाशित हुआ। नागरी लिपि मे मिलने वाला अथर्ववेद इसी सस्करण के आधार पर तैयार किया गया था और लाहौर से 1936 और 1942 के बीच प्रकाशित हुआ।

25. Winternitz, M., HIL, p. 106

26. Barret, L.C., Journal of the American Oriental Society, New Haven, Baltimore, 46, p. 8

27 Bhattacarya, Durga Mohan, Fundamental Theme, p 26

28. Bloomfield, Preface to the fascimile edition of the kashmir manuscript, P Theieme, Panini and the Veda, p. 76

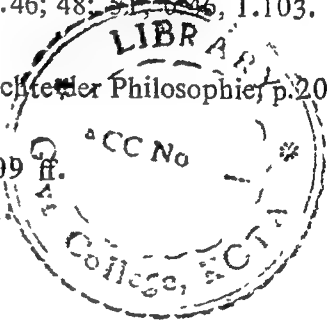
29 इसका सर्वप्रथम प्रकाशन 1855-56 मे ह्विटने और आर० रॉथ ने बर्लिन से किया था। सायण भाष्य सहित इसका प्रकाशन शंकर पी पडित ने चार भागो मे सन् 1895-98 तक बम्बई से प्रकाशित किया था। वर्तमान मे सन् 1960-64 मे सायण भाष्य सहित इसका प्रकाशन वी०वी०आर० आई होशियारपुर से भी हुआ है। इसका एक शुद्ध सस्करण श्री पाद दामोदर सातवलेकर

ने स्वाध्याय मण्डल, औंध मे प्रकाशित किया था इसका चतुर्थ सस्करण उसी संस्था द्वारा पारडी (गुजरात) मे प्रकाशित हुआ है। इस शौनकीय शाखा के दो उत्तम अनुवाद अंग्रेजी भाषा मे उपलब्ध है। प्रथम अनुवाद आर० टी० एच० ग्रिफिथ ने 'दी हिम्स ऑफ दी अथर्ववेद' के नाम से दो भागो मे बनारस से 1895-96 मे प्रकाशित किया था। इसका पुनर्मुद्रण 1916 और 1968 मे हो चुका है। अथर्ववेद का अंग्रेजी भाषा मे दूसरा अनुवाद डब्लू०डी०ह्विटने ने किया था। इसका सम्पादन चार्ल्स रॉकवेल, लॅनमॅन ने केम्ब्रिज मेसाच्यूसट से 1905 मे प्रकाशित किया था। इस सस्करण मे आलोचनात्मक और विनियोगात्मक टिप्पणियाँ तथा एक लम्बी परिचायिका भी दी हुई है। सन् 1962 में दिल्ली मे इसका पुन. प्रकाशन भी हुआ है। इस शौनकीय संहिता के चुने हुए भागो पर जे० ग्रिल, एफ० एकर्ड आदि ने भी कार्य किया है।

30. Gonda, J., HIL, p. 267
31. Renou, L., Les ecoles Vediques et la formation du Veda, 1947 p 67
32. Gonda, J., HIL, p. 274 ff.
36. Barret, at Studies Bloomfield, p. 1 and at proceedings of the American Philosophical Association 63, PLXIV
34. Gonda, J., HIL, p. 275
35. तैत्तिरीय सहिता 7 5 11; तैत्तिरीय ब्राह्मण 3 12 8 2, श० ब्रा० 11 5. 6 7
36. Whitney, Harvard Oriental Series. Vol. 7, pp. Cxxvfi.
37. ऊपर देखिए
38 अथर्व० 1.28.1
39. वही 5.17.9
40 तुलनीय ऋ० 10 191. 2-4 तथा अथर्व० 6.64
41. अथर्व०
42. वही 5.17, 18, 19
43. वही 1.28.1
44. वही 4 19.6
45. मनुस्मृति 11.33
46. अथर्व० 2.19-23
47. शाङ्खायन गृह्यसूत्र 1.24.8
48. तै० सं० 7.5.11

49. Winternitz, m., HIL, p. 111
50. अथर्व० 6 90 1, 1 12, 22, 2.10, 4 36, 37, 6 14, 32,105
51 वही 1 2, 2 8, 5 4, 6 96, 19 39
52 वही 1 4-6, 6 23, 24
53 वही 1 28
54 वही 5 22
55. वही 1 17
56 वही 6 25
57 वही 5 23, 2 32, 4 37
58 वही 4 37 2 त्वया वयमप्सरसो' गन्धर्वाँश्चातयामहे
अजशृङ्गयज रक्ष सर्वान् गन्धेन नाशय
59 विन्टरनिट्स द्वारा उद्धृत, HIL, P 118
60 अथर्व० 7 53 2, 4, 6
61 वही 2 26, 3 14, 15, 17, 24, 6.142
62 वही 9 3, 3 12, 17, 24, 6 50, 79, 4 15, 2 26, 3 14, 4 21, 6 59, 7 75, 3 15, 17, 4 38.1-4, 7 50, 109, 6 56
63 वही 4 15 6
64 वही 6 51, 46, 45, 110, 112, 114, 117, 118, 7 65, 64; 100, 112
65 वही 7 65 2
66 वही 3 30, 6 42, 55, 64, 73, 74, 123, 7 52
67 वही 1 34, 2 30, 3.25, 6 8, 9, 89, 102, 130-132, 7 36, 37, 38
68 वही 4 16
69 Roth, Abhandlung uber den Atharvaveda, pp. 29 f.
70 Winternitz, M , HIL, p 127
71. Bloomfield, Sacred Books of the East, Vol. 42, p. 389
72 अथर्व० 3 1, 2, 4 31, 32, 1 19, 6 65-67, 97-99, 103, 104, 119; 10
73 अथर्व० 3 4 2अ
74 वही 3 4 5ब
75. मनु 11 33
76. अथर्व०

77. Bloomfield, Atharvaveda and Gopath Brahmana, p. 91
78. अथर्व० 6.39; 40; 64-66; 75, 78
79. वही 6 41.2; 6.75.1; 7.77.1
80. रथवाहनं हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म । तत्रा रथमुप शग्मं सदेम विश्वाहा वयं सु मनस्यमाना ॥ऋ० 6.75 8
आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनी । आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ऋ० 10.173.6
81. अथर्व० 11.1,3
82. Gonda, Jan, Savayajna
83 ऋ 1.13; 22; 28; 33; 41; 42; 5.46; 48; ~~5.1; 6.46~~, 1.103.
84. Winternitz, M., HIL, p. 130
85. Deussen, P , Allgemeine Geschichte der Philosophie, p. 209
86. Winternitz, M, HIL, p. 134 ff.
87. Deussen, p , AGPh, 1,1, pp. 209 ff.
88 Winternitz, HIL, p. 135 f. N. 1.



खण्ड 'ख'

चतुर्थ अध्याय

पूजा-विधि या याज्ञिक प्रक्रिया

याज्ञिक-कर्मकाण्ड सम्बन्धी वैदिक संहिताएँ

खण्ड 'क' मे हमने जिन दो सहिताओ पर विचार किया है उनमे मूलत स्तुति और प्रार्थनाएँ संगृहीत है। इनमे बहुत सी स्तुतियाँ जहाँ एक ओर महान् देवताओ के प्रति उद्दिष्ट की गई है वही दूसरी ओर मानवीकृत अचेतन पदार्थो और अमूर्त-भावो के लिए भी प्रयुक्त की गई है। इसी प्रकार इन दोनो ही संहिताओ मे जो प्रार्थनाएँ की गई है वे भी चेतन और अचेतन दोनो प्रकार के देवताओ से की गई है। यह सत्य है कि अथर्ववेद मे सगृहीत बहुत-सी प्रार्थनाओ का विनियोग जादू-टोने के लिए भी किया गया था तथापि इन दोनों सहिताओ का अध्ययन करने से यह स्पष्ट तथ्य हमारे सामने आता है कि उन सहिताओ का सकलन याज्ञिक कर्म-काण्ड को दृष्टिगत करके नही किया गया। इसके साथ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि आगे चलकर ऋग्वेद के सूक्तों का विनियोग याज्ञिक क्रियाओ के लिए ही किया गया। इसी प्रकार यद्यपि अथर्ववेद मे सगृहीत गीतो और अभिचारमन्त्रो का प्रयोग कर्मकाण्ड और यातु की कियाओ मे किया जाने लगा था तथापि इनका सग्रह और संकलन याज्ञिक या यातु कर्मकाण्ड को दृष्टिगत रखकर नही किया गया। इन दोनो ही सहिताओ मे सगृहीत सूक्तो का सकलन इनके रचयिता ऋषियो और उनके वग सम्प्रदाय के अनुसार किया गया। इस कार्य मे कुछ अंश तक उनमे वर्णित विषय तथा उनके वाह्य स्वरूप, यथा-मन्त्रो की सख्या आदि को भी ध्यान मे रखा गया। इसीलिए हमने उन्हे स्तुति प्रार्थना गीतो का संग्रह कहा जो एक साहित्यिक उद्देश्य को पूरा करता है।

यजुर्वेद और सामवेद सहिताओ के विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता। इन संग्रहों मे गीतो, मन्त्रो और आशीर्वचनो का निवन्धन और सकलन उनके क्रियात्मक उद्देश्य को ही ध्यान मे रखकर किया गया है अर्थात् इन्हे उसी प्रकार क्रम मे संगृहीत किया गया है जिस क्रम मे उनका यज्ञो मे प्रयोग होता था। इसलिए यह दोनो सहिताएँ कुछ यज्ञ कराने वाले पुरोहितो के क्रियात्मक कार्य के लिए ही तैयार की गई थी। वहुत समय तक ये मन्त्र और प्रार्थनाएँ उन पुरोहितो और याज्ञिको

के सम्प्रदायो मे मौखिक परम्परा मे ही सुरक्षित थी। इन संहिताओ की उत्पत्ति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय आर्यो की पूजा-विधि पर कुछ विस्तार से विचार किया जाये क्योकि वैदिक साहित्य को पूर्ण रूप से हृदयगम करने के लिए भारतीयो की याज्ञिक पूजा-विधि का जानना आवश्यक है। जब हम वैदिक धर्म पर दृष्टिपात करते है तो हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस पूजाविधि के दो प्रकार थे। हम यह ऊपर देख चुके है कि ऋग्वेद के कुछ सूक्त और अथर्ववेद के बहुत से गीत और अभिचारमन्त्र परिवार मे जन्म, विवाह तथा अन्यान्य संस्कारों—यथा अन्त्येष्टि, श्राद्ध और पितृपूजा के अवसर पर प्रयुक्त किये जाते थे। इसी प्रकार पशुपालक अपने पशुओ की वृद्धि और किसान अपने खेत की उपज की समृद्धि के लिए इन गीतो और मन्त्रो का प्रयोग करते थे। भारतीय आर्य जन इन उत्सवो को, जिनमे से बहुत से यज्ञो के अगरूप थे, 'गृहकर्माणि' के नाम से कहते थे। इनके विषय मे विस्तृत सूचना हमे गृह्यसूत्रो मे मिलती है जिन पर इस ग्रन्थ के दूसरे भाग मे विचार किया जायेगा। इन गृहकर्मो से सम्बन्धित यज्ञकर्म के अवसर पर स्वय गृहपति पुरोहित का काम कर लेता था और उसकी सहायता एक ब्राह्मण पुरोहित कर दिया करता था। जहाँ तक इन कर्मो मे आहुति देने का प्रश्न था उसका समाधान गृहकार्य मे प्रयुक्त होने वाली अग्नि मे आहुति देकर किया जाता था। यह अग्नि ही यज्ञाग्नि का कार्य पूरा कर देती थी। इन छोटे यज्ञो के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी यज्ञ थे जिन्हे प्रत्येक धार्मिक आर्य चाहे वह निर्धन हो या धनी, सम्भ्रान्त हो अथवा मध्यम कोटि का हो अपनी प्राचीन परम्परा के अनुसार सम्पन्न करता था। ये बड़े यज्ञ इन्द्र से सम्बन्ध रखने वाली सोमपान की क्रिया से सम्बद्ध थे। इन्द्र, जैसा कि पहले कहा जा चुका है युद्ध-प्रिय आर्य जनो का देवता था और उसके निमित्त से किये जाने वाले ये बड़े-बड़े यज्ञ धनी और सम्भ्रांत लोगो द्वारा—विशेषतया राजाओ द्वारा—सम्पन्न किये जाते थे। इसके लिए एक विस्तृत यज्ञवाट बनाया जाता था जिसका निर्माण सुदृढ परम्परा द्वारा स्थापित नियमो के अनुसार होता था। तीन पवित्र अग्नियो के लिए वेदियाँ बनायी जाती थी जो ऐसे बडे यज्ञो के लिए अत्यन्त आवश्यक थी। चार मुख्य ऋत्विजो की देख रेख मे बहुत से उपपुरोहित इन यज्ञो मे भाग लेते थे। इस प्रकार असख्य, अत्यन्त श्लिष्ट विधि-विधानो और उत्सवो का आयोजन होता था। यजमान, जो एक राजा या धनी व्यक्ति होता था और जिसे इस यज्ञ का कर्ता समझा जाता था, स्वय कुछ नही करता था। उसका मुख्य कार्य उन पुरोहितो को उदार धनराशि दक्षिणा मे दानस्वरूप देना मात्र था। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि ब्राह्मण पुरोहितो ने वृहत् यज्ञ उत्सवो का चुनाव किया तथा अपने विशिष्ट अध्ययन का विषय बनाकर इन्हे एक यज्ञ-विज्ञान के रूप मे विकसित किया। इन यज्ञो पर

विस्तृत विचार ब्राह्मण साहित्य मे, जो श्रुति का ही एक भाग माना जाता था, किया जायेगा। इसलिए इन वडे यज्ञो को गृहकर्माणि की तुलना मे 'श्रौतकर्माणि' कहा गया है।

श्रौतयज्ञो मे मुख्य रूप से कार्य करने वाले चार ऋत्विज होते थे जिन्हे क्रमश होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा कहा जाता था। इनमे से होता यज्ञ मे देवताओ का आह्वान करने के लिए उनकी स्तुति मे मन्त्रोच्चार करता था, अध्वर्यु यज्ञ की छोटी वडी क्रियाओं को करने के साथ-साथ उन क्रियाओ को करते समय प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्राशो और मन्त्र खण्डो का धीमे स्वर मे पाठ करता था, उद्-गाता यज्ञ की तैयारी और विशेषतया सोम के अभिषवन के समय सामगान करता था, तथा ब्रह्मा, जो कि इनमे सवसे मुख्य होता था, सम्पूर्ण यज्ञ की सुरक्षा का कार्य करता था। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार यज्ञसहित प्रत्येक धार्मिक और पवित्र कृत्य विघ्न और विपत्ति का लक्ष्य वन सकता है। इसका कारण याज्ञिक विधि-विधान के अनुसार किसी क्रिया को न सम्पन्न करना अथवा किसी प्रार्थना या मन्त्र का अशुद्ध उच्चारण करना या गायन मे त्रुटि का होना आदि था। ऐसी कोई भी त्रुटि यजमान का नाश तक कर सकती थी। इसलिए ब्रह्मा यज्ञ की सुरक्षा के लिए वेदि की दक्षिण दिशा मे बैठता था, क्योकि इस दिशा को मृत्यु देवता तथा यज्ञ के विरोधी राक्षसो का क्रियाक्षेत्र माना जाता था। ब्रह्मा यज्ञ की सारी प्रक्रिया का मानसिक अनुशीलन करता रहता था और ज्यो ही वह उच्चारण आदि मे अथवा किसी अन्य क्रिया मे त्रुटि देखता था तो तुरन्त पवित्र मन्त्रोच्चारण द्वारा उस त्रुटि को दूर करता था। इसीलिए ब्रह्मा को यज्ञपुरो-हितो मे सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक कहा गया है। स्पष्ट ही ब्रह्मा को तीनो वेदो का ज्ञाता होना आवश्यक था तभी वह यज्ञ मे होने वाली त्रुटि का पता लगा सकता था।

अन्य तीन ऋत्विजो को अपने से सम्वन्धित केवल एक-एक वेद का ज्ञान अपे-क्षित था। होता देवताओ का आह्वान करने के लिए जिन मन्त्रो का प्रयोग करता था उन्हे 'अनुवाक्या' कहा जाता है और देवताओ को दिए जाने वाले उपहारो को यज्ञवाट मे लाते समय उनके साथ-साथ चलते हुए होता द्वारा प्रयुज्यमान मत्रो को 'याज्या' कहा जाता है। ये दोनो ही प्रकार के मत्र ऋग्वेद से सगृहीत है। अत उसे ऋग्वेद सहिता का सम्पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक था। तभी वह शास्त्रो (स्तुतिगीतो) का सग्रह कर सकता था जिनका प्रयोग सोमयज्ञो मे किया जाता था। इस प्रकार ऋग्वेद सहिता का कुछ सम्वन्ध यद्यपि होता के साथ है तथापि इसकी रचना, सक-लन और निवन्धन होता के कर्तव्यो को ध्यान मे रखकर नही किया गया था। सोम यज्ञो मे न केवल होता द्वारा देवताओ की स्तुति मे गाये जाने वाले मत्रो का प्रयोग होता था अपितु उद्गाता और उसके सहायको द्वारा गाये जाने वाले स्तोत्रो

का भी प्रयोग होता था। इन स्तोत्रों मे 'गान-मंत्र' संगृहीत थे : अर्थात् इनमें ऐसे मन्त्र थे जिन्हें कुछ विशेष संगीतात्मक आरोह-अवरोह युक्त स्वर के साथ गाया जाता था। ये सामगान तथा गानमंत्र परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध थे और इन्हें उद्गातृ ऋत्विज् सामवेदीय सम्प्रदायों में सीखते थे। इन साम मंत्रो का संग्रह ही सामवेद मे किया गया है। इनका महत्त्व एक मात्र विशिष्ट गायन-पद्धति द्वारा गाये जाने के कारण ही है।

यज्ञ की विविध क्रियाओ को करने वाला अध्वर्यु-पुरोहित कुछ क्रियाओं को करते समय धीमे स्वर में छोटे-छोटे वाक्य-खण्डों का और कभी-कभी गद्य और पद्य में निर्मित लम्बी प्रार्थनाओं का उच्चारण किया करता था। इस प्रकार के वाक्य-खण्डो और मंत्रखण्डों को 'यजुष्' नाम दिया गया है। यजुर्वेद संहिता में इन गद्य-पद्यमय यजुषो और प्रार्थनाओ का संग्रह है। इनके साथ ही उन यज्ञ-क्रियाओं के संबंध मे निर्धारित नियमों और उन पर विवेचन भी इसी में दिया गया है। इन सबका संग्रह अध्वर्यु पुरोहित की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर किया गया था। इस संक्षिप्त विवेचन के अनन्तर अब हम याज्ञिक कर्मकाण्ड सम्बन्धी संहिताओ पर विचार प्रारम्भ करते हैं।

यजुर्वेद संहिता

यजुर्वेद की संहिताएँ अध्वर्यु के द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली प्रार्थनाओ की पुस्तके है। पतञ्जलि ने महाभाष्य मे यजुर्वेद के 101 सम्प्रदायो का वर्णन किया है और वस्तुत यह मानने योग्य तथ्य है कि इस वेद के बहुत से सम्प्रदाय रहे होंगे। इनका करण स्पष्ट ही है कि प्रत्येक अध्वर्यु अपनी स्वतन्त्र विधि से यज्ञों की विविध प्रक्रियाओ को सम्पन्न करता था और उन्हे सम्पन्न करते समय अपनी मनोनुकूल प्रार्थनाओ की सृष्टि करता था। उदाहरणार्थ—कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के प्रथम काण्ड के प्रथम प्रपाठक के प्रथम मन्त्र में दर्शपूर्णमास यज्ञो के प्रसंग में 'वत्सापाकरणम्' शीर्षक के अन्तर्गत दूध की प्राप्ति के लिए गौओ से उनके बछड़ों को दूर भगाने के लिए अध्वर्यु 'वायवं स्थोपायवं. स्थ[3]' यजुष् का प्रयोग करता है। शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयिमाध्यन्दिन संहिता के प्रथम अध्याय मे इसी प्रसग मे इस यजुष् का केवल 'वायव स्थ' इतना ही पाठ मिलता है। भाव यह है कि पहले बछड़ो को वायुरूप कहा गया है अर्थात् वे वायु के समान गति करके अपनी माताओ से दूर चले जाये जिससे कि उनमे यज्ञार्थ दूध प्राप्त किया जा सके। तत्पश्चात् किसी अन्य अध्वर्यु के मस्तिष्क मे यह भाव उपजा कि यदि हम गोवत्सो को वायु-रूप कहकर दूर भेजने की प्रार्थना करेंगे तो वह वायु के समान दूर ही दूर चलते चले जायेंगे। इसलिए गोवत्सो के सदा के लिए दूर चले जाने की सम्भावना को समाप्त

करने के लिए उसने 'उपायवं स्थ' इस नवीन यजुष् को 'वायवं स्थ' के साथ जोड़ दिया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वे गोवत्स जहाँ वायु के समान दूर गति करने वाले हैं वे पुन समीप आकर लौटने वाले भी है। इस प्रकार एक शाखा 'वायवं स्थ' यजुष् को मानने वालो की हो गई और दूसरी शाखा वायवं स्थोपायवं स्थ' इस यजुष् को मानने वालो की हो गई। इस प्रकार नाना मतभेद और साम्प्रदायिक विभाजन पैदा हुए होगे क्योकि यज्ञ के विधि-विधानो मे तथा उनके प्रयोग के समय निर्धारित नियम से रेखा मात्र भी दूर हटना एक नये वैदिक सम्प्रदाय की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त कारण होता था।

यजुर्वेद की शाखाएँ

यजुर्वेद सहिता की 'कृष्ण' और 'शुक्ल' नाम से दो शाखाएँ है। इन दोनो शाखाओ मे स रचनात्मक भेद है। कृष्ण-यजुर्वेद की शाखा की सहिताओ मे मन्त्रो और यजुषो के साथ-साथ उन याज्ञिक क्रियाओ का भी निर्देश किया गया है जिनका सम्पादन करने के लिए अध्वर्यु उन मत्रो तथा यजुषो को बोलता था। उदाहरणार्थ —तैत्तिरीय सहिता के प्रथम काण्ड के प्रथम प्रपाठक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि अनुवाको के पूर्व मे क्रमश 'वत्सापाकरणम्', 'बर्हिराहरणम्', 'रात्रिदोह.' आदि प्रमुख क्रियाओ का निर्देश है। इन मत्रो के साथ बीच-बीच मे यज्ञ की इन प्रक्रियाओ के बारे मे विविध विवेचन भी सम्मिलित किए हुए है। निम्नाङ्कित उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। इसी सहिता के प्रथम काण्ड के पाँचवे प्रपाठक के तीसरे अनुवाक का प्रारम्भ 'भूमिर्भू॒म्ना द्यौर्व'रि॒म्णा' इस मत्र से होता है। इसी काण्ड के इसी प्रपाठक के चौथे अनुवाक में 'पूर्वोक्तमंत्राणा व्याख्यानम्' ऐसा कहकर इसी अनुवाक के मन्त्रो की व्याख्या प्रारम्भ की गई है—'भूमिर्भू॒म्ना 'द्यौर्वरि॒म्णेत्या॑हाऽऽशिषै॒वैनमा ध॑त्ते'' ।

इसके साथ ही कसर्णीर काद्रवेय सर्प की कथा अर्थवाद के रूप मे दी गई है। 'स॒र्पो वै जीर्य न्तोऽमन्यन्त॒ स ए॒त क॑स॒र्णीरं काद्रवे॒यो मन्त्रा॑नपश्य॒त्। तत॒ो वै ते जी॒र्णास्त॒नूरपा॑घ्नत सर्प॑रा॒ज्ञिया॑ ऋ॒ग्भिर्गार्ह॑पत्य॒मा द॑धाति पुनर्न॒वमे॒वैनं॑म॒जर कृत्वाऽऽधत्ते। अर्थात् साँपो ने सोचा कि वे जीर्ण-शीर्ण हो रहे है कसर्णीर काद्रवेय ने इस मत्र को देखा तब उन्होने अपनी केचुली उतार फेकी। सर्पराज्ञीय मत्रो के द्वारा वह गार्हपत्याग्नि की स्थापना करता है और इस प्रकार इसका पुनराधान करते हुए वह इसे अमर कर देता है। यह मत्रो की व्याख्या पद्धति न तो प्रत्येक मत्र पर लागू होती है और न ही यह आवश्यक है कि मन्त्रो के तुरन्त पश्चात् उनकी व्याख्या अवश्य ही दी जाये। पूर्वोक्त 'भूमिर्भू॒म्ना द्यौर्व'रि॒म्णा' मत्र के पश्चात् तीन मत्रो को छोडकर 'यत् त्वां (1) क्रु॒द्ध परोवप' मन्त्र का व्याख्यान दिया गया है।

मन्त्रो के तुरन्त पश्चात् ब्राह्मण भाग मे उनकी व्याख्या न करने का उदाहरण

हम इसी सहिता के प्रथम काण्ड के छठे प्रपाठक मे देख सकते है। इसी का द्वितीय अनुवाक 'ध्रुवोऽसि ध्रुवोऽहँ सजातेषु भूयासम्' मन्त्र से प्रारम्भ होता है पर इस का व्याख्यान दसवे अनुवाक मे 'ध्रुवोऽसि ध्रुवोऽहँ सजातेषु भूयासमित्याह। ध्रुवानेवैनान् कुरुते' से प्रारम्भ किया गया है। इसी काण्ड के इसी प्रपाठक के चौथे और छठे अनुवाक की व्याख्या इसी काण्ड के सातवे प्रपाठक के चौथे और छठे अनुवाक मे दी गई है।

इसी प्रकार यज्ञ के अन्त मे दी जाने वाली दक्षिणा मे क्या वस्तु दान मे दी जानी चाहिए इस विषय पर भी विचार किया गया है।

देवासुरा सयत्ता आसन् ते देवा विजयमुपयन्तोऽग्नौ वाम वसु सं न्यदधतेदमु नो भविष्यति यदि नो जेष्यन्तीति, तदग्निर्न्यकामयत तेनापाक्रामत् तद्देवा विजित्यावरुरुत्समाना अन्वायन् तदस्य सहसादित्सन्त, सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्व यदश्रशीयत, त (1) द्रजतँ हिरण्यमभवत् तस्माद्रजतँ हिरण्यमदक्षिण्यमश्रुजँ हि, यो बर्हिषि ददाति, पुराऽस्य संवत्सराद्गृहे रुदन्ति, तस्माद्बर्हिषि न देयँ (कृ०य० 1 5 1)।

अर्थात् देवता और असुर युद्ध मे सलग्न थे, देवताओं ने यह सोचकर कि 'यदि वे हमे हरा देगे तो भी यह (ऐश्वर्य) हमारा ही रहेगा' अपने ऐश्वर्य को अग्नि मे रख दिया, अग्नि ने उस ऐश्वर्य की कामना की और उसे लेकर भाग गया। असुरो को हराकर अपने ऐश्वर्य को प्राप्त करने की इच्छा से देवताओ ने अग्नि का पीछा किया; उन्होने अग्नि से वह ऐश्वर्य बलात् लेने का यत्न किया। इस पर वह रोया। क्योंकि वह रोया (अरोदीत्) इसीलिए रुद्र यह नाम है, उसके बहते हुए आँसू चाँदी बन गये, इसलिए चाँदी दक्षिणा के योग्य नही है—क्योकि यह आँसुओ से उत्पन्न हुई थी। जो यजमान दक्षिणा रूप मे चाँदी को कुशाग्रास पर रखता है उसके घर मे वर्ष की समाप्ति के पूर्व ही उसके घर के लोग रोते है इसलिए चांदी दक्षिणा मे नही दी जानी चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि कृष्ण-यजुर्वेद की सहिताओ मे वह भाग भी बीच-बीच मे मिलाया हुआ है जिसे ब्राह्मण के नाम से कहा जाता है। यज्ञो और यज्ञ-क्रियाओ के विषय मे इस प्रकार के विवेचन ब्राह्मण ग्रथो मे स्वतन्त्र रूप से सगृहीत किये हुए मिलते है जिन पर अभी आगे चलकर विचार किया जायेगा।

अब यह बात आसानी से समझ मे आ सकती है कि अध्वर्यु पुरोहित के द्वारा काम मे लाई जाने वाली सहिताओ मे याज्ञिक क्रियाओ पर किया गया विवेचन आदि क्यो सम्मिलित किया गया? ऐसा किया जाना स्वाभाविक था क्योकि अध्वर्यु और उसके सहायक पुरोहितो को यज्ञ की अलग-अलग क्रियाएँ सम्पन्न करनी होती थी तथा साथ ही ऐसा करते हुए उन्हें नाना प्रार्थना मत्रो का उच्चारण भी करना होता था। इसलिए यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि दोनो शाखाओ

मे कृष्ण यजुर्वेद की शाखा प्राचीनतर है। आगे चलकर सहिताओ का सकलन करने वाले लोगो ने अन्य वैदिक सहिताओ के स्वरूप के आधार पर मत्रो से ब्राह्मण भाग को पृथक् करके शुक्ल शाखा की सहिता का संकलन किया[2] अत. स्पष्ट है कि शुक्ल यजुर्वेद की सहिताओ में एकमात्र मत्रो का सग्रह है अर्थात् उनमे एकमात्र वे प्रार्थनाएँ और वाक्य-खण्ड है जिनका प्रयोग अध्वर्यु पुरोहित यज्ञ प्रक्रियाओ को सम्पन्न करते समय करता था परन्तु उनका निर्देश शुक्ल यजुर्वेद की सहिता के अध्यायो के पूर्व मे कही भी उपलब्ध नही है।

चरणव्यूह के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद के 86 सम्प्रदायो मे से केवल तीन वर्ग हमे उपलब्ध है। प्रथम चरक वर्ग जिसको प्राय कठ नाम से कहा जाता है, द्वितीय, मैत्रायणीय वर्ग, तृतीय, तैत्तिरीय वर्ग। चरक वर्ग मे 'कठ' और 'कपिष्ठल-कठ'—ये दो सम्प्रदाय थे। मैत्रायणीय वर्ग मे 'मानव' और वाराह सम्प्रदाय थे और तैत्तिरीय वर्ग मे औखेय और खाण्डिकेय सम्प्रदाय थे। खाण्डिकेयो के पाँच सम्प्रदाय थे—(1) आपस्तम्बा, (2) बौद्धायना. (3) सत्यापाढा (4) हैरण्यकेशा (5) काण्वायना। इनके महिता ग्रन्थ तो नही मिलते केवल श्रौतसूत्र आदि मिलते है। कृष्ण-यजुर्वेद की महिताएँ एक घनिष्ठतया सम्बद्ध वर्ग को बनाती है। उनकी विपय-वस्तु और उनका विभाजन उनमे एक अवयवी एकता का रूप दिखाती है। ऋग्वेद से उद्धृत किये गये मन्त्रो मे दृष्टिगोचर होने वाला परिवर्तन उनमे एक जैसा ही है।

काठक सहिता—जिसकी कठ कपिष्ठल सहिता एक पाठ भेद मात्र है—तैत्तिरीय वर्ग की अपेक्षा मैत्रायणी वर्ग मे अधिक सादृश्य रखती है। यह सहिता वैशम्पायन के शिष्य आचार्य कठ द्वारा सकलित की गई थी जो चरक सम्प्रदाय की है। इसका पूरा नाम हस्तलिखित ग्रन्थो मे चरक कठ दिया हुआ है। इसकी केवल सहिता ही सुरक्षित है। तैत्तिरीय सहिता की अपेक्षा इसकी विपय-वस्तु अपूर्ण है। कठ कपिष्ठल सहिता[1] जिसका नाम कपिष्ठल ऋषि के साथ जुडा हुआ है—अधिकाश मे काठक सहिता का ही पाठ भेद रूप है। मैत्रायणी सहिता काठक संहिता की अपेक्षा अधिक शुद्ध रूप मे सुरक्षित है। इसका पदपाठ भी मिलता है। इसकी विपय-वस्तु काठक सहिता मे मिलती-जुलती है।

तैत्तिरीय वर्ग ने अपने आपको अपेक्षया शीघ्र व्यवस्थित कर लिया था। उन्होने सहिता की विपय-वस्तु को तीन रूपो मे विभाजित कर लिया था—(1) महिता भाग जो काण्डो मे विभक्त था। (2) ब्राह्मण भाग। (3) आरण्यक भाग। इन तीनो ही भागो मे मन्त्र और ब्राह्मण दोनो का ही मिश्रण था तथापि ब्राह्मणो और आरण्यको की विपयवस्तु सहिता की विपयवस्तु की परिशिष्ट रूप थी। ब्राह्मण भाग की अपेक्षा सहिता-भाग का अत्यन्त शुद्ध पदपाठ विद्यमान है जिसके आधार पर तैत्तिरीय प्रातिशाख्य निर्मित हुआ था। इस सम्प्रदाय के पाठ

पूर्णतः सुरक्षित हैं इन पर स्वरांकन चिह्नित है। इसके पाठ निर्दिष्ट रूप से विभक्त है और उनमें पाठ भेद न के बराबर है। कृष्ण-यजुर्वेद का सर्वोत्कृष्ट रूप इसी वर्ग की संहिता का है। तैत्तिरीय शाखा में सारस्वत पाठ की प्रधानता है।

तैत्तिरीय संहिता के सात काण्ड हैं और इन काण्डों का विभाजन प्रपाठकों में और प्रपाठकों का विभाजन अनुवाकों में है। पहले काण्ड मे 8 प्रपाठक और 22 अनुवाक हैं। इसके प्रथम प्रपाठक में दर्शपूर्णमास के मन्त्र; दूसरे प्रपाठक में अग्निष्टोम में सोम का क्रय; तीसरे प्रपाठक में अग्निष्टोमीयपशु; चौथे में सुत्या के दिन किये जाने वाले कर्त्तव्यों का ग्रहण : पाँचवें में पुनराधान; छठे में यजमान काण्ड और सातवें में यजमान ब्राह्मण तथा आठवें प्रपाठक में राजसूय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में 6 प्रपाठक और 12 अनुवाक हैं। इनमें से प्रथम प्रपाठक में पशु-विधान; दूसरे, तीसरे, चौथे तथा पांचवें में इष्टिविधान और छठे मे अवशिष्ट कर्माभिधान है। तीसरे काण्ड में 5 प्रपाठक और 11 अनुवाक हैं। प्रथम प्रपाठक में न्यूनकर्माभिधान; दूसरे में पवमान ग्रह आदियों का व्याख्यान; तीसरे में वैकृत विधियों का अभिधान; चौथे में इष्टिहोम अभिधान और पाँचवें में इष्टिशेष अभिधान वर्णित है। चौथे काण्ड में 7 प्रपाठक और 15 अनुवाक हैं। इनमें से प्रथम प्रपाठक मे अग्निचयन के अङ्गभूत मन्त्र पाठ का अभिधान; दूसरे, तीसरे में देवयजनगृह का अभिधान, चौथे में पञ्चमचितिशेषनिरूपण, पाँचवें मे होमविधि का निरूपण; छठे में परिषेचनसंस्काराभिधान, सातवें मे वसुधारा के अवशिष्ट संस्कारो का अभिधान है। पाँचवें काण्ड में 7 प्रपाठक और 26 अनुवाक हैं। प्रथम प्रपाठक में उख्याग्नि कथन, दूसरे मे चित्युपक्रमाभिधान, तीसरे मे चितिनिरूपण, चौथे मे इष्टिकात्रयाभिधान, पाँचवें मे वायव्यपश्वादि का निरूपण, छठे में उपानुवाक्याभिधान, सातवें मे उपानुवाक्यावशिष्टकर्मनिरूपण का वर्णन है। छठे काण्ड में 6 प्रपाठक और 11 अनुवाक है। इस सम्पूर्ण काण्ड में सोममन्त्रब्राह्मण का निरूपण किया गया है। सातवें काण्ड मे 5 प्रपाठक और 25 अनुवाक हैं। पहले प्रपाठक मे अश्वमेधगतमन्त्रो का अभिधान; दूसरे मे षड्रात्रादि का निरूपण; तीसरे मे सत्रजातनिरूपण, चौथे मे सत्रकर्मनिरूपण; पाँचवें मे सत्रविशेषाभिधान का वर्णन है।

शुक्ल, यजुर्वेद की दो संहिताएँ वर्तमान मे मिलती हैं। इनमे से एक का नाम याज्ञवल्क्य वाजसनेय के नाम पर, जो इस वेद का प्रधान आचार्य माना जाता था, वाजसनेयिमाध्यन्दिन संहिता है। दूसरी का नाम कण्व के नाम पर काण्व संहिता है। इन दोनों में परस्पर बहुत कम भेद है। वाजसनेयिसंहिता मे 40 अध्याय हैं। इनमें से पिछले 15 अध्याय बाद में जोड़े गये माने जाते हैं। कुछ विद्वानों की सम्मति में शायद अन्तिम 22 अध्याय पीछे जोड़े गये हों। पहले 25 अध्यायों मे उन प्रार्थनाओं का संग्रह है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और बड़े यज्ञों के संपादन के

समय काम मे लाई जाती थी। इस सहिता मे श्रौतयज्ञो के क्रम से विभाजित अध्यायो मे मन्त्रो का अनुक्रम इस प्रकार है—

प्रथम व द्वितीय अध्याय मे दर्श और पूर्णमास के मन्त्र है। तीसरे मे अग्न्याधान, उपस्थापन और चातुर्मास्य यज्ञो के मन्त्र है। चौथे अध्याय से आठवे अध्याय की समाप्ति तक अग्निष्टोम यज्ञ की विभिन्न क्रियाओ मे प्रयुक्त होने वाले मन्त्रो का सग्रह है। इनमे यजमान का शाला प्रवेश, सोम का क्रय, सौमिकवेदिप्रधान मे आतिथ्य, यूपनिर्माण, यूप का सस्कार, सोम का अभिषव, उपाशु ग्रह आदि सवनद्वय से प्रारम्भ होकर दक्षिणा दान तक के मन्त्र, तृतीय सवन के मत्र तथा आदित्य ग्रह आदि के मन्त्र है। नवे अध्याय मे वाजपेय और राजसूय यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र है। दसवे मे राजसूय के अभिषेक जलादान आदि से प्रारम्भ करके सौत्रामणि मे प्रयुक्त किए जाने वाले मन्त्र है। ग्यारहवे अध्याय से प्रारम्भ करके अठारहवे अध्याय तक अग्निचयन के मन्त्र है। इनमे से ग्यारहवे मे उखा सभरण, बारहवे मे उखाधारण, तेरहवे मे चित्युपधान मे पुष्करपर्ण आदि उपधान मन्त्र, चौदहवे मे द्वितीय से चतुर्थ चितिपर्यन्त उपधान मन्त्र, पन्द्रहवे मे पञ्चम चिति के मन्त्र, सौलहवं मे शतरूद्रीयादिहोम मन्त्र, सत्रहवे मे चित्यारोहण आदि के मन्त्र, अठारहवे मे वसु की धारा सम्बन्धी मन्त्र है। उन्नीसवे से इक्कीसवे अध्याय तक सौत्रामणि के मन्त्र है जिनमे से बीसवे मे सेकासन्द्यादिहोत्र की समाप्ति तक के मन्त्र और इक्कीसवे मे याज्यादि के सम्प्रेषण की समाप्ति तक के मन्त्र है। बाइसवे से पच्चीसवे तक अश्वमेध सम्बन्धी मन्त्र है। छब्बीसवे से पैतीसवे अध्याय तक खिल अर्थात् जिन मन्त्रो का कही भी विनियोग नही बताया है ऐसे मन्त्रो का सग्रह है। इनमे सत्ताइसवे अध्याय मे पञ्चचितिका अग्नि के मन्त्र है। अट्ठाइसवे मे सौत्रामणि यज्ञ मे प्रयुक्त पशु प्रयाज और अनुयाज प्रैष के मन्त्र है। उन्तीसवे अध्याय मे पुन अश्वमेध के मन्त्र है। तीसवे अध्याय मे वस्तुत मन्त्रो का सग्रह न होकर उन मनुष्यो के नाम गिनाये गये है जिनकी किसी समय पुरुषमेध मे आहुति दी जाने की कल्पना की गई होगी। उदाहरणार्थ—ब्रह्म शक्ति के लिए ब्राह्मण को, क्षत्र के लिए राजन्य को, मरूत् के लिए वैश्य को, तप के लिए शूद्र को, गीत के लिए शैलूष को, मेधा के लिए रथकार को, स्वप्न के लिए अधे को, अधर्म के लिए बधिर को, पवित्र के लिए वैद्य को, इस प्रकार मनुष्यो की सख्या गिनाई गई है। इकतीसवे मे ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की पुनरावृत्ति है। बत्तीसवे मे सर्वमेध के मन्त्र है। तैतीसवे मे सर्वमेध विषयक पुरोरुक् ऋचाओ का सग्रह है। चौतीसवे मे 'शिवसङ्कल्प' के मन्त्र है। पैतीसवे मे पितृमेध मन्त्रो के साथ-साथ अन्त्येष्टि के मन्त्र भी है जो ऋग्वेद मे लिये गये है। छत्तीसवे मे प्रवर्ग्याग्नि और अश्वमेधोपनिषद् है।

प्रवर्ग्य प्रक्रिया मे एक बडी कढाई को यज्ञीय अग्नि पर इतना गर्म किया जाता है कि उसका रग लाल-सा दिखने लगे। इसे सूर्य का प्रतीक माना जाता

है। इस कढ़ाई में दूध गर्म किया जाता है और अश्विनौ को अर्पित किया जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को अत्यधिक रहस्यमय माना जाता है। इसकी समाप्ति पर सम्पूर्ण यज्ञपात्रो को इस प्रकार एकत्र करके रखा जाता है जो एक मनुष्य की आकृति धारण कर लेते है। दूध का वर्तन शीर्पस्थानीय माना जाता है और सिर पर केशो के प्रतीक के रूप मे दर्भ घास रखी जाती है। दूध दोहने के दो वर्तन कर्ण-स्थानीय होते है। दो छोटे पत्राकार सोने के टुकडे आँखो का प्रतिनिधित्व करते है। दो कपाल पार्ष्णीस्थानीय (एडी) होते है। इस आकृति पर आटे को फैलाया जाता है जो चर्वी का प्रतिनिधित्व करता है तथा दूध और मधु का मिश्रण रक्त का प्रतिनिधित्व करते है। प्रवर्ग्य की इस प्रक्रिया को सम्पन्न करते समय जिन प्रार्थना मंत्रों और सूत्ररूप वाक्यखण्डो का प्रयोग किया जाता है वे भी इस रहस्य-मय प्रक्रिया के अनुरूप ही होते है। सैंतीसवे अध्याय मे महावीर के सभरण और प्रोक्षण आदि के मन्त्र है। अडतीसवे मे महावीरनिरूपण के समय धर्मधुग्दोहन आदि के मन्त्र है। उनतालीसवे मे प्रवर्ग्य मे धर्मभेद होने के कारण प्रायश्चित्त के मन्त्र है तथा चालीसवे अध्याय में ईशावास्योपनिपद् के मत्र है।

उपर्युक्त विपयानुक्रमणी पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 25वे अध्याय मे अश्वमेध सम्बन्धी मन्त्रो की समाप्ति पर 'खिल' नाम से परिशिष्ट मन्त्र दिए गए है। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि मूल रूप से शुक्ल-यजुर्वेद की संहिता में शायद 25 ही अध्याय थे। इसके अतिरिक्त अधिक गहराई से विचार करने पर तथा अन्तरग और वहिरग प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस सहिता के पहले 18 अध्याय पिछले 22 अध्यायो की अपेक्षा पहले सगृहीत किये गये थे क्योकि इन अध्यायो की विपय-वस्तु ही 'कृष्ण-यजुर्वेद' की सहिता से मेल खाती है तथा शतपथ के पहले 9 काण्डो मे इसी पर व्याख्यात्मक विवेचन मिलता है। जूलियस एग्लिग ने विस्तार से इस समस्या पर विचार किया है। पिछले 22 अध्यायो की विपयवस्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक मे ही मिलती है सहिता में नहीं। इस आधार पर विद्वानो का मत यही है कि वाजसनेयिमाध्यन्दिन सहिता मे सर्वप्रथम 18 अध्यायो का सकलन हुआ तत्पश्चात् 7 अध्याय, जिनमे सौत्रामणि और अश्वमेध यज्ञ सम्वन्वी मन्त्र है, इस सकलन मे जोड़े गए। सवसे वाद मे पिछले 15 अध्याय अर्थात् 26वे अध्याय से 40वे अध्याय तक इस संग्रह मे सगृहीत किये गये।

यजुर्वेद मे सगृहीत प्रार्थना मत्र और यज्ञकर्म के लिए प्रयुक्त होने वाले यज्ञ-सम्बन्धी सूत्र आदि इस वेद के मुख्य विपय है। ये कभी पूर्णत. और कभी अंशतः पद्य रूप मे है तथा कभी गद्यमय वाक्य खडो के रूप मे। वस्तुतः 'यजुप्' शब्द का प्रयोग इन गद्यमय वाक्य-खण्डों के लिए ही किया जाता है। इन प्रार्थनामन्त्रो का गद्य भाग भी कभी-कभी लययुक्त होता है और उसमे कवित्व के दर्शन भी एकाध

स्थान पर हो जाते है। यजुर्वेद में मिलने वाले अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद में भी उपलब्ध है। यजुर्वेद मे पाये जाने वाले इन मंत्रो मे विविध पाठ भेद भी मिलते है पर ये पाठ भेद जानबूझ कर किये गये परिवर्तन है जो मत्र को याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल वनाने के लिए किये गये थे। उदाहरण के लिये तुलनार्थ—

शुक्ल यजुर्वेदमाध्यन्दिन सहिता	ऋग्वेद सहिता
या ते धामा॑न्युश्मसि गम॑ध्यै यत्र गावो भूरि॑शृङ्गा अयास॑.। अत्राह॒ तदु॑रुगायस्य विष्णो॑. पर॒म प॒दमव॑भाति भूरि॑ ॥ 6 3	ता वां वास्तू॑न्युश्मसि गम॑ध्यै यत्र गावो भूरि॑शृङ्गा अयास॑.। अत्राह॒ तदु॑रुगायस्य वृष्ण॑: पर॒मं प॒दमव॑ भाति भूरि॑ 1.154 6
विष्णो॑ कर्मा॑णि पश्यत यतो॑ व्रतानि॑ पस्पशे । इन्द्र॑स्य युज्य॑: सखा॑ ॥ 6 4	विष्णो कर्मा॑णि पश्यत यतो॑ व्रतानि॑ पस्पशे । इन्द्र॑स्य युज्य सखा॑ ॥ 1.22 19
तद्विष्णो॑ः पर॒म प॒द ॐ सदा॑ पश्यन्ति सूरय॑: । दिवीव चक्षु॑रात॑तम् ॥ 6.5	तद् विष्णो॑ पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सूरय॑: । दिवी॑व चक्षु॑रात॑तम् ॥ 1.22 20
राज॑न्तमध्वराणा॑ गोपामृ॒तस्य दीदि॑विम् । वर्ध॑मान॒ॐ स्वे दमे॑ । 3 23	राज॑न्तमध्वराणा॑ गोपामृ॒तस्य दीदि॑विम् । वर्ध॑मान स्वे दमे॑ ॥ 1.1 8
स न॑ पितेव॑ सूनवेऽग्ने॑ सूपायनो भ॑व । सच॑स्वा न स्व॒स्तये॑ ॥ 3 24	स न॑. पितेव॑ सूनवेऽग्ने॑ सूपायनो भ॑व । सच॑स्वा न स्व॒स्तये॑ ॥ 1 1 9

ऋग्वेद के पूरे के पूरे सूक्त यजुर्वेद मे कम ही मिलते है। तैत्तिरीय सहिता के प्रथम काण्ड के दूसरे प्रपाठक मे ऋग्वेद के चौथे मण्डल के चौथे सूक्त के सभी मन्त्र ग्रहण किये गये है। उसी काण्ड के उसी प्रपाठक के अन्य तीन मन्त्र भी ऋग्वेद मे यत्र-तत्र उपलब्ध है। यजुर्वेद मे अधिकाशत· मन्त्रो को सन्दर्भ से पृथक् करके याज्ञिक-प्रक्रिया के उपयुक्त प्रतीत होने पर उचित स्थान पर जोड दिया गया है। इस वेद मे इन मन्त्रो का महत्त्व न के वरावर है। यजुर्वेद का वैशिष्ट्य तो इस वेद के गद्यमय सूत्रो और प्रार्थनाओ मे है।

यजुर्वेद मे मिलने वाली प्रार्थना का सवसे सरल रूप वहाँ मिलता है जव कोई वस्तु आहुति के रूप मे किसी देवता को दी जाती है। इस प्रकार की प्रार्थनाएँ

यजुर्वेद मे बहुतायत से मिलती है। उदाहरणार्थ—

द्यावापृथिवीभ्याᳬं स्वाहा वातादारभे स्वाहा॥ (शु० य० 4 6) आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा (शु० य० 4.7) अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहापा मोदाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा वायवे स्वाहा विष्णवे स्वाहेन्द्राय स्वाहा बृहस्पतये स्वाहा मित्राय स्वाहा वरुणाय स्वाहा (शु० यु० 22.6) प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा (शु० य० 22 23) अद्भ्यः स्वाहा वाभ्यः स्वाहोदकाय स्वाहा (शु० य० 22 25)।

इसी प्रकार के उदाहरण इसी अध्याय के सातवें, आठवें, तेइसवे से चौतीसवे मन्त्र तक तथा और भी इसी वेद के अन्य स्थलो पर देखे जा सकते हैं। किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए की जाने वाली प्रार्थना का इससे संक्षिप्त रूप सम्भव नही है। इसी प्रकार प्रार्थना का एक अन्य प्रकार इस रूप में मिलता है—

अग्निर्ज्योति-ज्योतिरग्निः स्वाहा। सूर्यो ज्योतिर्ज्योति. सूर्य स्वाहा। अग्नि-र्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्च स्वाहा। ज्योति सूर्य सूर्यो ज्योतिः स्वाहा। (शु० य० 3.9)।

एक ही प्रार्थना मन्त्र में अनेक प्रकार की क्रियाओ को करने के समय प्रयुक्त किये जाने वाले यजुष् खण्ड भी सगृहीत किये गये है। उदाहरणार्थ—

इषे त्वो र्जे त्वा[2] वायवः स्थोपायव. स्थ[3] देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणु[4] आ प्यायध्वमघ्निया देवभागमूर्जस्वतीः पयस्वतीः प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माऽघशंसो[5] रुद्रस्य हेतिः परि वो वृणक्तु[6] ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात वह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि[8] (कृ० य० 1 1)।

अर्थात् तुम्हे अन्न के लिए[1] (ग्रहण करता हूँ); तुम्हें शक्ति के लिए[2] (ग्रहण करता हूँ); तुम वायु हो; तुम समीप आने वाले हो[3]; सविता देव तुम्हें अत्यन्त श्रेष्ठ कर्म के लिए प्रेरित करे[4]; ओ अहिसनीय (गौओ) तुम देवताओ के भाग के साथ वृद्धि को प्राप्त होवो, शक्तिशाली (होवो); दूध वाली (होवो); सन्तानयुक्त (होवो); रोगरहित यक्ष्मा से रहित (होवो); तुम पर चोर और पापी प्रभावी न हो सके[5]; रुद्र के शस्त्र तुमसे दूर रहें[6]; इस गोस्वामी के पास तुम वहुसंख्या मे रहो[7]; तुम यजमान के पशुओ की रक्षा करो।

इन्हे बोलकर पलाश की शाखा का स्पर्श, उसका संनमन, ऋजुकरण तथा गौ के बछड़ो को दूर हटाना आदि सम्मिलित हैं। प्रार्थनाखण्डो का एक अन्य प्रकार यह भी है।

एषा ते अग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि; (शु० यु० 2.14)।

अर्थात् हे अग्नि यह तेरे लिये समिधा है। इसके द्वारा तुम बढ़ो और वृद्धि

को प्राप्त होवो हम भी बढ़े और वृद्धि को प्राप्त होवे ।

यजुर्वेद मे कुछ ऐसी प्रार्थनाएँ भी है जिनका प्रयोग ऐसे समय किया जाता था जब यज्ञ करते समय यजमान या अध्वर्यु यज्ञ के किसी पदार्थ से भय या अनिष्ट की आशका करता था। तब वह उनसे रक्षा की प्रार्थना करता है। उदाहरणार्थ— यज्ञ की रस्सी को उद्देश्य करके अध्वर्यु कहता है—

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतान (शु० यु० 6.12)

अर्थात् तुम साप मत बनो, तुम अजगर के आकार की मत बनो, हे यज्ञ ! तुम्हे नमस्कार है। इसी प्रकार का अन्य उदाहरण है—

पृथिवि मातुर्मा मा हिंसीर्मो अह त्वाम् (शु० यु० 10 23)

अर्थात् हे पृथिवी माता ! तू मेरी हिंसा मत कर मै तेरी हिंसा न करूँ। बहुधा न तो देवताओ का आह्वान और न ही उनकी स्तुति प्रत्यक्ष रूप से की गई है, अपितु यज्ञ मे प्रयुक्त होने वाले किसी पदार्थ और यज्ञ की प्रक्रिया का किसी देवता के साथ सम्बन्ध बताकर परोक्ष रूप मे उनकी स्तुति की गयी है। उदाहरणार्थ—

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै ।(शु० यु० 2.5)

अर्थात् तू समिधा है किसी भी शाप आदि से सूर्य तेरी सामने से रक्षा करे।

इसी प्रकार सोम यज्ञ की दीक्षा के समय यजमान अपने को एक मूँज की मेखला से बाँधते हुए कहता है ।

ऊर्गस्याँगिरस्यूर्णम्रदा ऊर्ज मयि धेहि(शु० यु० 4 10) अर्थात् अगिरा ऋषि द्वारा देखी गई हे मेखले ! तू बलवती है, ऊन के समान कोमल है, मेरे अन्दर बल को धारण करा। फिर वह उसमे गाँठ बाँधकर।

सोमस्य नीविरसि विष्णो शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि, अर्थात् 'तू सोम की नीवि है विष्णु की शरणस्थान है यजमान की शरण स्थान है । इन्द्र की उत्पत्ति स्थान है हमारी खेती को सफल कर' (शु०य० 4 10) यह मन्त्र बोलता है। इसी प्रकार के उदाहरण शु य० 5 1; शु०य० 6:30 आदि है।

शकट से हवि को उतारते समय अध्वर्यु यह मन्त्र बोलता है—

अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा' (शु० य० 5 1) अर्थात् तुम अग्नि का शरीर हो, मै तुम्हे विष्णु के लिए देता हूँ, तुम सोम का शरीर हो, मै तुम्हे विष्णु के लिए देता हूँ।

किसी भी यज्ञपात्र अथवा उपकरण को हाथ मे लेते हुए अध्वर्यु प्राय. इस प्रार्थना को बोला करता है—

'देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।' अर्थात् सविता की प्रेरणा मे मै तुम्हे अश्विनौ देवता की बाहुओ से और पूषा देवता के हाथो से

ग्रहण करता हूं (शु० य० 6.30)।

यज्ञ के लिए जिस अग्नि का प्रयोग किया जाता था उसका प्रज्वलन अरणि-मन्थन द्वारा होता था और ऐसा करते हुए अध्वर्यु—

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि (शु० य० 5.2) अर्थात् 'तुम अग्नि के उत्पत्ति स्थान हो तुम वर्षा करने वाले बन जाओ; तू आयु है, तू पुरूरवा है, तू उर्वशी है, तुम्हें गायत्री छन्द के द्वारा मन्थन करता हूँ; त्रिष्टुप् छन्द के द्वारा तुम्हारा मन्थन करता हूँ; जगती छन्द के द्वारा तुम्हारा मन्थन करता हूँ, मन्त्र का उच्चारण करता था।

यजुर्वेद में इस प्रकार के सूत्र जैसे प्रार्थना खण्डो का बाहुल्य है जो या तो अर्थशून्य है या अत्यन्त स्वल्प सार्थकता दिखाते हैं। इनकी तुलना में लम्बे प्रार्थना मन्त्रों की संख्या बहुत कम है जिनमें यजमान देवता के प्रति अपनी कामना सरल शब्दों में अभिव्यक्त करता है। इनकी अपेक्षा सूत्ररूपी प्रार्थनाएँ इस वेद में अधिक मिलती है जो अपेक्षाकृत अधिक सार्थक है, यथा—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण (शु० य० 3 17)

अर्थात् हे अग्नि देव ! तुम शरीरों की रक्षा करने वाले हो मेरे शरीर की रक्षा करो; तुम आयु देने वाले हो मुझे आयु दो, तुम तेज देने वाले हो मुझे तेज दो। हे अग्नि देव। मेरे शरीर मे जो कुछ कमी है तुम उसे पूरा करो।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬश्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम। (शु० य० 9 21)

अर्थात् मेरी आयु यज्ञ के द्वारा पूर्ण हो, मेरा प्राण यज्ञ के द्वारा सिद्ध हो; मेरी आँख यज्ञ के द्वारा सिद्ध हो; मेरा श्रोत्र यज्ञ के द्वारा सिद्ध हो, मेरा पृष्ठ यज्ञ के द्वारा सिद्ध हो; यज्ञ यज्ञ के द्वारा पूर्ण हो। हम प्रजापति की प्रजाएँ हों; हे देवो हम स्वर्ग को प्राप्त करें और अमर हो जाएँ।

कुछ इस प्रकार के यजुष् खण्ड हैं—और इनकी संख्या पर्याप्त है जिनका भाव संशयात्मक प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रील्लोकानुदजयत्तानुज्जेषᳬ सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुज्जेषम् (शु० य० 9 31)

अर्थात् अग्नि ने एक अक्षर के द्वारा प्राण को जीत लिया उस प्राण को मैं भी जीत लूं अश्विनी ने द्व्यक्षर के द्वारा दो पैर वाले मनुष्यों को जीत लिया मैं भी उनको जीत लूं; विष्णु ने तीन अक्षरों के द्वारा तीन लोको को जीत लिया मै भी

उनको जीत लूँ; सोम ने चार अक्षरों के द्वारा चार पैर वाले पशुओ को जीत लिया मैं भी उन्हे जीत लूँ। इसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण निम्न है—

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिश उदजयत्ता उज्जेषꣳसविता षडक्षरेण षड्टतूनुदजयत्तानुज्जेषं मरुत: सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान्पशूनुदजयँस्तानुज्जेष बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम्। (शु० यु० 9 32) मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषं वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जेषमिन्द्र एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषं विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम् (शु० य० 9 33) वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳस्तोममुदजयंस्तमुज्जेषꣳरुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳस्तोममुदजयस्तमुज्जेषमादित्या. पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमदिति. षोडशाक्षरेणं षोडशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेष प्रजापति. सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳस्तोममुदलयत्तमुज्जेषम् (शु० यु० 9.34)

यजुष् मन्त्रो मे प्रतीयमान इस प्रकार के निरर्थक शब्द समूह से परिपूर्ण याज्ञिक कर्मकाण्ड मे प्रयुक्त होने वाले मन्त्रो की अर्थहीनता का कारण यह है कि इनमे ऐसी वस्तुओ को सम्बद्ध करके दिखाया गया है जिनका वास्तव मे परस्पर कोई सम्बन्ध नही होता। उदाहरणार्थ अग्नि पर पकाने के लिए पात्र रखते हुए यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के दूसरे मन्त्र का विनियोग किया जाता है—

वसो: पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधाअसि। (शु० य० 1 2)

अर्थात् हे वसु। तुम पवित्र हो, द्यौ हो, पृथिवी हो; तुम मातरिश्वा के पाचन के निमित्त प्रयुक्त किये जाने वाले पात्र हो इत्यादि। ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण यजुर्वेद के चौथे अध्याय का उन्नीसवा मन्त्र है जिसका विनियोग सोमक्रिया के लिए दी जाने वाली गौ को उद्दिष्ट करके कहा जाता है।

चिदसि मनोसि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यादितिरस्युभयत. शीर्ष्णी।

अर्थात् तू विचार है, तू मन है, तू बुद्धि है, तू (यज्ञ के लिए) दक्षिणा है, क्षत्रिय है; तू पूजा के योग्य है, तू अदिति है, तू दोनो ओर मुख वाली है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण यजुर्वेद के बारहवे अध्याय के चौथे व पाचवे मन्त्र है जिनका विनियोग यज्ञवेदि का निर्माण करते समय उसके चारो ओर किसी पात्र मे रख कर ले जायी जाने वाली अग्नि को उद्दिष्ट करके किया जाता है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मास्त्रिवृत्ते शिरो गायत्र चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोम आत्मा छन्दाꣳस्याङ्गानि यजूꣳषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्य यज्ञायज्ञियु पुच्छ धिष्ण्या: शफा.। सुपर्णोसि गुरुत्मान्दिवं गच्छ स्व: पत।

अर्थात् हे अग्नि! तू सुपर्ण है, गरुत्मान् है. त्रिवृत् स्तोम तेरा सिर है; गायत्र साम तेरा चक्षु हैं। बृहद्रथन्तर साम तेरे पंख हैं; स्तोम तेरी आत्मा हे; छन्द तेरे

अंग हैं; यजुष् तेरे नाम है; वामदेव्य साम तेरा शरीर है; यज्ञायज्ञीय नाम वाला साम तेरी पूँछ है; धृष्णी नामक अग्नि तेरे खुर हैं क्योंकि तू गरुड़ के समान सुन्दर पंखो वाला है; इसलिए आकाश में जा।

विष्णोः क्रमो'ऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमो'ऽसि शत्रूयतो हन्तानुष्टुभं छन्द आरोह दिशोऽनु विक्रमस्व।

अर्थात् तू विष्णु का क्रम है, तू शत्रुओं का नाश करने वाला है इसलिए तू गायत्र छन्द के ऊपर आरोहण कर; उसके पश्चात् पृथिवी के ऊपर पराक्रम दिखा; तू विष्णु का क्रम है इसलिए शत्रुओं का नाश करने वाला है; इसलिए तू त्रैष्टुभ छन्द पर चढ़; उसके पश्चात् अन्तरिक्ष में पहुँच जा। तू कंजूस का नाश करने वाला विष्णु का क्रम है, इसलिए जगती छन्द पर चढ़ उसके पश्चात् द्युलोक को प्राप्त हो। तू विष्णु का क्रम है शत्रुत्व का आचरण करने वालो को तू मारने वाला है इसलिए अनुष्टुप् छन्द पर चढ़ उसके पश्चात् दिशा में व्याप्त हो जा। ऐसी रचना के विषय में लियोपोल्ड शोएडर[1] ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—'We may indeed often doubt whether these are the productions of intelligent people, and in this connection it is very interesting to observe that these bare and monotonous variations of one and the same idea are particularly characteristic of the writings of persons in the stage of imbecility.'

हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि हम यहाँ उन प्राचीन जादूटोनों के मन्त्रों और उनके रचयिताओं के विषय में विचार नहीं कर रहे हैं जिनका वर्णन अधिकांशतः अथर्ववेद में है। यहां हमारे विचार का विषय पुरोहितों द्वारा नित्य नवीन रूप में आविष्कृत की जाने वाली बौद्धिक कल्पना की उड़ानें हैं जिनका प्रयोग उन्हें अनगिनत याज्ञिक प्रक्रियाओं के लिए नित्यप्रति करना पड़ता था तथा उनके लिए नये-नये शीर्षक और उपशीर्षक ढूंढने पड़ते थे।

यजुर्वेद में मिलने वाली कुछ सूत्रात्मक प्रार्थनाएँ गद्य में निर्मित जादूमन्त्रों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यजुर्वेद की इन प्रार्थनाओं में हमें ऐसे शापों और अभिशापों के दर्शन भी होते हैं जिनकी बहुतायत अथर्ववेद में है। यज्ञों के कुछ ऐसे कृत्य भी थे जिनके द्वारा यजमान अपने शत्रुओं को हानि पहुँचा सकता था। उदाहरण के लिए यज्ञपात्रों को रखने के लिए प्रयुक्त होने वाली शकट को लक्ष्य करके निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया जाता है—

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः। (शु०य० 1.8) अर्थात् हे शकट के धू प्रदेश ! तुम हमारी हिंसा करने वा[illegible] [illegible] करो;

जो हमारी हिंसा करता है उसका वध कर, जिसकी हम हिसा करते है उसकी तू हिंसा कर।

ये अभिशाप और आभिचारिक मन्त्र जिस पुराकालीन लोकप्रिय वातावरण को उपस्थित करते है वैसा ही वातावरण हमे उन प्रश्नोत्तर पहेली सत्रो मे भी मिलता है जिनका वर्णन हमे यजुर्वेद मे उपलब्ध है। ऐसे याज्ञिक पहेली प्रश्नोत्तर सत्र को 'ब्रह्मोद्य' कहा जाता है। इनका प्रयोग करने वाले लोगो को 'ब्रह्म' अथवा 'पवित्र ज्ञान' का तथा प्राचीन लोकप्रिय पहेलियो का परिचय अवश्य था। ऐसे पहेली प्रश्नोत्तर के उदाहरण हम ऋग्वेद और अथर्ववेद मे दे चुके है। लुडविग ने 'ओल्ड जर्मनिक रिडल पोएट्री इन द पोएटिक हेरीटेज ऑफ दी इण्डो-यूरोपियन पीरियड' नामक पुस्तक मे ब्रह्मोद्य की तुलना जर्मनी की प्राचीन साहित्यिक पहेलियो के साथ की है। यजुर्वेद से हमे पता चलता है कि इस प्रकार की पहेली पूछने की प्रक्रिया यज्ञ का आवश्यक अंग थी। उदाहरणार्थ—

क. स्विंदेकाकी चंरति क उ स्विज्जायते पुनं.। कि७ स्विद्धिमस्यं भेषज किंवापंनं महत् ॥ (शु० यु० 23.9), सूर्यं एकाकी चंरति चन्द्रमां जायते पुनः। अग्निर्हिमस्यं भेषज भूमिरावपनं महत् ॥ (शु० यु० 23.10) अर्थात् कौन अकेला चलता है? कौन बार-बार उत्पन्न होता है? शीत की औषध क्या है? सबसे बडा बीज बोने का स्थान क्या है? सूर्य अकेला चलता है चन्द्रमा बार-बार उत्पन्न होता है। अग्नि शीत की औषध है भूमि सबसे बड़ा बोने का स्थान है॥

इसके अतिरिक्त वाजसनेयि सहिता के 23वे अध्याय मे तथा तैत्तिरीय सहिता के 7वे काण्ड के 4 प्रपाठक के 18वे अनुवाक मे ऐसे ब्रह्मोद्य के उदाहरण मिलते है। ऐसा कहा जा सकता है कि इन प्रश्नोत्तर रूप ब्रह्मोद्यो का प्रयोग देवताओ की स्तुति या पूजा करने के लिए या उन्हे प्रसन्न करने के लिए किया जाता था परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत प्रतीत होती है। यज्ञो की अधिकाश प्रक्रियाएँ और यजुष् प्रार्थनाओ का प्रयोग देवताओ की स्तुति या पूजा के लिए न किया जाकर देवताओ को यजमान की कामनाओ के पूरणार्थ बाध्य करने के लिए किया जाता था। स्वय देवता भी न केवल उत्तम भोजन द्वारा पूर्णतुष्टि की कामना करते है अपितु मनोरजन के लिए भी अभिलाषा रखते है। ब्राह्मणो और उपनिषदो मे प्राय यह कहा गया है कि देवता रहस्यप्रिय और परोक्ष रूप से की गयी विधि से प्रसन्न होते है तथा प्रत्यक्ष से द्वेष करते है—'परोक्षप्रिया हि देवा. प्रत्यक्षद्विष.'।

यजुर्वेद मे देवताओ को प्रभावित करने की एक नयी विधि मिलती है। इस विधि का प्रयोग आगे चलकर बहुत लोकप्रिय हुआ। इस विधि के अनुसार जिस देवता को प्रसन्न करना होता था उसके अनेक नामो और विशेषणो को एकत्र करके प्रयुक्त किया जाता था और यह आशा की जाती थी कि वह उनकी कामना

को पूर्ण करेगा। इस पूजाविधि के उदाहरण विष्णुसहस्रनाम, शतरुद्रीय और दुर्गासप्तशती आदि है। यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता के 16वें अध्याय में रुद्र के सौ नामों[6] का परिगणन किया गया है जिनमें से कुछ नाम इस प्रकार है—हिरण्यवाहु, सेनानी, पशुपति, वम्लुश, अन्नपति, रुद्र, रोहित, वाणिज, ककुभ्, निष्ङ्गिन्, तस्करपति, गिरिचर, गणपति, कपर्दी, सहस्राक्ष, शतधन्वन्, गिरिशय, शिपिविष्ट, आशुकषेण, श्रुतसेन, व्रात्य, उग्र, भीम, शङ्कर, शिव इत्यादि। ऐसा ही पाठ तैत्तिरीय संहिता के चौथे काण्ड के पांचवे प्रपाठक में मिलता है।

यजुर्वेद मे मिलने वाली प्रार्थनाओं का अन्तिम रूप एकाक्षरात्मक अथवा द्वयक्षरात्मक मन्त्र हैं। आगे चलकर तन्त्रों में इनका प्रयोग या (दुष्प्रयोग ?) अधिक हुआ। इन एकाक्षरात्मक शब्दों का कोई अर्थ नहीं प्रतीत होता। इनका प्रयोग यज्ञ के बीच मे कुछ विशेष अवस्थाओं मे अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक किया जाता था और इन्हें अत्यन्त पवित्र माना जाता था। इस प्रकार की प्रार्थनाओं में स्वाहा, स्वधा, वषट्, वेट आदि हैं; पर इन सबसे बढ़कर और अत्यधिक महत्त्वशाली 'ओ३म्' है। छान्दोग्योपनिषद् के तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव (1.1.8) में 'ओम्' से अभिप्राय स्वीकृति से है। इसी व्याहृति को हजारो वर्ष से और अब भी भारतीय आर्य लोग अत्यन्त पवित्र और अत्यधिक रहस्यमय मानते हैं। उपनिषदों में इसे ब्रह्म का रूप माना गया है और इसे ध्यान तथा जप का मूल कहा गया है। कठोपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सर्वे वेदा यत्पद्मामनन्ति तपांऽसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ सग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।

'ओम्' के साथ भूः, भुवः, स्वः इन तीन व्याहृतियो का प्रयोग किया जाता था और यज्ञो मे मन्त्रोच्चारण से पूर्व इन चारो का उच्चारण अवश्य करते थे। आगे चलकर गीता मे भी इसका महत्त्व इस रूप मे वर्णित है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। य. प्रयातित्यजन्देह सयाति परमा गतिम् ॥(8.13)।

वैदिक संहिताओ मे सामान्यत. और यजुर्वेद मे विशेषत. 'मन्त्र' शब्द से अभिप्राय छन्दोबद्ध प्रार्थनाओ (ऋचाओ और यजुषो) से था। आगे चलकर इसका प्रयोग जादू सूत्र (Magic formula) के रूप मे किया जाने लगा। इस होने वाले परिवर्तन का सकेत हमे यजुर्वेद मे ही मिल जाता है।

यदि एक साहित्यिक कृति के रूप मे हम यजुर्वेद को पढना चाहे तो यह हमें अर्थशून्य और कष्टकारी रचना प्रतीत होगी। इसके विपरीत, धर्म का अनुसन्धान करने वाले छात्र के लिए, जो इसका अध्ययन न केवल भारतीय अपितु सामान्य धर्म-विज्ञान के स्रोत के रूप मे करना चाहता है, इसका महत्त्व सर्वोपरि है और

यह एक सर्वाधिक रोचक ग्रन्थ सिद्ध होगा। भारतीयो के पश्चात्कालीन धार्मिक और दार्शनिक साहित्य को समझने के लिए यजुर्वेद की ये संहिताएँ अपरिहार्य है। यजुर्वेद के बिना हम ब्राह्मणो को नही समझ सकते और ब्राह्मणो के बिना आरण्यको को नही समझा जा सकता और आरण्यक ज्ञान के अभाव मे उपनिषदो के तत्त्व-ज्ञान का विकास नही समझा जा सकता।

पाद-टिप्पणी व सन्दर्भ

1. चरणव्यूह के अनुसार इनमे से 86 सम्प्रदाय कृष्ण यजुर्वेद और 15 शुक्ल यजुर्वेद के थे।
2. सभी विद्वान् इस मत से सहमत नही है।
   Gonda, HIL, PP 325, 332
3. एल० वॉन श्रोएडर द्वारा सम्पादित। लाइपजिग 1881 मे प्रकाशित। वीजवादेन 1970-1972 मे पुनः प्रकाशित।
4. डा० रघुवीर द्वारा सम्पादित, लाहौर 1932 मे प्रकाशित। पुनः उनके पुत्र डा० लोकेश चन्द्र द्वारा दिल्ली से 1968 मे प्रकाशित।
5. एल० वॉन श्रोएडर द्वारा सम्पादित। लाइपजिग 1881 मे प्रकाशित। वीजवादेन 1970-1972 मे पुनः प्रकाशित।
6. Schroeder, L V., Indiens Literature and cultur in historischer Entwicklung, P. 113 f
7. शु० यु० 16.17-34
8. ऊपर देखिए

पञ्चम अध्याय

सामवेद

शाखाएं और विपयवस्तु

स्तुति प्रार्थना खण्ड की ऋग्वेद तथा अथर्ववेद संहिताओं और याज्ञिक-कर्मकाण्ड सम्बन्धी यजुर्वेद की सहिताओ पर विचार करने के पश्चात् अव अवशिष्ट क्रम-प्राप्त सामवेद की संहिता पर विचार करना प्रसगोपात्त है। जिन संहिताओं पर अब तक विचार किया जा चुका है उनका महत्त्व उन सहिताओं की अपनी विशिष्ट विपयवस्तु के कारण है। सामवेद की संहिताओं का महत्त्व उसकी विपयवस्तु की दृष्टि से तो नगण्य-सा है, इनका एक मात्र महत्त्व इस सहिता मे संगृहीत मन्त्रो का विविध यज्ञों के अवसर पर उदगातृ ऋत्विज् द्वारा किये जाने वाले साम-गायन की दृष्टि से है। जिन भारतीय या पाश्चात्य विद्वानों ने इस संहिता को अपने अध्ययन का विपय वनाया है उनमें महत्त्वपूर्ण कार्य उन्ही विद्वानो का है जिन्होंने गायन और सगीत की दृष्टि से इस सहिता के स्वरूप पर विचार किया है।[1]

पुराणों में सामवेद की शाखाओ की संख्या 'सहस्रवर्त्मा साम' कहकर एक सहस्र तक वताई गई है। चरणव्यूह मे कुछ सम्प्रदायो के नाम इस प्रकार गिनाये गये है—राणायणीय, सात्यमुख्य या शाट्यमुख्य, कालाप, महाकालाप, कौथुम और लागलिक। इनमे से कौथुम सम्प्रदाय के छ. भेद वताये गये है—सारायणीय, वातरायणीय, वैधृत, प्राचीन, तैजस् और अनिप्टक। सामतर्पणविधि मे सामवेद की तेरह शाखाओ के नाम दिये गये है—(1) राणायण, (2) शाट्यमुख्य, (3) व्यास, (4) भागुरि, (5) औलुण्डी, (6) गौल्गुलवी, (7) भानुमान-औपमन्यव, (8) कराटि, (9) मशक गार्ग्य, (10) वार्पगव्य, (11) कुथुम, (12) शालिहोत्र, (13) जैमिनी।

इस समय हमें जिन तीन[2] शाखाओं की सहिताये उपलब्ध है उनका नाम क्रमश. (1) राणायणीय, (2) कौथुम, (3) जैमिनीय शाखाएँ है। इनमे से सवसे अधिक प्रसिद्ध कौथुम शाखा की सहिता है। इसका विभाजन मुख्यत. दो भागो मे किया गया है। प्रथम भाग पूर्वार्चिक(सक्षेप में आर्चिक) और दूसरा उत्तरार्चिक है। पूर्वार्चिक का विभाजन चार काण्डो[3] मे है—(1) आग्नेयकाण्ड, (2) ऐन्द्र काण्ड, (3) पावमान काण्ड और (4) आरण्य काण्ड। आरण्य काण्ड के अन्त मे 'महा-

नाम्नी' के 10 मन्त्र और है। इस प्रकार पूर्वार्चिक में 650 मन्त्र है। आरण्य काण्ड के 55 मन्त्र और महानाम्नी के 10 मन्त्रो को विन्टरनिट्स, हॉण्डा[1] तथा अन्य विद्वानो ने पूर्वार्चिक का भाग नही माना है। इस प्रकार पूर्वार्चिक के मन्त्रों की संख्या उनके अनुसार 585 है। आग्नेय काण्ड एक अध्याय मे, ऐन्द्र काण्ड अगले तीन अध्यायो मे, पावमान काण्ड एक अध्याय में और आरण्य काण्ड तथा महानाम्नी दोनो ही एक अध्याय मे विभाजित है। पूर्वार्चिक के सभी काण्ड प्रपाठको मे और प्रपाठक खण्डो या दशतियो मे निबद्ध है। इन दशतियो मे अधिक-से-अधिक 14 और कम-से-कम 6 मन्त्र हैं।

उत्तरार्चिक को 9 प्रपाठको और 21 अध्यायो मे विभक्त किया गया है।[5] प्रत्येक अध्याय खण्डो या सूक्तो मे विभक्त है[6]। इन खडो या सूक्तो मे एक से लेकर 12 मन्त्रों तक के पृथक्-पृथक् सख्या वाले मन्त्र-समूह है। इनमे एक मन्त्र वाले 13; 2 मन्त्रो वाले 66, 3 मन्त्रो वाले 287, 4 मन्त्रो वाले 9; 5 मन्त्रो वाले 4, 6 मन्त्रो वाले 10, 7 मन्त्रो वाले 2; 8 मन्त्रो वाला 1; 9 और 10 मन्त्रो वाले 3-3; और 12 मन्त्रो वाले 2 समूह है। तीन की सख्या वाले मन्त्र समूहो की सख्या सर्वाधिक है और इन्हे 'तृच्' नाम से कहा जाता है। इस प्रकार उत्तरार्चिक मे 1225 मन्त्र है। कौथुम शाखा के अनुसार सामवेद की कुल मन्त्र सख्या 1875 है। दोनो भागो मे ऐसे मन्त्रो का सग्रह है जो प्राय ऋग्वेद मे सवके सव उपलब्ध है। इनमे से वहुत से मन्त्रो की पुनरावृत्ति हुई है यदि हम उन पुनरावृत्ति वाले मन्त्रो को निकाल दे तो सामवेद मे मन्त्रो की सख्या 1603 रह जाती है। दोनो भागो से सग्रह किये गये इन मन्त्रो मे से केवल 98 मन्त्र ऐसे है जो ऋग्वेद मे नही मिलते। अधिकाशत सामवेद के मन्त्रो का सगह ऋग्वेद के आठवे और नवे मडल मे से किया गया है। राणायणीय शाखा के अनुसार सामवेद की कुल मन्त्र सख्या 1810 और जैमिनीय शाखा के अनुसार 1693 है। जैमिनीय शाखा मे पूर्वार्चिक की मन्त्र सख्या 587 तथा उत्तरार्चिक की मन्त्र सख्या 1041 है। 1693 की कुल सख्या मे आरण्य के 59 और महानाम्नी के 10 मन्त्र भी सम्मिलित है।

सामवेद के अधिकाश मन्त्र 'गायत्री' और 'प्रगाथ' छन्दों मे निवद्ध है। 'प्रगाथ' छन्द मे 'गायत्री' और 'जगती' छन्द के पाद मिले हुए होते हैं। इन छन्दो के नाम से ही यह सूचित होता है इनकी रचना प्रारम्भ से ही गायन के निमित्त से हुई थी। ओल्डनवर्ग[7] ने अपने एक लेख मे इस वात की ओर सकेत किया है। 'गायत्री' और 'प्रगाथ' दोनो ही नाम √गा (गाना धातु) से निष्पन्न हैं। ऋग्वेद मे न मिलने वाले सामवेद के 98 मन्त्र या तो दूसरी सहिताओ मे खण्डित पादो के रूप मे उपलब्ध है या कुछ कर्मकाण्ड के ग्रन्थो मे से लिये गये है और कुछ ऐसी शाखाओ मे भी लिये गये प्रतीत होते है जो हमे अव उपलब्ध नही हैं। इनमे से कुछ ऐसे भी मन्त्र

है जिनकी रचना ऋग्वेद के मन्त्रों के अलग-अलग पादों को जोड़कर की गई है पर ऐसा करते हुए अर्थ की दृष्टि से एकरूपता का ध्यान नहीं रखा गया। सामवेद में उपलब्ध होने वाले ऋग्वेद के कुछ मन्त्र भिन्न पाठभेद युक्त हैं और विन्टरनित्स आदि योरपीय इतिहासकारों की धारणा में इन मन्त्रों में मिलने वाला रूप प्राचीन मन्त्रों का परिवर्तित रूप रहा हो। इसके विपरीत विद्वान ओल्डेनबर्ग ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सामवेद में मिलने वाले इस प्रकार के पाठभेद माधुर्यजनक तथा आवश्यकतानुसार परिवर्तन हैं, ऐसे परिवर्तन जो गायन की दृष्टि से शब्दों में किये जाते हैं। सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दोनों भागों में मिलने वाला पाठ एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने का साधन है। इसका आवश्यक तत्त्व गायन था और दोनों भागों का उद्देश्य सामगान की पद्धति को सिखाना था। सामवेद के सम्प्रदाय में उद्गाता पुरोहित को शिक्षा देने वाले स्तर के लिए सर्वप्रथम इन गायन-पद्धतियों का सीखना अत्यन्त आवश्यक था। ऐसा करने के लिए पूर्वार्चिक की सहायता ली जाती थी और तत्पश्चात् यज्ञ में स्तोत्रों का जिस रूप में गायन किया जाता था उस रूप में उनका अभ्यास किया जाता था। इस उद्देश्य की पूर्ति उत्तरार्चिक से होती थी।

सामवेद में स्वर-चिह्नों का प्रकार अन्य वेद संहिताओं और ब्राह्मणों से भिन्न है। सामान्यतया संहिताओं और ब्राह्मणों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित चिह्नों को दर्शाने के लिए रेखाओं का प्रयोग किया गया है। यथा — ऋग्वेद में अनुदात्त के नीचे आड़ी रेखा, स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा तथा उदात्त पर किसी प्रकार का चिह्न नहीं दिया जाता। सामवेद में उदात्त आदि स्वर प्रदर्शन का कार्य अङ्कों और अक्षरों द्वारा किया जाता है। यथा

[illegible]

[illegible]
(सा० 1085)

पूर्वार्चिक के आग्नेय काण्ड, ऐन्द्र काण्ड और पावमान काण्ड की दशतियों की समाप्ति पर मन्त्रों में आये हुए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की संख्या भी दी गई है। यथा — पूर्वार्चिक के आग्नेय की प्रथम दशति की समाप्ति पर [उदात्त : 91 उ० स्वा० । स्वा० 371 (न) 11] इस प्रकार की सूचना अंकित है। यह सूचना आग्नेय काण्ड की 5 दशतियों और महानाम्नी की 10 ऋचाओं तथा उत्तरार्चिक के प्रथम तीन अध्यायों के तीसरे खण्ड तक नहीं है। तत्पश्चात् उत्तरार्चिक के अन्य अध्यायों में सूक्तों की समाप्ति पर उपर्युक्त प्रकार की सूचनाएँ प्रायः सर्वत्र मिलती हैं। उदात्त आदि स्वरों के अतिरिक्त सामवेद में गायन के स्वरों का भी महत्त्व है। नारदीय शिक्षा में इन स्वर सप्तकों की गणना इस प्रकार की गई है

सप्तस्वरा त्रयो ग्रामा. मूर्छनास्त्वेकविंशतिः ।
ताना एकोनपचाशत् इत्येतत्स्वरमण्डलम् ॥

इन स्वरो को प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम तथा मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत, पञ्चम के नाम से भी कहा गया है ।

सामवेद के निम्न छ विकार माने जाते है जिनके नाम क्रमशः ये है—(1) विकार यथा—'अग्ने' के स्थान पर 'ओग्नायि'; (2) विश्लेषण यथा—'वीतये' के स्थान पर 'वोयि तोया 2 यि'; (3) विकर्षण यथा—'ये' के स्थान पर 'या 23 यि', (4) अभ्यास अर्थात् बार-बार बोलना यथा—तोया 2 यि तोया 2 यि, (5) विराम यथा—'गृणानो हव्यदातये' के स्थान पर 'गृणानोह व्यदातये' इस प्रकार बोलते है। मूल मन्त्र मे 'गृणानोह व्यदातये' ऐसा रूप नही है परन्तु गाने के सौकर्य के लिए बीच मे ही तोड दिया जाता है इसे ही विराम कहते है, (6) स्तोभ-स्तोभ का अर्थ है ऋचाओ मे न आये हुए अक्षरो को बोलना यथा—'औ होवा-हाऊ'। पूर्वाचिक के मन्त्र 'योनि मन्त्र' कहे जाते है। इनके आधार पर बने हुए गान गाये जाते है। भारतीय परम्परा मे जिस गान (साम) के अनुसार जो ऋचा गायी जाती है उस साम को उस ऋचा पर आधृत माना जाता है। छान्दोग्योपनिषद्[10] मे 'ऋचि अध्यूढ साम' ऐसा कहा गया है अर्थात् साम ऋचा पर आरूढ है। उत्तरार्चिक मे लगभग 400 गान है जिन्हें तृचा का नाम दिया गया है। इस दृष्टि से उत्तरार्चिक एक गान पुस्तक है जिसका संग्रह प्रधान यज्ञो मे गाये जाने वाले साम गेय (गानो) के अनुसार किया गया है। विद्वानो मे यह अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है कि उत्तरार्चिक और पूर्वाचिक मे से किस भाग का संग्रह पहले किया गया। सामान्यतया किसी भी लय से गाये जाने वाले गायन की गानपद्धति की रचना पहले होना स्वाभाविक है। तदनन्तर उसके आधार पर लय के आरोह-अवरोह को देखकर उसके पश्चात् योनिमन्त्र के रूप मे सगृहीत किया जाना तर्कसगत प्रतीत होता है। तथापि अभी तक गेयगानो और योनिमन्त्रो मे किसकी रचना प्रथमत. हुई यह विषय विवादास्पद ही है।

वस्तुत 'साम' नाम उन गेय ऋचाओ को दिया जाता था। जिनका गान विविध यज्ञो मे किया जाता था। कौथुम शाखा के आधार पर 4000 साम गान बने हुए है और राणायणीय शाखा के आधार पर भी 4000 सामगान उपलब्ध होते है[11]। ये सामगान जिस ऋषि द्वारा निबद्ध किये जाते है उसी के नाम से प्रसिद्ध है। जैसे—गोतमस्य पर्क, कश्यपस्य वार्हिपम् आदि। सामवेद का प्रथम मन्त्र जो ऋग्वेद से लिया गया है वह योनिमन्त्र के रूप में निम्न प्रकार से गाया जायेगा—

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।

१ २र ३ १ २
नि होता सत्सि वर्हिषि ॥

इस योनि मन्त्र को गोतम—पर्क के अनुसार इस प्रकार गाया जायेगा—

४ २र र- १ २-
ओग्नाई। आयाहीऽ ३ । वोइत्तोयाऽ२इ।
१ - १ र २र १ -
तोयाऽ२इ। गृणानो ह । व्यदातोयाऽ२ इ।
१ - १ २र १
तोयाऽ२इ। नाइ होतासाऽ२३ । त्साऽ२इ।
३ २र र ३
वाऽ२३४ औहो वा । हीऽ२३४ पी ॥

तथा काश्यपस्य वार्हिपम् के अनुसार निम्न प्रकार से गाया जायेगा—

४ ५ ४र ५र ४ १ र र र
अग्न आयाहि वी । तया ३ । गृणानो हव्यदाताऽ
२ १र र र २ १ २ १ -
२२ याइ । नि होता सत्सि वर्हाऽ२३ इपी । वर्हाऽ२
- ५र र १११११
इषाऽ२३४ औ होवा । वर्हीऽ३ पीऽ२३४५ ॥

सामवेद सहिता के दोनो भागो मे मिलने वाला पाठ एक मात्र उच्चारण रूप में है गायन रूप मे नही। गान के आरोह अवरोह और लय की शिक्षा प्रारम्भ मे केवल मौखिक ही दी जाती रही होगी[12]। इनके आधार पर गाये जाने वाले गान आगे चलकर संगृहीत किये गये। वर्तमान मे हमे चार प्रकार के गान[13] मिलते है—(1) ग्राम गेय गान अथवा प्रकृति गान अथवा गेय गान[14]—यह ज्ञान पूर्वार्चिक के आधार पर है। इसे ग्राम मे गाया जा सकता था। इन गानों का क्रम वही है जो उत्तरार्चिक में दिया गया है। (2) आरण्य गान—यह भी पूर्वार्चिक से सम्बद्ध है। आरण्य गान या आरण्य गेय गान के बारे मे यह प्रथा थी कि इसका गायन केवल अरण्य मे ही किया जाता था तथा इसके आरण्य नाम से आगे आने वाले साहित्य के विषय मे यह विश्वास था कि इसका पठन-पाठन और श्रवण केवल उन व्यक्तियो के लिए था जो दीक्षित थे। वह इस विषय के रहस्य को जानते थे तथा इनके मूल मे विद्यमान आध्यात्मिक और धार्मिक प्रतीकों से पूर्णत परिचित थे अतएव ऐसे व्यक्ति ग्राम और जनपद से दूर अरण्य मे रहकर इस विषय का पठन पाठन और श्रवण करते थे। इनकी आधार पुस्तक आरण्य संहिता या आरण्य काण्ड थी। अगले दो गानों—'ऊहा' और 'उह्य' का आधार उत्तरार्चिक है। पृथक्-पृथक स्तोम यज्ञो के विविध काल में उद्गाता इनका प्रयोग करता था। इस दृष्टि

से इनका विभाजन सात पर्वो मे किया गया है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि विभिन्न शाखाओ के अनुसार साम के इन गानो की संख्या कई सहस्र तक थी। कल्पसूत्र ग्रन्थो[15] मे इनका वर्णन कई स्थानो पर हुआ है तथा इनके साथ विविध प्रतीकात्मक अर्थ भी जुड़े हुए है। ब्राह्मणो, आरण्यको और उपनिषदो मे वर्णित प्रतीकवाद और रहस्यवाद के साथ इनका गहरा सम्बन्ध है[16]। इनमे से कुछ नाम यथा—वैरुप, बृहद्, गौरवीति, रैवत, अर्क, गायत्र, श्लोक और भद्र आदि ऋग्वेद मे मिलते है[17]; बृहद्, रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव, ययज्ञि शक्वर, रैवत, अभीवर्त, क्रोष, सत्रर्सभि इत्यादि नाम यजुर्वेद मे मिलते है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नाम यथा—नोधस, रौख, यौद्धाजय, अग्निष्टोमीय, भास और विकर्ण नाम एतरेय ब्राह्मण मे मिलते है।[18]

विन्टरनिट्स तथा बहुत से पाश्चात्य विद्वानो[19] ने सामगायन का विकास अधिकाशत उन अर्ध-धार्मिक गीतो से माना है जिनका गायन ऋतु परिवर्तन आदि जातीय उत्सवो के समय किया जाता था। उसके मत मे इनमे से कुछ का मूल तो उस कोलाहल पूर्ण गायन मे खोजा जा सकता है जिसे प्राचीन असभ्य जाति के लोग अपनी पूजाविधि के समय अपने जादूगर पुरोहितो की देख-रेख मे करते थे। हाऊ, हावु, रायि, राइ आदि सामगान के समय प्रयुक्त किये जाने वाले स्तोमों को वह आदिकालीन हर्षसूचक ध्वनि समूहो का रूप मानता है। उसकी दृष्टि मे 'सामन्' शब्द का अर्थ सम्भवत. उस 'प्रशसापरक गान' से है जो देवताओ या राक्षसो को तुष्ट करने के लिए गाया जाता था। अपने मत की पुष्टि मे उसने सामवेद से सम्बद्ध सामविधान-ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम लिया है जिसके पिछले भाग की विषयवस्तु जादू सम्बन्धी है और उसके प्रयोग के समय नाना सामगानो का विधान बताया गया है। इसी प्रकार जादू क्रियाओ के साथ सामगान का सम्बन्ध दर्शाने के लिए उसने आपस्तम्ब धर्मसूत्र की ओर इङ्गित किया है। इस धर्मसूत्र मे वेदपाठ के समय गिनायी गयी अवरोधक ध्वनियो मे सगीत, रोदन, और सामगान को भी गिनाया गया है।[20]

पाश्चात्य मनीषिओ की दृष्टि मे सामवेद संहिता का महत्त्व भारतीय यज्ञ-प्रक्रिया और जादूविधियो के इतिहास की दृष्टि से कम नही है यद्यपि साहित्यिक कृति के रूप मे यह सहिता महत्त्वहीन है।

पाद टिप्पणी और सन्दर्भ

1 Van Des Hoogt, J M., The vedic chant studied in its textual and melodic form (with a bibliography), Thesis Amsterdam 1929 Bake, A. A. at Prabuddha Bharata 53, P. 71.

2 होण्डा के अनुसार हमे केवल दो सहिताएँ उपलब्ध है—(1) कौथुम,

(2) जैमिनीय या तलवकार; Gonda, HIL, P. 313
3. सामवेद संहिता, सम्पा०—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, 1983
4. Winternitz, M., HIL, P. 143, Gonda, HIL, P. 313
5. विन्टरनिट्स उत्तरार्चिक के विभाजन के विषय मे मौन है उसने केवल 400 के लगभग मन्त्र समूह की वात कही है जिसमे 3 से लेकर 12 तक के मन्त्रो का संग्रह है। Winternitz, M., HIL, P. 144
होण्डा के अनुसार उत्तरार्चिक का विभाजन 9 प्रपाठको मे है जिनमे से कुछ को दो तथा कुछ को तीन अर्धों में विभक्त माना है। इस प्रकार अर्धों की संख्या उसने 22 मानी है जिनमे 399 छोटे-वड़े मन्त्र समूह है इनमे से 287 मन्त्र समूह तीन-तीन मन्त्रों के हैं। Gonda, HIL, P. 314
9. 21वे अध्याय का खण्डो में विभाजन नही है इसमे कुल 27 मन्त्र है।
7. Oldenberg, H, Zeitschrift der deutshen Morgenlandishen. Gesellschaft, 38, 439ff, 464 ff.
8. Winternitz, M, HIL. P. 143
9. विन्टरनिट्स द्वारा उद्धृत, वही
10. छान्दोग्योपनिषद् 1.6.1.
11. सामवेद संहिता, सम्पा०—एस. डी. सातवलेकर, भूमिका पृ० 6
12. Gonda, HIL P. 315
13. Caland, W. Die Jaiminiya-Samhita mit einer Einleitung uber die Samaveda literatur, P. 4 f.
14. श्रौतिन्, कृष्णस्वामि, सामवेदसंहिताया कौथुमशाखायाः वेयगानम्

षष्ठ अध्याय

ब्राह्मण साहित्य

संहिताओ के बाद वैदिक साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण भाग ब्राह्मण साहित्य है। ये वृहदाकार गद्यमय ब्राह्मणग्रन्थ तत्त्वत: याज्ञिक कर्मकाण्ड विषयक एक प्रकार के व्याख्यान ग्रन्थ है जिनमें तद्विषयक प्रचलित पर असगृहीत विचारसमूह को लिखित रूप दिया गया। इनकी परम्परा के अनुयायी उन्ही कुलो के वंशधर थे जिनके पूर्वज ऋग्वेद के समय के सर्जक मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे।[1] सर्वशक्तिशाली यज्ञ ही एक मात्र ऐसा विषय है जिस पर इन ग्रन्थो की विषयवस्तु केन्द्रित है और सब विचारविमर्श उसी स्रोत से निसृत होते है और उसी पर समाप्त होते हैं। इन ग्रंथो के सपादको या सकलनकर्ताओ का उद्देश्य यज्ञप्रक्रियाओ का वर्णन करना नही है अपितु उनके मूलस्रोत, उनके अर्थ और अभिप्राय और उनकी आधारभूत युक्ति परम्परा को दर्शाना तथा उन याज्ञिक प्रक्रियाओ की प्रामाणिकता, विशेषता और मन्त्रो के साथ उनके सम्बन्ध को स्पष्ट करना है। इनके लेखको ने, जहाँ तक मानव के अपने हित का सम्बन्ध हो सकता है, उसे दृष्टिगत रखते हुए इस विश्व को और उसको नियन्त्रित करने वाली शक्तियो को यज्ञ द्वारा वश मे करने के लिए कर्मकाण्ड विषयक परिकल्पनाओ की व्याख्याएँ उपस्थित की। उनका यह विश्वास था कि यदि याज्ञिक कर्मकाण्ड की विधियो को समुचित रूप मे जान लिया जाये और सूक्ष्म से सूक्ष्म विधिविधान का पालन करते हुए उन्हे सम्पन्न किया जाये तो वे मानव को इहलोक और परलोक दोनो ही स्थानो पर दु ख, कष्ट और दुर्भाग्य से बचा सकती है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र[2] के अनुसार यज्ञ विद्या सम्बन्धी ग्रथो मे विधिवाक्यो की व्याख्या—जिसमे विशिष्ट यज्ञ क्रिया सम्बन्धी नियम और उस क्रिया को सपन्न करते समय प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्रो के साथ उसका सम्बन्ध तथा वह विशिष्ट प्रक्रिया जो एक निर्धारित नियम के अनुसार ही क्यो की जानी चाहिए —का वर्णन होता है। जैसा कि अभी हम यजुर्वेद के याज्ञिक कर्मकाण्ड के विपय मे देख चुके है कि इसकी विपयवस्तु सामान्य पाठक को थका देने वाली और अतएव अरुचिकर प्रतीत होती है। यही बात ब्राह्मण साहित्य पर भी लागू मानी जा सकती है। ब्राह्मण साहित्य के बारे मे एक बार मैक्समूलर[3] ने कहा था कि

गाथाएँ इत्यादि, तथापि ये सब विषय यज्ञ से प्रारम्भ होते है और उस पर ही आधृत है। यजुर्वेद की सहिताओ मे जिन महान् यज्ञो से हम परिचित हो चुके है उन पर ब्राह्मणो मे निरन्तर विचार किया गया है तथा उन यज्ञो मे प्रयुक्त होने वाले पृथक्-पृथक् विधि-विधानो, उनके परस्पर सम्बन्धो तथा उनसे सम्बद्ध मन्त्रो और प्रार्थनाओ पर ब्राह्मण ग्रन्थो मे विवेचनात्मक व्याख्यान किये गये है। कही-कही मन्त्रो और प्रार्थनाओ को सम्पूर्ण रूप मे उद्धृत किया गया है और कही मन्त्राश का प्रारम्भिक उद्धरण मात्र देकर उसकी व्याख्या की गई है। यथा मैत्रायणी सहिता के 'विभूर्मात्रा', प्रभू पित्रा'[7] इस मन्त्राश को उद्धृत करके तैत्तिरीय ब्राह्मण मे उसकी व्याख्या 'विभूर्मात्रा प्रभू पित्रेत्याह। इयं वै माता। असौ पिता। आभ्यामेवैनं परिददाति इति'[8] इस प्रकार की गई है। इसी प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रो[9] 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्', और अभि त्वा शूर नोनुमो' की व्याख्या ऐतरेय ब्राह्मण मे क्रमश इस प्रकार की गयी है—

'यो जात एव प्रथमो मनस्वानिति सूक्तं समानोदक तृतीयेऽहनि तृतीयस्याह्नो रूपम् इति', 'अभित्वा शूर नोनुम इति रथंतरस्य योनिमनु निवर्तयति राथतरं ह्येतदहरायतनेन इति।'[10]

इसी प्रकार सामविधान ब्राह्मण मे सामवेद से उद्धृत मन्त्राशो का प्रतीक देकर देवताओ के स्वर्गप्राप्ति के साथ उनका सम्बन्ध दिखाया गया है।

'इदꣳ ह्यन्वोजसा (सा० 1 165) इति प्रथमोत्तमे त्वामिदा ह्यो नर (सा० 1 302) स पूर्व्यो महोना (सा० 1 355) पुरा भिन्दुर्युवा कविर् (सा० 1 359) उपप्रक्षे मधुमति क्षियन्त (सा० 1 441) पवस्व सोम मधुमाꣳ ऋतावा (सा० 1 532) सरूपकृद्राहस माधुच्छन्दसमेषा माधुच्छन्दसी नाम सहितैतया वै देवा स्वर्ग लोकमायन्।'[11] इनके अतिरिक्त ऋग्वेद के स्वस्ति नं पथ्यासु धन्वसु, स्वस्त्य'प्सु वृजने स्वर्वति। स्वस्ति नं पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन'[12] इससम्पूर्ण मन्त्र को देकर ऐतरेय ब्राह्मण मे इस की व्याख्या 'मरुतो वै देवाना विशस्ता एवैतद्यज्ञमुखेऽचीक्लृपत् इति'[13] की गई है।

इन्ही के साथ इन ग्रन्थो मे प्रतीकात्मक व्याख्याएँ, आध्यात्मिक विवेचन तथा प्रार्थना मत्रो के साथ यज्ञो के विधिविधान के सम्बन्ध मे परिकल्पनात्मक तर्क आदि भी प्रस्तुत किये गये है। शतपथ-ब्राह्मण मे अग्निहोत्र और अश्वमेध यज्ञ के प्रकरण उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते है—

वाग् ह वा एतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्री। मन एव वत्स। तदिद मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव। तस्मात्समान्या रज्ज्वा वत्स च मातर चाभिदधति। तेज एव श्रद्धा। सत्यमाज्यम्।, स होवाच। न वा इह तर्हि किंचनासीत्। अथैतदहूयतैव। सत्य श्रद्धायामिति। वेत्थाग्निहोत्र याज्ञवल्क्य! धेनुशतं ददामीति होवाचा। तदाहु—प्र वा एतदश्वो मीयते। यत्पराङेति। न ह्येनं प्रत्यावर्तय-

न्तीति । यत्सायं धृतीर्जुहोति । क्षेमो वै धृति । क्षेमो रात्रिः । क्षेमेणैवैन दाधार । तस्मात्सायं मनुष्याश्च पशवश्च क्षेम्या भवन्ति । अथ यत्प्रातरिष्टिभिर्यजते । इच्छ-त्येवैन तत् । तस्माद्दिवा नष्टैप एति । यद्वेव सायं धृतीर्जुहोति । प्रातरिष्टिभि-र्यजते । योग क्षेममेव तद्यजमानः कल्पयते । तस्माद्यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते । क्लृप्तः प्रजाना योगक्षेमो भवति ।[14]

कभी-कभी एक ही विपय पर अनेक ऋपिओ के विचार पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किये जाते है और अन्त में अन्य सवका खण्डन करके उस ग्रन्थ के प्रधान ऋपि का मत अन्तिम निर्णय के रूप में उपस्थित किया जाता है। इन ग्रंथो मे कही-कही भिन्न-भिन्न प्रदेशो में एक ही यज्ञ के विप्य मे पृथक्-पृथक् विधिविधानों का वर्णन भी मिलता है । इसी प्रकार विशिष्ट परिस्थितियो मे यज्ञ की किसी विधि का अन्य रूप मे सम्पन्न किये जाने का विधान भी किया जाता है। प्राय. अधिकाश ब्राह्मण ग्रंथो मे किसी यज्ञ को सम्पन्न कराने के लिए पुरोहितों को क्या दक्षिणा दी जानी चाहिए इसका वर्णन विस्तार से उपलब्ध होता है । यज्ञ सपादन से यजमान को इस जन्म मे या अगले जन्म में मिलने वाले फल का वर्णन भी रोचक रूप मे वर्णित किया गया है । यज्ञसम्वन्धी कृत्यो की विविधताओ को इतने विस्तृत रूप मे नानाविध रूप से प्रस्तुत करने के कारण हम ब्राह्मण ग्रन्थो को आधुनिक शव्दावली मे 'यज्ञविज्ञान' के ग्रन्थ कह सकते है ।

ब्राह्मण-ग्रंथो मे उपलव्ध वहुत से ऐसे उद्धरणो से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ मे इस विपय के वहुत से ग्रन्थ विद्यमान रहे होगे । उन ग्रन्थो का नाम निर्देश तो वहाँ है पर अव वे उपलव्ध नही है । पिछले अध्याय मे हम जिन चार वैदिक सहिताओ के नाम से परिचित हो चुके है और जिनमे से प्रत्येक वेद की विविध शाखाएँ किसी समय विद्यमान रही थी उनमे से प्रत्येक शाखा के साथ एकाधिक ब्राह्मण ग्रन्थ सयुक्त थे । ऊपर इस वात का निर्देश किया जा चुका है कि कृप्ण-यजुर्वेद से संवद्ध शाखाओ की सहिताओ मे मन्त्रो और प्रार्थनाओ के अतिरिक्त यज्ञो के अर्थ और उद्देश्य के विपय मे एकाधिक मतो पर विचार-विमर्श किया गया है। इन संहिताओं मे मिलने वाले यज्ञविद्या सम्वन्धी इस प्रकार के विचार ही आगे चलकर स्वतन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थो के रूप मे विकसित होकर सगृहीत हुए । इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रारम्भ हम कृप्ण-यजुर्वेद की सहिताओ मे उपलव्ध याज्ञिक कर्मकाण्ड सम्वन्धी विवाद और विचार-विमर्श मे खोज सकते है। वेदो की विविध शाखाओ औरसंप्रदायो के प्रधान आचार्यों और पुरोहितो ने इन विवेचनो पर अपना-अपना मत प्रस्तुत करके पृथक्-पृथक् ग्रंथो की रचना की होगी । शीघ्र ही यह नियम सा वन गया होगा कि प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना एक पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थ होना चाहिए । इस कारण एक ओर तो ब्राह्मण ग्रंथों की सख्या की वृद्धि हुई और दूसरी ओर कुछ ऐसे ग्रंथों को भी 'ब्राह्मणम्' नाम दे दिया गया जिनकी विपय वस्तु ब्राह्मण ग्रंथों की विपयवस्तु से

सर्वथा पृथक् थी। इस प्रकार के तथाकथित ब्राह्मणो मे सामवेद के कुछ ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण है। इनकी विषयवस्तु वेदाङ्ग साहित्य के सदृश है जिस पर इस ग्रथ के द्वितीय भाग मे विचार किया जायेगा। प्रारम्भ मे अथर्ववेद का कोई ब्राह्मण-ग्रथ नही रहा होगा क्योकि अथर्ववेद की विषयवस्तु याज्ञिक कर्मकाण्ड की विषयवस्तु से सर्वथा भिन्न थी। बहुत पीछे जाकर, जब ब्राह्मण ग्रंथ से असम्बद्ध किसी वेद की कल्पना तक नही की जा सकती थी, अथर्ववेद से सम्बद्ध ब्राह्मण की रचना की गई।

अब हम वैदिक सहिताओ से सम्बद्ध प्राचीन ब्राह्मणो मे से मुख्य-मुख्य पर विचार करते है। वर्तमान मे ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध है—(1) ऐतरेय ब्राह्मण।[15] (2) कौशीतकी अथवा शाखायन ब्राह्मण।[16] ऐतरेय ब्राह्मण मे 40 अध्याय है और इन्हे आठ पञ्चको मे विभाजित किया गया है। तत्पश्चात् उन्हे पृथक्-पृथक् खण्डो मे विभाजित किया गया है। प्राचीन परम्परा के अनुसार इसके लेखक का नाम महीदास ऐतरेय था। ग्रन्थ के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि महीदास ऐतरेय इसका लेखक न होकर सग्रहकर्ता या सम्पादक था।[17] इसमे मुख्यत· सोम यज्ञ पर विशेष विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त अग्निहोत्र का तथा राजसूय यज्ञ की दीक्षा के समय निर्दिष्ट भोज और उत्सव आदि का भी वर्णन इसमे मिलता है। ऐसा समझा जाता है कि इसके पिछले दस अध्याय बाद मे जोड़े गये थे। ऐसा मानने के लिए दो आधार दृष्टिगोचर होते है—प्रथम, इन दस अध्यायो की विषयवस्तु के समकक्ष विषय कौशीतकी ब्राह्मण मे नही मिलता। द्वितीय, यह दोनो ही ब्राह्मण सोमयज्ञ का विशेषत. वर्णन करते है पशुयज्ञ का नही। ऐतरेय ब्राह्मण मे 647 ऋग्वैदिक ऋचाओ के उद्धरण दिये गये है इनमे से 119 की आवृत्ति की गई है। यहाँ केवल मन्त्र प्रतीक दिया गया है, वह प्रतीक उस मन्त्र से प्रारम्भ होने वाले पूरे सूक्त का है केवल मन्त्र का नही। उदाहरण के लिए 21वे अध्याय के द्वितीय खण्ड मे 'त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिरीति' यह प्रतीक दिया गया है। सायण ने इस प्रतीक से पूर्व टिप्पणी देते हुए लिखा है—'जातवेदो देवताक सूक्त विधत्ते।' इसी अध्याय मे से ऐसे ही दो अन्य प्रतीक 'धारावरा मरुतो धृष्णोजसो' (ऋ० 2 34 1) तथा वैश्वानराय धिषणामृतावृधे (ऋ० 3 2 1) उद्धृत किये जा सकते है।

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण से घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध कौशीतकी अथवा शाखायन ब्राह्मण है। इसमे 30 अध्याय है। प्रथम 6 अध्यायो मे अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श तथा पूर्णमास और चातुर्मास्य यज्ञो का वर्णन है। 7वे अध्याय से 30वे अध्याय तक सोमयज्ञो का वर्णन है जो ऐतरेय ब्राह्मण के वर्णन से प्राय. मिलता है। यह ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण से अर्वाचीन है तथापि ऐतरेय ब्राह्मण जहाँ एक

व्यक्ति की कृति नही है[18] कौशीतकी ब्राह्मण एक ही लेखक की रचना प्रतीत होती है।[19]

सामवेद के साथ मुख्यत: दो[20] ब्राह्मण सम्बद्ध है—(1) ताण्ड्य महाब्राह्मण जिसका नाम पञ्चविंश ब्राह्मण भी है[21] तथा (2) जैमिनीय ब्राह्मण। ताण्ड्य महाब्राह्मण मे 25 अध्याय है। यह प्राचीनतम ब्राह्मणो मे से एक है और इसमे कुछ पुराने तथा मुख्य माने जाने वाले आख्यान भी मिलते हैं। इस ब्राह्मण मे वर्णित व्रात्य स्तोम को विशेष महत्त्व प्राप्त है; तथा जिन याज्ञिक विधानो के प्रयोग द्वारा व्रात्यो को ब्राह्मण समुदाय में सम्मिलित किया जाता था उनका भी वर्णन इसमे मिलता है। इस पञ्चविंश ब्राह्मण का ही अगला भाग षड्विंश ब्राह्मण है जिसे षड्विंश ब्राह्मण[22] के नाम से कभी-कभी पृथक् रूप से भी कहा जाता है। षड्विंश ब्राह्मण का अन्तिम भाग तथाकथित अद्भुत ब्राह्मण है। वस्तुत' इसमे शकुनो तथा आश्चर्यकारी सिद्धि आदि विषयक और वेदाङ्ग के विषय से समता रखने वाला विषय वर्णित हैं। उदाहरणार्थ—

अथ यदास्यायुक्तानि यानानि प्रवर्तन्ते, देवतायतनानि कम्पन्ते, दैव प्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति, गायन्ति, नृत्यन्ति, स्फुटन्ति, स्विद्यन्ति, उन्मीलन्ति, निमीलन्ति, प्रतिप्रयान्ति नद्य., कबन्धमादित्ये दृश्यते, विजले च परिविष्यते, केतु-पताका-च्छत्र-वज्र विषाणानि प्रज्वलन्ति, अश्वाना च वालधीष्वङ्गारा. क्षरन्ति, अहतानि चर्माणि कनिक्रन्त इत्येवमादीनि तान्येतानि सर्वाणि विष्णुदेवत्यान्यद्भुतानि प्रायश्चित्तानि भवन्ति।'[23]

जैमिनीय ब्राह्मण ताण्ड्य महाब्राह्मण की अपेक्षा प्राचीनतर है और धर्म तथा आख्यान की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। दुर्भाग्य से इसकी पाण्डुलिपियाँ क्षत-विक्षित है और इसलिए अभी तक इसका सम्पादन ठीक प्रकार से नही हो पाया है।[24]

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय-सहिता के साथ तैत्तिरीय ब्राह्मण[25] सम्बद्ध है। वस्तुत यह ब्राह्मण तैत्तिरीय-सहिता की ही विषयवस्तु का विस्तार मात्र है। इस ब्राह्मण का विभाजन प्रपाठको या अष्टको मे किया गया है। उन प्रपाठको को अनुवादकों मे और अनुवादको को खण्डो मे विभाजित किया गया है। हम यह ऊपर देख चुके हैं कि कृष्णयजुर्वेद की सहिताओ मे ब्राह्मण-भाग प्रारम्भ से ही मन्त्र-भाग के साथ-साथ सम्मिलित किया जाता था। अत वह ब्राह्मण भाग जो तैत्तिरीय सहिता के अन्त मे जोडा जा सकता था वहाँ से पृथक् करके तैत्तिरीय ब्राह्मण के नाम से स्वतन्त्र रूप से सगृहित किया गया। इसमे पुरुषमेध का प्रतीकात्मक वर्णन है[26] और जब हम इस तथ्य को ध्यान मे रखते है कि तैत्तिरीय संहिता मे इस यज्ञ का वर्णन उपलब्ध नही है तो हम इसे इस प्रमाण के रूप मे उपस्थित कर सकते है कि यह ब्राह्मण निश्चय ही पीछे से रचा गया होगा।

ब्राह्मणों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं विशालकाय ब्राह्मण का नाम शतपथ ब्राह्मण है। यह शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है और इसका शतपथ नाम इस ओर संकेत करता है कि इसमें 100 अध्याय हैं। ये अध्याय 14 काण्डों में संगृहीत हैं। प्रथम काण्ड में 9 अध्याय; द्वितीय काण्ड में 6 अध्याय; तृतीय काण्ड में 9 अध्याय, चतुर्थ काण्ड में 6 अध्याय; पांचवे काण्ड में 5 अध्याय; छठे काण्ड में 8 अध्याय; सातवें काण्ड में 5 अध्याय; आठवें मे 7 अध्याय; नौवें में 5 अध्याय; दसवें में 6 अध्याय; ग्यारहवें मे 8 अध्याय; बारहवें में 9 अध्याय; तेरहवें में 8 अध्याय और चौदहवे काण्ड में 9 अध्याय हैं। इसका महत्त्व जहाँ इसकी विशालता के कारण है वहाँ इसकी विषयवस्तु भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। याज्ञिक कर्मकाण्ड और यज्ञविद्या के साथ यजुर्वेद के घनिष्ठ सम्बन्ध की बात पहले कही जा चुकी है। इस दृष्टि से इस ब्राह्मण की महत्ता स्वयंसिद्ध है।

जिस प्रकार वाजसनेयी संहिता के दो संस्करण-माध्यन्दिन और काण्व संहिता के रूप मे मिलते हैं उसी प्रकार इस ब्राह्मण के भी दो संस्करण[27] उपलब्ध होते हैं। काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण में 104 अध्याय हैं। इसके दक्षिण भारत के संस्करण में 16 या 17 काण्ड मिलते हैं। माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण के प्रथम नौ काण्ड वाजसनेयी संहिता के प्रथम अठारह अध्यायों की विषयवस्तु पर एक क्रमिक व्याख्या के रूप मे है। ये काण्ड पिछले पॉच काण्डो की अपेक्षा निश्चय ही पूर्ववर्ती हैं। इन नौ काण्डों में से पहले पाँच काण्ड परस्पर अधिक सम्बद्ध हैं। इन काण्डों में याज्ञवल्क्य को सर्वप्रधान तथा सर्वातिशायी आचार्य के रूप मे स्थान-स्थान पर वर्णित किया गया है। सम्पूर्ण शतपथ के कर्ता के रूप में याज्ञवल्क्य का नाम केवल चौदहवें काण्ड के ही अन्त मे आता है। इसके विपरीत अगले चार काण्डो अर्थात् छ. से नवें काण्ड तक, जिनमें अग्नि चयन का वर्णन किया गया है याज्ञवल्क्य का नाम ही नही मिलता। उसके स्थान पर शाण्डिल्य का नाम आधिकारिक विद्वान् के रूप में वर्णित किया गया है। इन शाण्डिल्य को अग्नि रहस्य का ज्ञाता—जिसका वर्णन दसवें काण्ड में है—बताया गया है।

ग्यारह से चौदहवे काण्ड की विषयवस्तु पूर्वकाण्डों की परिशिष्ट रूप है। परिशिष्ट रूप होने के अतिरिक्त इन काण्डों में कुछ ऐसे रोचक विषयो का भी वर्णन किया गया है जो सामान्यतया ब्राह्मणों में भी नहीं मिलते। उदाहरणार्थ—11.5.4 मे उपनयन का वर्णन है जिसमें आचार्य शिष्य को दीक्षा देकर अपने आश्रम में प्रविष्ट करता है—

"ब्रह्मचर्यमागाम्"—इत्याह। ब्रह्मण एवैतदात्मानं निवेदयति। "ब्रह्मचार्यसानि"—इत्याह। ब्रह्मण एवैतदात्मानं परिददाति। अथैनमाह—"को नामासि" इति। प्रजापतिर्वै कः। प्राजापत्यमेवैनं तत्कृत्वोपनयते।

इसी प्रकार इसी काण्ड के इसी अध्याय के छठे से आठवें ब्राह्मण में स्वाध्याय

का वर्णन है जिसे ब्रह्मयज्ञ कहा गया है—

अथ ब्रह्मयज्ञ:, स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञ:। तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहू: मन उपभृत्। चक्षुर्ध्रुवा। मेधा स्रुव.। सत्यमवभृथ:। स्वर्गो लोक उदयनम्। यावंतं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णा ददत् लोकं जयति। त्रिस्तावंतं जयति—भूयांसं चाक्षय्यम्, य एवं विद्वानहरह: स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य:।

तेरहवें काण्ड के आठवें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में अन्त्येष्टि-संस्कार तथा स्मारक स्थल बनाने का वर्णन है—

अथास्मै श्मशानं कुर्वन्ति। गृहान्वा प्रज्ञानं वा। यो वै कश्च म्रियते। स शव:। तस्मा एतदन्नं करोति। तस्मात् शवान्नम्। शवान्नं ह वै तत् श्मशान-मित्याचक्षते। तेरहवें ही काण्ड में अश्वमेध[28], पुरुषमेध[29] तथा सर्वमेध[30] का भी वर्णन है। चौदहवें काण्ड मे प्रवर्ग्य विधि का वर्णन है। इस ब्राह्मण के अन्तिम भाग में सर्वप्रसिद्ध तथा सबसे बृहत्काय उपनिषद्—बृहदारण्यकोपनिषद् है।

यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि यदि सभी ब्राह्मणो में मुख्यत: श्रौतयज्ञों पर ही विचार किया गया है तो उनमें परस्पर भेद क्या है? इस प्रश्न का समाधान खोजने के लिए दो तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि सभी ब्राह्मणों में सभी श्रौतयज्ञों पर क्रमिक रूप में विचार नहीं किया गया है। यहाँ तक कि यदि वे ब्राह्मण किसी एक ही वेद से सम्बद्ध है तो उनकी भी विषयवस्तु सर्वांगत: एक जैसी नही है। उदाहरणार्थ-ऐतरेय और कौशीतकी (शाङ्खायन) ब्राह्मणों को लिया जा सकता है जो दोनों ही ऋग्वेद से सम्बद्ध है। शोन्दे[31] और कीथ[32] दोनो ने इस तथ्य की पुष्टि की है। द्वितीय, यदि पृथक्-पृथक् ब्राह्मणों मे किसी एक सामान्य विषय-यज्ञ विशेष या यज्ञ प्रक्रिया-पर विचार किया भी गया है तो वह विचार उस-उस ब्राह्मण से सम्बद्ध ऋत्विज् के कर्तव्य को दृष्टि-गत रखकर किया गया है। यदि हम उपर्युक्त दो ब्राह्मणो मे उपलब्ध होने वाले सोमयोग विषय पर दृष्टिपात करे तो यह तथ्य स्पष्ट रूप से हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि उनमे मिलने वाला विचार-विमर्श होता की दृष्टि से किया गया है वहाँ अध्वर्यु या उद्गाता का दृष्टिकोण अनुपलब्ध है।

इसी सन्दर्भ में यदि शतपथ ब्राह्मण मे उपलब्ध सोमयज्ञों पर दृष्टिपात किया जाए तो वहाँ उनका विवेचन अध्वर्यु ऋत्वित् के कर्तव्यों और दृष्टिकोण के अनुसार उपलब्ध है। इस प्रकार ब्राह्मणो की विषयवस्तु के मूलतत्त्व-श्रौतयज्ञ विमर्श एक समान है पर उन पर विवेचन सम्बद्ध ऋत्विज् के कर्त्तव्य के अनुसार पृथक्-पृथक् है। यज्ञों आदि पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श का यह स्वाभाविक परिणाम था कि यज्ञ-संस्था और यज्ञ-दर्शन का विकास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा।

इस बात की महत्ता तब और भी अधिक बढ़ जाती है जब हम इस तथ्य को

ध्यान मे रखते है कि इस साहित्य के प्रादुर्भाव और विकास मे कई शताब्दियो का समय व्यतीत हुआ है। ब्राह्मणो में दी गई वशावली पर—जिनमें एक-एक सम्प्रदाय के पचास से साठ तक आचार्यो के नाम गिनाये गये है जो इस यज्ञविज्ञान के विकास मे क्रमश. भाग लेते रहे है—विश्वास करे तो इस यज्ञविद्या के विकास का काल सहस्र वर्ष से कम नही होगा। आचार्यो की यह वंशपरम्परा काल्पनिक नही प्रतीत होती और ये नाम व्यक्तिवाचक न होकर वश नाम के परिचायक है। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकाला जा सकता है कि याज्ञिक कर्मकाण्ड और यज्ञ-विज्ञान तथा दर्शन के विकास मे कई शताब्दियो का समय लगा होगा तथा वर्तमान मे उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थो का सकलन और सम्पादन विविध याज्ञिक सम्प्रदायो में प्रचलित विधि-निषेधो को एकत्र उपस्थित करने के लिए किया गया होगा।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है ब्राह्मणो की रचना और सकलन मे लगा यह कई शताब्दियो का काल किस विशिष्ट समय का द्योतक है। जैसा कि सहिताओ के सम्पादन और संकलन का काल-निर्णय किसी निश्चयात्मकता के साथ नही किया जा सकता उसी प्रकार ब्राह्मणो के लेखन और संकलन का काल-निर्णय भी निश्चयात्मकता के साथ नही किया जा सकता। इतना होने पर भी वैदिक साहित्य की पूर्वापर क्रमिकता को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद सहिताओ के प्रारम्भिक भागो की रचना और सकलन ब्राह्मण ग्रन्थो की रचना और सकलन से कई शताब्दी पूर्व हो चुका था। इन सहिताओ के और विशेषतया यजुर्वेद और अथर्ववेद के उत्तरवर्ती भागो के संकलन के समय के आसपास ही ब्राह्मण-ग्रन्थो का निर्माण व सकलन हुआ होगा। इस बात की पुष्टि अथर्ववेद और यजुर्वेद के उत्तरवर्ती भागो और ब्राह्मणो मे उपलब्ध होने वाले भौगोलिक तथा सास्कृतिक वर्णनो के सादृश्य के आधार पर जा सकती है।

अथर्ववेद मे वर्णित भौगोलिक परिस्थितियो पर दृष्टिपात करने से यह स्सष्ट दृष्टिगोचर होता है कि उस समय आर्यजाति सिन्धु नदी के उत्तरवर्ती क्षेत्र से आगे वढकर गङ्गा और यमुना के मैदानो मे दूर-दूर तक फैल चुकी थी। यजुर्वेद[33] और ब्राह्मणो[34] मे जिन स्थानो का वर्णन है उनमे कुरु और पञ्चाल क्षेत्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कुरुओ के इस देश को देवताओ के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञो का क्षेत्र कहा गया है। आगे चलकर इसीलिए इस क्षेत्र का विशेषण 'धर्मक्षेत्र' वन गया था। इस क्षेत्र का विस्तार सरस्वती और दृषद्वती के क्षेत्र से प्रारम्भ होकर दक्षिण और पूर्व मे गङ्गा और यमुना के तटो तक फैला हुआ था। मनु-स्मृति[35] के अनुसार इस क्षेत्र का नाम ब्रह्मर्षि देश था जिसका एक भाग ब्रह्मावर्त्त था। मनु के अनुसार विस्तार की यह प्रक्रिया ब्रह्मावर्त्त से प्रारम्भ होकर ब्रह्मर्षि देश और मध्यदेश से होती हुई आर्यावर्त्त के रूप मे समाप्त हुई। यह भूखण्ड न

केवल यजुर्वेद और ब्राह्मणों का उत्पत्ति स्थल है अपितु सम्पूर्ण ब्राह्मण संस्कृति का जो आगे चलकर सम्पूर्ण भारत मे छा गई उसका भी उत्पत्ति क्षेत्र है। इस काल मे ऋग्वेद के समय की धार्मिक और सामाजिक अवस्थाएँ अत्यधिक परिवर्तित हो चुकी थीं। हम इस वात का निर्देश पहले ही कर चुके है कि यजुर्वेद और अथर्ववेद मे जिन देवताओ का वर्णन हमें मिलता है वे यजुर्वेद और अथर्ववेद मे नाम की दृप्टि से तो वही है परन्तु उनके स्वरूप में वहुत भेद आ गया है। यजुर्वेद मे उनकी सम्पूर्ण शक्ति यज्ञ के अधीन हो गई है। वे अव स्वतन्त्र रूप से किसी कार्य को करने मे असमर्थ है। इसी प्रकार अथर्ववेद मे इनका एक मात्र कर्त्तव्य रोग आदि विपत्तियो को भेजने वाले राक्षसो का संहार करना ही हो गया है। इसके विपरीत ऋग्वेद में जिन देवताओं-यथा-विष्णु, रुद्र, शिव, प्रजापति का महत्त्व अपेक्षया वहुत कम था वे याज्ञिककर्मकाण्ड सम्वन्धी संहिताओं तथा ब्राह्मणों मे अत्यन्त महत्त्वशाली हो गये हैं। प्रजापति को, देवताओ और असुरों, दोनों का पिता होने का सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया। ऋग्वेद मे मिलने वाला असुर शव्द जो कि अवेस्ता के अहुर का समस्थानी है और जिसका अर्थ 'चमत्कारिक शक्ति सम्पन्न' अथवा 'महाप्राण' था वह यजुर्वेद की संहिता और ब्राह्मणों में राक्षस के अर्थ में परिवर्तित हो गया है जो हमेशा देवताओ से युद्ध करने मे व्यस्त रहते हैं। ब्राह्मण-साहित्य की यह भी एक विशेपता है कि ये देव और असुर एक-दूसरे का पराभव भी यज्ञ के द्वारा ही करना चाहते है। ब्राह्मणो मे यज्ञ एकमात्र साधन न रहकर स्वयं सत्ता का उच्चतम लक्ष्य और साध्य वन गया है। ब्राह्मणों मे वर्णित यज्ञ एक सर्वातिशायी शक्ति है। वह प्रकृति की सर्जनात्मक शक्ति है और इसीलिए सृप्टि के सर्जक प्रजापति का तादात्म्य यज्ञ के साथ किया गया है।

सर्वं वाऽएपोऽभिदीक्षते यो दीक्षते-यज्ञ ह्यभिदीक्षते। यज्ञ ह्येवेदं सर्वमनु। सर्वेपा वा एप भूताना सर्वेपा देवानामात्मा-यद्यज्ञः। तस्य समृद्धिमनु यजमान. प्रजया पशुभि ऋर्ध्यते।[26]

इस प्रकार हम देखते है कि ब्राह्मणो की विपय-वस्तु यजुर्वेद की विपयवस्तु से न केवल पूर्णतया मेल खाती है अपितु उसी को वढ़ाती है। यज्ञो को सम्पन्न कराने वाले ऋत्विजो और पुरोहितो की महिमा का वर्णन जो वस्तुतः यजुर्वेद का विपय था ब्राह्मणो में आकर अपनी चरमावस्था को पहुँच गया है। विपय की इस समानता के आधार पर यजुर्वेद के अन्तिमाश की रचना के समकाल मे ब्राह्मणो की रचना स्वीकार करना तथ्यों के विपरीत नही है।

ब्राह्मणों की विपयवस्तु

प्रत्येक ग्रन्थ की विषय सूची और उस पर विस्तृत विचार इस ग्रन्थ की सीमा

के बाहर है। पाठकों को ब्राह्मण साहित्य के स्वरूप से परिचित कराने के लिए इनकी मुख्य विषयवस्तु पर हम सक्षेप मे यहाँ विचार कर सकते है। ब्राह्मणो की विषयवस्तु को हम मुख्यत. दो श्रेणियो—(1) विधि और (2) अर्थवाद मे विभक्त कर सकते है। विधि के अन्तर्गत अपूर्व विधि, नियम विधि और परिसख्या विधि परिगणित की जाती है। ब्राह्मणो मे वर्णित अपूर्व-विधि से अभिप्राय उस विधि से है जिसके विषय मे अन्यतर कुछ न कहा गया हो। नियम-विधि से अभिप्राय उस विधि से है जिसके अनुसार शास्त्रप्रतिपादित अनेक पक्षो मे से एक ही पक्ष को ग्रहण करने का विधान हो तथा परिसख्या विधि से अभिप्राय उस विधि से है कि जिसके विषय का ज्ञान तो पहले से विद्यमान हो पर विशिष्ट परिस्थिति मे उसका परिगणन न किया गया हो। 'विधि' से तात्पर्य नियम या सिद्धान्त पक्ष से है और अर्थवाद का अभिप्राय व्याख्या, प्रशसा अथवा अर्थ से है। ब्राह्मणो मे प्रायः सर्वप्रथम पृथक्-पृथक् याज्ञिक प्रक्रियाओ को करने के नियम दिये जाते है और तत्पश्चात् याज्ञिक क्रियाओ तथा उनसे सम्बद्ध मन्त्र और प्रार्थनाओ की व्याख्याएँ तथा उन पर विचार-विमर्श दिया जाता है। उदाहरणार्थ—शतपथ ब्राह्मण का प्रारम्भ दर्श और पूर्णमास यज्ञ को प्रारम्भ करने से एक दिन पूर्व यजमान द्वारा ली जाने वाली ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा से होता है। प्रतिज्ञा लेने वाला व्यक्ति आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियो के बीच मे उत्तराभिमुख खडा होकर जल का स्पर्श करता है। जल के स्पर्श करने का कारण यह है कि मनुष्य असत्य भाषण आदि करने के कारण यज्ञ की दृष्टि से अपवित्र होता है। 'जल स्पर्श द्वारा' आन्तरिक पवित्रता उत्पन्न होती या मिलती है क्योकि जल, यज्ञ की दृष्टि से, पवित्र होता है। 'यज्ञ की दृष्टि से पवित्र होकर अब मै प्रतिज्ञा करूँगा' ऐसा वह सोचता है क्योकि जल वस्तुत पवित्र करने वाला है। 'पवित्र जल के द्वारा पवित्र होकर अब मै व्रत धारण करूँगा ऐसा वह मन मे सोचता है और यही कारण है कि वह जल का स्पर्श करता है।

व्रतमुपैष्यन्नन्तरेणाहवनीय च गार्हपत्य च प्राड् तिष्ठन्नप उपस्पृशति। तद्यदप उपस्पृशति। अमेध्यो वै पुरुषो यदनृत वदति, तेन पूतिरन्तरत.। मेध्या वा आप.। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। पवित्र वा आप। पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति। तस्माद्वा अप उपस्पृशति।[37]

इतनी सरल प्रक्रिया और व्याख्या पर अनेक स्थानो पर विविध आचार्यों के मत इस दृष्टि से उपस्थित किये जाते है कि वह प्रक्रिया-विशेष किस प्रकार से की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ इसी उपर्युक्तप्र सग मे यह विवाद उठाया गया है कि प्रतिज्ञा करने से पहले यजमान को उपवास रखना चाहिए या नही यथा—'अब उपवास के विषय मे (विचार प्रारम्भ होता है।) इस विषय पर आपाढ सायवस्य का एक ओर यह मत है कि व्रत का अर्थ ही उपवास करना है। (उसके अनु-

सार) देवता मनुष्य के मन की बात जान लेते है, वे यह जानते है कि जब वह व्रत ग्रहण करता है तो उसका अभिप्राय अगले दिन प्रात उनके प्रति यज्ञ करने का है। इसलिए सब देवता उसके घर पहुँच जाते है और उसके घर में उसके समीप रहते हैं। इसीलिए इस दिन को उपवसत कहते हैं।

'अथातोऽशनानशनस्यैव। तदु हाषाढ़· सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने। मनो ह वै देवा मनुष्यस्याऽऽजानन्ति। त एनमेतद् व्रतमुपयन्तं विदु·—'प्रातर्नो यक्ष्यते' इति। तेऽस्य विश्वेदेवा गृहानागच्छन्ति, तेऽस्य गृहेपूपवसन्ति-स उपवसथ·।[38]

अब जबकि अपने घर में रहने वाले मानव अतिथियो के भोजन करने से पहले भोजन करना अनुचित होता है तो यह और भी अधिक अनुचित होगा यदि वह अपने साथ में निवास करने वाले देवताओं के भोजन करने से पूर्व भोजन कर ले।

'तन्वेवानवक्लृप्तमृ-यो मनुष्येष्वनशनत्सु पूर्वोऽश्नयात्, अथ किमु यो देवेष्वनशनत्सु पूर्वोऽश्नीयात्। तस्मादु नैवाश्नीयात्'।[39]

इसके विपरीत याजवल्क्य ने कहा 'यदि वह भोजन नही करता तो इस प्रकार वह पितरो के प्रति यज्ञ करने वाला हो जाएगा और यदि वह भोजन करता है तो वह देवताओ मे पहले भोजन करने के (अनौचित्य वाले भाग्य वाला होगा) इसलिए उसे ऐसी वस्तु का भोजन करना चाहिए जो भुक्त होने पर भी अभुक्त जैसी मानी जाए।' जिस वस्तु की हवि नही दी जाती यदि उसका भोजन कर लिया जाये तो वह भोजन भुक्त न किये जाने के समान ही है। इसलिए यदि वह भोजन कर लेता है तो वह पितरो के प्रति यज्ञ करने वाला नहीं बनता और ऐसी वस्तु का भोजन करने के कारण जिसकी हवि नही दी गई वह देवताओं के भोजन करने से पूर्व भोजन करने वाला नहीं होता।

'तदुहोवच याजवल्क्यः यदि नाश्नाति-पितृदेवत्यो भवति, यद्यु अश्नाति-देवानत्यश्नाति, इति। स यदेवाशितमनशितं तदश्नीयाद् इति। यस्य वै हविर्न गृह्णन्ति तदशितम्-अनशितम्। स यदश्नाति तेनापितृदेवत्यो भवति! यद्यु तदश्नाति-यस्य हविर्नगृह्णन्ति तेनो देवान् नात्यश्नाति।'[40]

इसलिए उसे केवल वह वस्तु खानी चाहिए जो जङ्गल मे उगती हो चाहे वह अरण्य वनस्पति हो अथवा वृक्षो के फल।

ब्राह्मणो मे वर्णित विपयवस्तु का एक रूप यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक शब्दो की व्युत्पत्ति देना भी है। ये व्युत्पत्तियाँ यदि स्पष्ट न हो अथवा पूर्णत· शुद्ध न हों तो इसे विशेष महत्त्व का माना जाता है क्योंकि ब्राह्मणो मे यह कहा गया है 'परोक्ष प्रिया हि देवा· प्रत्यक्ष-द्विप·।' ऐसी व्युत्पत्तियो का एक उदाहरण हम 'इन्द्र' शब्द की व्युत्पत्ति मे देख सकते है। 'इन्द्र'[41] शब्द की व्युत्पत्ति 'इन्ध' (दीप्त होना) से मानी गयी है। इसलिए इन्द्र का वास्तविक नाम 'इन्ध' होना चाहिए किन्तु उसे 'इन्द्र' कहा जाता है क्योंकि देवताओ को परोक्ष वस्तु

प्रिय होती है। इसी प्रकार का उदाहरण 'उलू- खल'[42] शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति 'उरुकर' से मानी गई है जिसका अभिप्राय विशाल करना, फैलाना होता है।

व्युत्पत्तियो की तरह ब्राह्मणो की विषयवस्तु मे तादात्म्यता और प्रतीकात्मकता का भी बहुत अश है। ऐसे वर्णनो मे ब्राह्मण यजुर्वेद से भी बढ़कर है। तादात्म्यता की प्रक्रिया को तो इस सीमा तक आगे बढाया गया है कि अत्यन्त असादृश्यपूर्ण वस्तुओ को एक साथ मिलाकर उन्हे एक दूसरे से सम्बद्ध बताया जाता है। उदाहरणार्थ—शतपथ ब्राह्मण का यह प्रसंग द्रष्टव्य है 'अब वह दर्भग्रास को अग्नियो के चारो ओर फैलाता है और दो-दो यज्ञ पात्रो को एक बार मे लाता है—यथा सूप (छाज) और स्रु वा को, लकड़ी की तलवार और कपालो को, कीलक और मृगचर्म को, ऊखल और मूसल को, तथा बड़े और छोटे प्रस्तरो को। इनकी सख्या दस है क्योकि विराज् छन्द की पक्ति दस वर्णो की होती है और यज्ञ भी चमकीला, प्रकाशमान (विराज्) होता है। इसलिए वह यज्ञ को विराज् के समान बना लेता है। दो-दो के युगल मे (यज्ञपात्रो) को एक स्थान पर लाने का कारण यह है कि युगल का अर्थ है 'शक्ति' जब कोई दो व्यक्ति कुछ कार्य करना प्रारम्भ करते है तो उनमे शक्ति होती है।

'अथ तृणै. परिस्तृणाति। द्वन्द्व पात्राण्युदाहरति—शूर्प चाग्निहोत्रहवणी च। स्फ्य च कपालानि च। शम्या च कृष्णाजिन च। उलूखल-मुसले। दृपदुपले। तद्दश। दशाक्षरा वै विराट्। विराट् वै यज्ञ.। तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभि सपादयति। अथ यद् द्वन्द्वम्। द्वन्द्वं वै वीर्यम्।'[43]

यजमान यज्ञ है 'यज्ञो वै यजमान'। यज्ञ को यजमान इस कारण से कहा गया है कि मनुष्य ही उसका विस्तार करता है और फैलाये जाने पर यह यज्ञ मनुष्य के सर्वथा बराबर विस्तार वाला हो जाता है। यही कारण है कि यज्ञ मनुष्य है।

ब्राह्मणो मे अनेक स्थलो पर यज्ञ का विष्णु के साथ तादात्म्य बताया गया है और इतने ही विस्तार मे प्रजापति के साथ भी उसका तादात्म्य बताया गया है— 'यज्ञो वै विष्णु', 'यज्ञो वै प्रजापति'। इसके साथ ही संवत्सर का तादात्म्य भी अनेक स्थानो पर प्रजापति के साथ वर्णित है। इसके विपरीत अग्नि का सवत्सर के साथ तादात्म्य बताया गया है क्योकि यज्ञवेदि के निर्माण मे एक वर्ष लगता है। इस प्रकार हमे ब्राह्मणो मे यह वर्णन मिलता है—'अग्नि ही सवत्सर है और यह सवत्सर यह लोक है—

'सवत्सर एपोऽग्नि, इम उ लोका. संवत्सर'।[44]

इसके तुरत ही बाद ऐसा वाक्य मिलता है—

अग्नि प्रजापति है और प्रजापति ही संवत्सर है—

'प्रजापतिरेपोऽग्नि। संवत्सर उ प्रजापति'।'[45]

अथवा प्रजापति ही निश्चय से यज्ञ और संवत्सर है, दर्श की रात्रि इसका द्वार

है और चन्द्रमा इस द्वार की कुण्डी है—

'संवत्सरो वै यज्ञ प्रजापति.। तस्यैतद्द्वारम् । यदमावस्या । चन्द्रमा एव द्वार-पिधानः।'[46]

सख्याओं को प्रतीक बनाकर इस विषय को बहुत फैलाया गया है। उदाहरणार्थ—चार मन्त्रो को वोलकर वह कुछ यज्ञ की राख उठाता है इस प्रकार वह अग्नि को चतुष्पाद पशु समर्पित करता है और पशुओ के भोजन होने के कारण वह उस अग्नि को अन्न समर्पित करता है। वह तीन मन्त्रो के साथ फिर कुछ राख उठाता है। वह तीन मन्त्रों के साथ यज्ञ की राख को जल तक लाता है, इस प्रकार यह संख्या सात हो जाती है, क्योकि यज्ञ की वेदि मे सात तह होती हैं, वर्ष मे सात ऋतुएँ होती है और संवत्सर अग्नि है, इसलिए जितना महान् अग्नि है जितना उसका आयाम है यह सव उतना ही विस्तार वाला हो जाता है—

'चतुर्भिरपादत्ते। तद् ये चतुष्पादाः पशवः। तैरेवैनमेतत्सम्भरति। अथोऽअन्नं वै पशव.। अन्नेनैवैनमेतत् सम्भरति। त्रिभिरभ्यवहरति। तत् सप्त। सप्तचितिकोऽग्नि। सप्तऽर्तवः सम्वत्सर। सम्वत्सरोऽग्नि। यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद्भवति।[47]

अर्थवाद

विधि से सम्बद्ध ये और ऐसे विषय ब्राह्मणों में भरे पड़े हैं। अब हम विधि के पश्चात् ब्राह्मणो के दूसरे महत्त्वपूर्ण विषय अर्थवाद पर विचार करते हैं। अर्थवाद भी मीमासको के अनुसार तीन प्रकार का माना गया है—(1) गुणवाद, (2) अनुवाद और (3) भूतार्थवाद। 'गुणवाद' से अभिप्राय इस प्रकार के विधान से है जहाँ प्रतिदिन उपलब्ध तथ्य से विपरीत या विरुद्ध पक्ष ग्रहण किया जाये। 'अनुवाद' से अभिप्राय ऐसे विधान से है जिसका ज्ञान दूसरे स्रोतो से भी उपलब्ध हो और 'भूतार्थवाद' से अभिप्राय किसी अज्ञात और अविरुद्ध तथ्य का आधिकारिक रूप से विधान करना है।

अर्थवाद के एक भाग का सम्वन्ध इतिहास, आख्यान और पुराणों से है। इनका वर्णन यज्ञ की किसी प्रक्रिया को समझाने के लिए या उनका महत्त्व वताने के लिए किया गया है। ब्राह्मणो मे वर्णित शुष्क कर्मकाण्ड की नीरसता से छुटकारा इन वर्णनो मे मिलता है। यहाँ कविता रूपी पुष्प, अकाव्यात्मक भाषा मे वर्णित आख्यान तथा सृजन-सम्वन्धी विचारपूर्ण कथाएँ मनोविनोद का साधन उपस्थित करती हैं। ऋग्वेद से ज्ञात पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान शतपथ ब्राह्मण मे अत्यन्त भावुकतापूर्ण शब्दो मे वर्णित है। इसमे ऋग्वेद के मन्त्रो का उद्धरण भी दिया गया है और कथा के सूत्र को जोडकर किस प्रकार मनुष्य एक विशेष यज्ञाग्नि की सहायता से गन्धर्वत्व को प्राप्त कर सकता है यह दर्शाया है।

श्वमेव प्रथम काण्ड के आठवे अध्याय मे 'जल-प्लावन' की कथा वर्णित की गई है। कथा के अन्त मे उसका सम्बन्ध यज्ञ के साथ भी दिखाया गया है। यह वर्णित है कि मनु ने सन्तति के विकास के लिए एक यज्ञ भी किया जिससे एक स्त्री का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार मानव जाति का श्रीगणेश प्रारम्भ हुआ। यज्ञसमुद्-भूत मनु की सुपुत्री का नाम इडा है और इस कथा का समावेश यहाँ यज्ञ में दी जाने वाले इडा नामक एक भेट का महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए किया गया है।'[8]

ब्राह्मणो मे मिलने वाले ये आख्यान और कथाएँ हमारे लिए इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इनमे प्राचीन कथा-गद्य का उदाहरण हमे मिलता है। ऐसा ही एक आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण मे हमे मिलता है जो गद्य और गाथा के मिश्रित रूप मे लिखा गया है। इस आख्यान के रूप मे मिलने वाली गाथा या पद्य भारतीय राष्ट्रीय महाकाव्यो के पद्यात्मक रूप के समकक्ष है। यह आख्यान 'शुन शेप'[49] आख्यान के नाम से प्रसिद्ध है। इस आख्यान का महत्त्व याज्ञिक कर्मकाण्ड की दृष्टि मे और अधिक महत्त्व का है। पाश्चात्य आलोचको की दृष्टि मे इसमे उस प्रागैतिहासिक पुरुषमेध यज्ञ का सकेत मिलता है जब राजसूय के समय नरबलि दी जाती रही होगी। यद्यपि न तो इस प्रकरण मे और न ही अन्यत्र कही किसी और ब्राह्मण मे इस नरबलि का सकेत विद्यमान है। आख्यान मे विभिन्न देवताओ की स्तुति के परिणामस्वरूप शुन शेप वरुण के पाश से मुक्ति प्राप्त करता है। स्वयं वरुण द्वारा शुन.शेप को जीवित रूप मे स्वीकार कर लेने के कारण ब्राह्मणो ने उसे अपने मे से एक बना लिया और विश्वामित्र ने उसे अपने सौ पुत्रो से अधिक मानकर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

इस आख्यान की समाप्ति इस रूप मे हुई है 'यह शुन. शेप का आख्यान है जिसमे सौ से अधिक ऋग्वेद के मन्त्र और गाथाएँ है। इस आख्यान को राजसूय यज्ञ मे राजा के अभिषिक्त होने के बाद होता उसे सुनाता है। 'सोने के सिहासन पर बैठकर वह यह आख्यान कहता है। सोने के सिंहासन पर बैठे हुए ही वह उत्तर देता है। स्वर्ण वास्तव मे कीर्ति का प्रतीक है—इसके द्वारा वह कीर्ति को बढाता है। ऋग्वेद के मन्त्र का प्रत्युत्तर 'ओम्' है और गाथा का 'हाँ' है। क्योकि 'ओऽम्' का देवताओ से सम्बन्ध है और 'हाँ' का मनुष्यो से। इस प्रकार वह अपने को देवता और मनुष्य दोनो के सम्बन्ध द्वारा अपने को दुर्भाग्य और पाप से मुक्त कर लेता है। इसलिए जो राजा विजयी होना चाहता है चाहे वह राजसूय यज्ञ न भी कर रहा हो शुन. शेप के आख्यान को (अपने लिए) सुनवाये जाने का प्रवन्ध करे। तव उसे स्वल्प-सा भी पाप का ससर्ग नही रहता। राजा आख्यान सुनाने वाले को एक हजार गौएँ दे और उस अध्वर्यु को जो ऋचा और गाथा का प्रत्युत्तर देता है सौ गौएँ दे और उन दोनो को वह सोने के सिंहासन दे

जिस पर वे बैठे थे। इसके अतिरिक्त होता का हक एक रजत से अलकृत अश्व-युक्त रथ पर भी होता है। जो पुत्र प्राप्त करना चाहते हैं वे भी इस आख्यान को सुनाये जाने का उपाय करें। उन्हे निश्चय ही पुत्र की प्राप्ति होगी'।

शुन: शेप का यह आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण के सम्पादकों और सकलनकर्ताओं के लिए यदि प्राचीन आख्यान था और इसका राजा के राज्याभिषेक के समय सुनाया जाना यज्ञविधि का एक अङ्ग था तो अपने आप में यह कितना प्राचीन रहा होगा? शुन:शेप के इस आख्यान के विषय मे यह बताना आवश्यक है कि ऋग्वेद की ऋचाओं के द्रष्टा जिस शुन·शेप का वर्णन है वह सम्भवत: इसी नाम का कोई ऋषि रहा होगा।[50] ऋग्वेद 1 24.12, 13[51] में यह प्रसंग वर्णित हुआ है कि बंधे हुए शुन शेप ने जिसका आह्वान किया वह राजा वरुण हमें बन्धनमुक्त कर दे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के ऋषि के सामने भी शुन.शेप का आख्यान किसी न किसी रूप मे अवश्य विद्यमान था। इसके साथ-साथ यह भी सम्भावना हो सकती है कि इस आख्यान मे वर्णित ऋषि शुन.शेप द्वारा कुछ ऋचाओ की रचना की गई हो जिन्हें ऋग्वेद के संकलन के समय उसमे सम्मिलित कर लिया गया हो। तथापि यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि ऐतरेय ब्राह्मण मे वर्णित शुन.शेप का यह आख्यान अत्यन्त प्राचीन है।

दुर्भाग्य से ब्राह्मणों में ऐसे बहुत कम आख्यान मिलते है जो शुन.शेप के इस आख्यान के सदृश इतने विस्तार में उपलब्ध हों। ब्राह्मणों मे मिलने वाले अधिक-तर आख्यान यज्ञप्रक्रिया के किसी अश को स्पष्ट करने के लिए लिखे गये थे और उनमें से किसी प्राचीन आख्यान के केन्द्र को ढूँढ़ पाना कठिन है। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य नही है कि ब्राह्मणों के सारे आख्यान प्राचीन कथाओ और आख्यानों से ही लिये गये है। इन कथाओं मे बहुत कुछ ऐसी कथाएँ भी है जिनका अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। ये कथाएँ प्रतीकात्मक है और विशेष उद्देश्य को ध्यान मे रखकर लिखी गयी हैं। उदाहरणार्थ प्रजापति के निमित्त से भेंट रूप मे दी जाने वाली आहुतियो के समय मन्त्रो का उच्चारण अत्यन्त धीमे स्वर मे किया जाता है। इसकी व्याख्या के रूप मे दी गई शतपथ ब्राह्मण की यह कथा दर्शनीय है।

मन और वाणी मे विवाद हुआ और दोनो अपनी श्रेष्ठता के विषय मे निर्णय लेने के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने अपना निर्णय मन के पक्ष मे दिया। इसलिए वाणी ने प्रजापति से कहा मैं कभी भी तुम्हारी आहुति लेने वाली नहीं बनूंगी।

'अथातो मनसश्चैव वाचश्चाहभद्र उदितम्। मनश्च ह वै वाक् चाहं भद्र ऊदाते। तद्ध मन उवाच—अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि, न वै मया त्वं किञ्चनाभिगतं वदसि सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि, अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति अथ ह वागुवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थ-अह तद्विज्ञयामि, अह संज्ञपयामीति। ते प्रजा-

पति प्रतिप्रश्नमेयतु । स प्रजापतिर्मनस एवानूवाच-मन एव त्वच्छ्रेय·, मनसो वै त्व कृतानुकरानुवर्त्मासि, श्रेयसो वै पापीयानु कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति । सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मये । तस्यै गर्भ पपात । सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच अहव्य-वाडेवाह तुभ्य भूयासम् । या मा परावोच इति । तस्माद् यत्किञ्च प्राजापत्य यज्ञे क्रियते, उपाश्वेव तत् क्रियते । अहव्यवाढ्ढि वाक् प्रजापतय आसीत् ।[52]

इसलिए जब कभी प्रजापति के निमित्त से यज्ञ किया जाता है तो नीची आवाज से किया जाता है। वाणी को माध्यम बनाकर और भी बहुत सी कथाये ब्राह्मणो मे मिलती है। ऐसी ही एक कथा [53] सोम की चोरी के साथ जुड़ी हुई है। स्वर्ग से सोम को लाते हुए पक्षी रूप गायत्री से गन्धर्वो ने उसे चुरा लिया और चुराये गये सोम को देवताओ ने स्त्री रूपी वाणी द्वारा पुन· प्राप्त किया।

ऋग्वेद और यजुर्वेद के पुरुष सूक्त मे चारो वर्णो की उत्पत्ति क्रमश पुरुष के मुख, बाहु, उरु और पैरो से बतायी गयी है। ब्राह्मणो मे यह कथा[54] कुछ परिवर्तित रूप मे मिलती है। ब्राह्मणो की कथा के अनुसार प्रजापति ने ब्राह्मण और अग्नि को अपने मुख से उत्पन्न किया, अपने वक्षस्थल और बाहुओ से क्षत्रिय और इन्द्र को पैदा किया, अपने शरीर के मध्य भाग से वैश्य और विश्वेदेवा को उत्पन्न किया और अपने चरणो से शूद्र को पैदा किया। क्योकि शूद्र के साथ किसी देवता को पैदा नही किया इसलिए वह यज्ञ करने का अधिकारी नही है। अपनी-अपनी उत्पत्ति के इसी क्रम के अनुसार ब्राह्मण अपना कार्य मुख से करता है, क्षत्रिय अपनी भुजाओ से और क्योकि वैश्य उदरस्थानीय है अत उसका कितना भी शोषण क्यो न किया जाये वह कभी क्षीण नही होता। वैश्य के क्षीण न होने का कारण यह है कि शरीर की धारक शक्ति शरीर के मध्य भाग मे निवास करती है। धार्मिक उत्सव मे शूद्र उच्च वर्ण वालो का चरण प्रक्षालन करता है।

ब्राह्मणो मे सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी कथाओ की सख्या बहुत है। इन कथाओ मे याज्ञिक क्रियाओ सम्बन्धी प्रसगो के साथ आध्यात्मिक विचारो को भी मिश्रित कर दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण के दूसरे काण्ड मे अग्निहोत्र की उत्पत्ति और महत्त्व के विषय मे एक कथा[55] आती है जिसका सक्षेप इस प्रकार है।

पहले एकमात्र एकाकी प्रजापति था। उसने सोचा मै किस प्रकार सन्तति प्राप्त करूँ। उसने श्रम किया और तपस्या की। उसके मुख से अग्नि उत्पन्न हुई और क्योकि प्रजापति ने अग्नि को मुख से उत्पन्न किया इसलिए अग्नि अन्न का भक्षण करने वाला है। अत निश्चय ही जो यह जानता है कि अग्नि अन्नाद (अन्न को खाने वाला) है वह भी अन्नाद हो जाता है। क्योकि देवताओ मे उसने सबसे पहले अग्नि को ही पैदा किया इसलिए उसे अग्नि कहते है वस्तुत उसका नाम 'अग्रि' था। फिर प्रजापति ने मन मे सोचा कि मैने अग्नि को अन्नाद के रूप मे उत्पन्न किया है और यहा मेरे अतिरिक्त कुछ भी भोजन नही है तो शायद वह मुझे ही खा

लेगा। उस समय यह पृथिवी सकल चराचरविहीन थी, उस समय न वनस्पतियाँ, न औषधियां और न वृक्ष थे। जब प्रजापति इस विषय मे चिन्तित थे तव अग्नि मुख खोलकर उनकी ओर मुड़ा क्योकि प्रजापति उस समय डरा हुआ था इसलिए उसकी अपनी महिमा उससे दूर चली गयी। प्रजापति की महिमा उसकी वाणी थी और इस प्रकार उसकी वाणी रूपी महिमा उससे दूर चली गई। पुन: प्रजापति ने अपने लिए एक यज्ञ की कामना की और अपने हाथों को रगड़कर उसने दूध या घी की आहुति प्राप्त की। उसमें से वनस्पतियाँ और वृक्ष उत्पन्न हुए। घी की दूसरी हवि के द्वारा सूर्य और वायु उत्पन्न हुए। इस प्रकार प्रजापति ने यज्ञ की आहुति देकर एक ओर अपनी सन्तति को भी वढ़ाया और दूसरी ओर अग्नि और मृत्यु से अपनी रक्षा की। जो इस रहस्य को जानते हुए अग्निहोत्र यज्ञ को करता है वह प्रजापति की तरह एक ओर तो अपनी सन्तति की वृद्धि करता है और दूसरी ओर अग्नि रूपी मृत्यु से अपनी रक्षा करता है, जब वह उसे नष्ट करना चाहती है। मृत्यु उपरान्त जव उसे चिता पर रखते है तो अग्नि केवल उसके शरीर को जलाती है और वह अग्नि द्वारा फिर उत्पन्न हो जाता है। कथा मे आगे चलकर यह भी कहा गया है कि जो अग्निहोत्र नही करता उसे कभी नव-जीवन नही मिलता।

सृष्टि उत्पत्ति सम्वन्धी ये सब कथाएँ प्रजापति के श्रम और तप से प्रारम्भ होती हैं और इस कार्य को समाप्त करने के वाद प्रजापति श्रान्त और निर्वल हो जाता है। अत. किसी नये यज्ञ का वर्णन किया जाता है जिसके द्वारा उसे शक्ति प्राप्त होती है। इन प्रसंगो मे एक वार तो देवताओ द्वारा यज्ञ किये जाने का वर्णन है। एक अन्य अवसर पर अग्नि इस यज्ञ को करके प्रजापति पर कृपा करता है और एक अन्य अवसर पर स्वयं प्रजापति स्तुतिगान और तपस् द्वारा यज्ञ-पशुओ को उत्पन्न करके और उन्ही की आहुति देकर अपनी शक्ति को प्राप्त करता है।[56] यहाँ एक ओर इस सृष्टिकर्ता प्रजापति की महिमा का वर्णन है जो ब्राह्मणो में सर्वोच्च देवता के रूप में वर्णित है वही अन्यत्र एक वार देवता लोग यज्ञ के रूप में उसकी हवि देते है।[57] ऐतरेय-ब्राह्मण[58] तथा शतपथ[59] में प्रजापति को उसके दुरा-चरण के लिए रुद्र द्वारा विद्ध किये जाने का वर्णन है। इस रुद्र की उत्पत्ति देवताओ ने अपने भयकर अंश से की थी। रुद्र के वाण द्वारा विद्ध होने पर मृगशीर्ष आदि नक्षत्रो का जन्म हुआ।

जैसा कि यूरोप मे या अन्यत्र दृष्टिगोचर होता है—ब्राह्मणो में भी सृष्टि-उत्पत्ति सम्वन्धी एक भी कथा ऐसी नही है जो सर्वमान्य रही हो। सृष्टि उत्पत्ति के प्रसंग मे अनेकानेक कथाओ का वर्णन है और इनमे से प्रत्येक मे नई-नई कल्पनाएँ और विविध विचार अनुस्यूत हैं—जिनमे किसी प्रकार का समन्वय नही किया जा सकता। अभी ऊपर वर्णित की गई शतपथ की कथा के पश्चात् एक विल्कुल नई

कथा दी गई है। इसमे भी प्रजापति ने श्रम और तप करके प्राणियो को उत्पन्न किया जिनमे सर्वप्रथम पक्षी, उसके बाद छोटे छोटे सरकने वाले जन्तु, तत्पश्चात् सर्प आदि उत्पन्न किये। उत्पन्न होने के साथ ही ये सब प्राणी अदृश्य हो गये और प्रजापति फिर एकाकी रह गया। उसने विचारपूर्वक इसका यह कारण जाना कि ये सब भोजन के अभाव मे नष्ट हो गए। इसलिए उसने नये प्राणियो को उत्पन्न किया और उनके स्तनो मे दूध भर दिया और इस प्रकार वे जीवित रहे —

'प्रजापतिर्ह् वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत-कथं नु प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत, स प्रजा असृजत। ता अस्य प्रजा सृष्टा पराबभूवु। तानीमानि वयांसि। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्। द्विपादा अयं पुरुष। तस्माद् द्विपादो वयासि। स ऐक्षत प्रजापति.——यथा न्वेव पुरैकोऽभूवम्——एवमु न्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति। स द्वितीया: ससृजे। ता अस्य परैव बभूवु। तदिद क्षुद्र सरीसृपम्-यदन्यत्सर्पेभ्य। तृतीया ससृज इत्याहु.। ता अस्य परैव बभूवु। त इमे सर्पा। एता ह न्वेवद्वयीर्याज्ञ-वल्क्य उवाच। त्रयीरु तु पुनर्ऋचा। सोऽर्चञ्छ्राम्यन्प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे-कथ नु मे प्रजा सृष्टा पराभवन्तीति। स हैतदेव ददर्श अनशनतया वै मे प्रजा पराभवन्तीति। स आत्मन एवाग्रे स्तनयो पय आप्याययाञ्चक्रे। स प्रजा असृजत। ता अस्य प्रजा सृष्टा स्तनावेवाभिपद्य, तास्तत. सम्बभूवु। ता इमा अपराभूता'।[60]

सृष्टि उत्पत्ति विषयक एक अन्य कथा इसी ब्राह्मण मे पुन आती है उसके अनुसार प्रजापति ने अपने शरीर के मुख्य अङ्गो से प्राणियो को उत्पन्न किया। अपने मन से उसने मनुष्य को बनाया, आँखो से घोडे को, अपने श्वास से गौ को, अपने कान से भेड़ को और अपनी वाणी से बकरी को बनाया। यत. मनुष्य की उत्पत्ति प्रजापति के मन से हुई है और मन सबसे प्रधान इन्द्रिय है इसलिए मनुष्य सब प्राणियो मे सबसे अधिक शक्तिशाली है।

प्रजापतिर्वाऽइदमग्रऽआसीदेक एव। सोऽकामयव अ अन्न सृजेय, प्रजायेयेति। स प्राणेभ्य एवाधि पशून्निरमिमीत, मनस. पुरुपम्, चक्षुषोऽश्वम्, प्राणाद्गाम्, श्रोत्राद-विम्, वाचोऽजम्। तद्यदेनान्प्राणेभ्योऽधि निरमिमीत——तस्मादाहु —प्राणा पशव इति। मनो वै प्राणाना प्रथमम्। तद्यन्मनस पुरुप निरमितीत-तस्मादाहु —पुरुप प्रथम पशूना वीर्यवत्तम इति। मनो वै सर्वे प्राणा। मनसि हि सर्वे प्राणा प्रति-ष्ठिता। तद्यन्मनस पुरुष निरमिमीत-तस्मादाहु —पुरुप सर्वे पशव इति। पुरुषस्य ह्येवैते सर्वे भवन्ति।'[1]

ब्राह्मणो की सृष्टि-उत्पत्ति-सम्बन्धी कथाओ मे अधिकतर प्रजापति सृष्टिकर्ता के रूप मे वर्णित किया गया है जिससे ससार और उसके प्राणियो की उत्पत्ति हुई है। इसके साथ-साथ ब्राह्मणो मे ऐसा वर्णन भी मिलता है जहाँ प्रजापति की उत्पत्ति किसी अन्य से बताई गई है और सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ या तो आदिकालीन जल से अथवा असत् से अथवा ब्रह्म से बताई गई है।[62] शतपथ 7 1 1 मे एक

और ही नवीन कल्पना की गई है। इसका प्रारम्भ 'असदेव वा इदमग्रआसीत्' से होता है। अगले ही वाक्य मे इस 'असत्' को ऋषि कहा गया है और इन ऋषियो ने तप और श्रम के द्वारा प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न किया। ये ऋषि प्राण थे और इन्होने पहले पुरुषो को उत्पन्न किया और पुन उन्हे मिलाकर एक पुरुष वनाया जो प्रजापति था। इस पुरुष प्रजापति ने कामना की कि मै वहुरूप हो जाऊँ और प्रजाओ को उत्पन्न करूँ। उसने तप और श्रम किया। उसने सर्वप्रथम ब्रह्म अर्थात् त्रयीविद्या को उत्पन्न किया। यह उसकी प्रतिष्ठा (आधार) थी। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म ही सवकी प्रतिष्ठा है। अत. जव कोई वेद को जान लेता है तो वह स्थिर होकर खडा रहता है क्योकि ब्रह्म अर्थात् वेद ही उसकी प्रतिष्ठा है।

इसके आगे पुन इस प्रकार वर्णन किया गया है कि किस प्रकार प्रजापति ने ब्रह्म पर प्रतिष्ठित रहकर श्रम किया और जल को उत्पन्न किया। वेद की सहायता से उसने एक अण्ड को उत्पन्न किया और अण्ड से अग्नि उत्पन्न हुआ और अण्डे का वह छिलका पृथिवी वनी। यह सारी ही परिकल्पना जटिल और दुरुह है। ब्रह्म का प्रारम्भिक अर्थ प्रार्थना या मन्त्रशक्ति था, तत्पश्चात् इसका अर्थ पवित्र ज्ञान या वेद हुआ। उस ब्रह्म को सम्पूर्ण सत्ता की प्रतिष्ठा वताया गया है। इस 'ब्रह्म' (वेद) से उपनिषद् मे वर्णित ब्रह्म के स्वरूप तक पहुँचने के लिए जिसके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सर्जक-सिद्धान्त है—केवल एक ही कदम आगे वढ़ाना है। शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवे काण्ड मे हम इस सिद्धान्त पर पहुँच जाते हैं जिसका प्रारम्भ इस प्रकार है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तद्देवानसृजत। तद्देवान् सृष्ट्वैषु लोकेषु व्यारोहत्। अस्मिन्नेव लोकेऽग्निम्, वायुमंतरिक्षे, दिव्येव सूर्यम्।[63] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणो मे भारत की दार्शनिक और धार्मिक विचारधारा का इतिहास किस प्रकार क्रमिक रूप मे वर्णित है। इसी तथ्य मे ब्राह्मणो की महत्ता निहित है। ब्राह्मणो की यह दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारधारा आरण्यको और उपनिषदो मे परिपूर्णता को प्राप्त हुई। शाण्डिल्य द्वारा प्रतिपादित उपनिषदो के मूल सिद्धान्तो का दर्शन हमे शतपथ ब्राह्मण मे ही हो जाता है।

महत्त्वपूर्ण ब्राह्मणो की विषयवस्तु पर दृष्टिपात करने के वाद यह उचित होगा कि स्वल्प सा विचार इनकी आपेक्षिक पूर्वापरता पर भी किया जाये। ब्राह्मणो की परस्पर पूर्वापरता का विषय अभी भी विवादास्पद है और शायद ऐसा ही रहेगा। विद्वानो ने भाषा-शैली, कर्मकाण्ड तथा ऐतिहासिक और भौगोलिक युक्तियो के आधार पर ब्राह्मणो के आपेक्षिक कालक्रम को निर्धारित करने का यत्न किया है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि उपर्युक्त आधारों पर किया जाने वाला कालक्रम सम्वन्धी विवेचन हमे परस्पर विरोधी परिणामो पर पहुँचाता है।[64]

बहुत से विद्वानों की सम्पति में भाषा के आधार पर जैमिनीयब्राह्मण की अपेक्षा पञ्चविंशब्राह्मण प्राचीनतर प्रतीत होता है। इसके विपरीत दोनो मे वर्णित कर्म-काण्ड सम्बन्धी तथ्यो पर विचार करे तो पञ्चविश की अपेक्षा जैमिनीयब्राह्मण प्राचीनतर प्रतीत होगा। वाकरनगल[65] ने इसी मापदण्ड को आधार बनाकर, पञ्चविश और तैत्तिरीय को ब्राह्मणो मे प्राचीनतम सिद्ध किया है और जैमिनीय, ऐतरेय तथा कौशीतकी को बहुत बाद का सिद्ध किया हे क्योकि इन पिछले तीन ब्राह्मणो पर हमे उदात्तादि स्वरचिह्नो का अकन नही मिलता। कीथ के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण की प्रथम पॉच पञ्चिकाएँ तैत्तिरीय ब्राह्मण के गद्यभाग से अधिक प्राचीन है। इस साहित्य के ग्रन्थो पर एक से अधिक सपादको और सकलनकर्ताओ का प्रभाव रहा है इसलिए उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर नही पहुँचा जा सकता; अधिक से अधिक इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कृष्णयजुर्वेद की सहिताओ का गद्य भाग तैत्तिरीय ब्राह्मण के गद्य भाग का समकालीन है। इसी के समकक्ष या इनकी अपेक्षा कुछ कम प्राचीन माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद सहिता से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण है।

पादटिप्पणी और सन्दर्भ

1. तुलनीय Oldenberg, in Zeitschrift der deutschen morgenlcidishen Gesellschaft, 54, p 189, Shende, N J: at comm. Vol, H D. Velankar, p. 133
2. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 24 1. 32 तथा आगे
3. Max Müller, chips from a German Workshop, Vol 1.
4. "aberrations of the human mind" (whitny, W.D. in American Journal of Philology 3, p 393); "Unpalatable" (Winternitz, HIL. I, p 187); "Most unattractive" (Willlam-Grabowska, at Rocznic Orientalistyczny 6, p. 170); "Sterile" (Dixit, V.V., Relations of the epics to the Brahmana Literature, p 46)
5. Gonda, HIL, p 342
6. भट्टभास्कर, तै० सं० 1 5.1
7. मैं० सं० 3. 12. 6
8. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3 89
9. ऋ० 2. 12 1; 7. 32. 22
10. ऐतरेय ब्राह्मण 21. 2; 21. 1
11. सामविधान 1. 4. 15

12. ऋ० 10. 63. 15
13 ऐ० ब्रा० 2 3
14 श० ब्रा० 11 3 1 1, 11 3. 1.4, 13 1 4 3
15 ऐतरेय ब्राह्मण सायण भाष्य सहित, दो भाग, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज 32, तृतीयवृत्ति 1937, दी ऐतरेय, मार्टिन हॉग द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, दो भाग, दिल्ली 1976, ऋग्वेदिक ब्राह्मणाज, अनु० कीथ, मोतीलाल बनारसी दास, द्वितीय प्रकाशन, दिल्ली 1981, हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज 25.
16 शाङ्खायन ब्राह्मण, सम्पा०-शिवराज शास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, 1978
17 प्रो० होण्डा की सम्मति मे यह मानने का कोई कारण नही कि इसे एक व्यक्ति या एक काल की रचना न माना जाए। Gonda, HIL, p 344
18 Haug. M , A B. Vol 1, P 68,
Keith, A B , R.B , p 28
19 वही, पृ० 36 तथा आगे
20 सायण ने सामवेद के सात ब्राह्मणो का परिगणन किया है— (1) ताण्ड्य ब्राह्मण (प्रौढ़ अथवा पञ्चविंश ब्राह्मण) (2) षड्विंश ब्राह्मण (3) सामविधान (4) आर्षेय ब्राह्मण (5) देवताध्याय ब्राह्मण (6) उपनिषद्
21 पञ्चविंश ब्राह्मण, अनु०-डब्ल्यू कॅलेंड, श्री सद्गुरु पब्लिकेशन, इण्डिया, द्वितीय सं० 1982
22 षड्विंश ब्राह्मण सायण भाष्य सहित, सम्पा०—वी० आर० शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1967
23 षड्० ब्रा० 6. 10. 2
24 Gonda, HIL, p 347, F N. 34
25 तैत्तिरीय ब्राह्मण सायण भाष्य सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज,तीन भाग, तृतीय वृत्ति, 1979, तैत्तिरीय ब्राह्मण, भट्टभास्कर भाष्य सहित, सम्पा० — ए० महादेव शास्त्री, चार भाग, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली पुनः प्रकाशित, 1985
26 तै० ब्रा० 3 4
27. माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण का सर्वप्रथम प्रकाशन 1858 मे वेबर ने किया। लिपजिग, 1934 मे पुन प्रकाशित। ए चिन्नस्वामी शास्त्री द्वारा बनारस से 1937 और 1950 मे प्रकाशित। सत्यप्रकाश द्वारा 1967 मे न्यू दिल्ली से प्रकाशित, शतपथ ब्राह्मण सायण भाष्य सहित, सम्पा० हरिस्वामी और द्विवेदगङ्ग आदि, लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई 1940, एगलिंग, जूलियस द्वारा सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट के अन्तर्गत 1882-

1900 मे प्रकाशित; नया सस्करण दिल्ली 1963-66
काण्व शाखा का शतपथ-ब्राह्मण, सम्पा० कॅलेंड, लाहौर 1926-1939
28 श० ब्रा० 13 1-5
29 वही 13 6
30. वही 13 7
31 Shende, N J Soma ın the Brahmanas of Rıgveda, Journal of the Asıatıc Society Bombay 38, p 142
32 Keıth, A.B, R B p. 34, 54
33 तै० सं०
34 तेषा कुरुक्षेत्र यजमानमासीव्। तस्मादाहु कुरुक्षेत्र देवाना देवयजनमिति। तस्माद्यत्र कुत्र च कुरुक्षेत्रस्य निगच्छति। तदेव मन्यते इद देवयजनमिति। तद्धि देवाना देवयजनम् श० ब्रा० 14 1 1 2
35 मनु 2 17, 19, 21, 22
36 श० ब्रा० 3 6 3. 1
37 वही 1 1 1 1
38 वही 1 1 1. 7
39 वही 1 1 1 8
40 वही 1 1 1. 9
41 वही 6 1 1 2
42. वही 7. 5 1 22
43 वही 1 1 1 22
44 वही 8 2 1 17
45 वही 8 2 1 18
46 वही 11 1 1 1
47 वही 6 8 2 7
48 वही 1 8 1. 9-44
49 ऐ० ब्रा० 33. 1-6
50 ऋ० 1 24-30 के सूक्तो के ऋषि का नाम आजिगर्ति शुन शेपः स कृत्रिमो विश्वामित्रो देवरात. है।
51 शुन॒ शेपो॒ यमह्व॑द् गृभी॒त सो॒अस्मान् राजा॒ वरु॑णो मुमोक्तु।
शुन॒ शेपो॒ ह्यह्व॑द् गृभी॒तस् त्रि॒ष्वा॑दि॒त्य द्रु॒पदे॑षु॒ बद्ध।
अवै॑न॒ राजा॒ वरु॑ण॑ ससृज्याद् वि॒द्वा अद॑ब्धो॒ वि मु॑मोक्तु॒ पाशा॑न्॥
52 श० ब्रा० 1 4 5 8-12
53 वही 3 2 4 3, 3 2 1 18

54. ताण्ड्य ब्राह्मण 6. 1. 6-11
55. श० ब्रा० 2. 2. 4
56. वही 4. 6. 4. 1; 7. 4. 1. 16
57. वही 10. 2. 2
58. ऐ० ब्रा० 13. 9
59. श० ब्रा० 1. 7 4. 1; 2. 1. 26
60. वही 2. 5. 1. 1-3
61. वही 7 5 2. 6
62. वही 11. 1. 6. 1-11
63. वही 11 2. 3. 1
64. Caland, Pancaviṁśa-Brahmana. p. XX; winternitz, M., HIL, p. 191
65. Wackernagel, J., Altindische Grammatik, PXXX. See also keith, R.B., p. 46

सप्तम अध्याय

आरण्यक और उपनिषद्

वैदिक साहित्य के पृथक्-पृथक् भागो को अपने विशिष्ट अध्ययन का विषय बनाने वाले पाश्चात्य विद्वानो मे से कुछ की यह सम्मति रही है कि सहिता काल के पश्चात् तत्त्वज्ञान विषयक उपनिषदो की रचना से पहले की शताब्दियो मे भारतीय आर्यो के ऋषि याज्ञिक कर्मकाण्ड की सूक्ष्मताओ की शुष्क और निरर्थक विवेचना करने मे ही रत थे। इस मत के प्रवर्तको मे मुख्य गार्बे है।[1] दूसरी ओर विन्टरनिट्ज आदि वे विद्वान है जो इस मत से सहमत नही है। न केवल वे इस मत से सहमत ही नही है अपितु इसे वे भ्रान्तिपूर्ण मानते है। उनकी दृष्टि मे यह मानना हास्यास्पद होगा कि प्रतिभाशाली भारतीय आर्य, जिनकी प्रतिभा का प्रमाण हमे ऋग्वेद के सूक्तो मे उपलब्ध होता है, ऋग्वेद की रचना और सकलन के समय से लेकर आगे आने वाली कई शताब्दियो तक एकमात्र यज्ञ के विधि-विधानो की निरर्थक व्याख्याओ और विवेचनाओ मे ही लगे रहे। केवल पुरोहित वर्ग के लिए भी ऐसी कल्पना करना उचित नही। उनके अतिरिक्त उस जाति के अन्य वर्ग-क्षत्रिय, वैश्य आदि भी निष्क्रमण्य बने रहे होगे ऐसा सोचना भी तर्कसगत नही कहा जा सकता। ब्राह्मण ग्रन्थो की विषयवस्तु पर दृष्टिपात करते हुए हमने देखा था कि ब्राह्मणो मे याज्ञिक कर्मकाण्ड की व्याख्या के अतिरिक्त इतिहास, पुराण, गाथाएँ और नाराशसी पर भी विस्तृत विवेचन हुआ है। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि राष्ट्रीय वीर-गाथा-काव्यो का मूल, ब्राह्मणो मे खोजा जा सकता है। बडे-बडे श्रौतयज्ञ—जिनका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थो मे भरा पडा है—क्रियाशील उद्यमी और सम्पन्न लोगो द्वारा ही सम्पन्न किये जा सकते थे। ऐसी कल्पना करना भी अयुक्तियुक्त होगा कि इन महान् यज्ञो को करवाने वाले पुरोहितो के यजमान लोगो—क्षत्रिय और वैश्य, किसान, पशुपालक, शिल्पी और श्रमजीवी—के मस्तिष्क खोखले और कल्पना विहीन थे तथा वे किसी प्रकार की कविता या विचाराभिव्यक्ति करने मे असमर्थ थे। ऋग्वेद के दसवे मण्डल मे वर्णित जुआरी और धनान्नदान की महिमा का वर्णन करने वाले आङ्गिरस भिक्षु की कविता किसी पुरोहित की रचना से कम सशक्त नही है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थो की विषयवस्तु मे जिन बातो का उल्लेख है उससे पता चलता है कि उनकी रचना से पूर्व व्याकरण, शिक्षाशास्त्र (उच्चारण विद्या), ज्योतिष आदि विषयो का अध्ययन

नियमित होता रहा था। आगे चलकर यही विपय वेदाङ्गो के रूप मे और विकसित हुए। इसी प्रकार दार्शनिक विचारधारा का उद्‌गम ब्राह्मण काल के पश्चात् का न होकर उससे पहले का है। हम ऋग्वेद' मे देख चुके है कि किस प्रकार उसके कुछ सूक्तो में लोकप्रिय देवताओ की सत्ता के विपय मे ब्राह्मणो और पुरोहितो मे भी संशय और अवज्ञा का भाव पैदा हो चुका था। ये संशयालु लोग और विचारक जन, जो प्राचीन भारत के प्रथम दार्शनिक थे, मुख्य धारा से कटे हुए लोग नही थे। उन्होने अपने-अपने विचार फैलाने के लिए पृथक्-पृथक् सम्प्रदायो को गठित किया था और आगे चलकर उनके विचार परस्पर मिश्रित होकर एक नया रूप ले रहे थे। इसकी सूचना हमे अथर्ववेद के सूक्तों से और यत्र-तत्र बिखरे हुए यजुर्वेद के मन्त्रो से मिलती है। यह एक दूसरी बात है कि इन चिन्तको के विचार ज्ञान की उस पूर्णता को नही पहुँचे थे जिसका दर्शन हमे उपनिपदो मे जाकर होता है।

भारत के प्राचीन दार्शनिको की अधिक सख्या केवल पुरोहितो मे से न होकर समाज के अन्य वर्गो मे से भी थी। यह मानना इसलिए उचित प्रतीत होता है कि इस काल की दार्शनिक विचारधारा बहुदेववाद के सिद्धान्त के विरुद्ध थी। हम निश्चित रूप से यह जानते है कि पुरोहितो के याज्ञिक कर्मकाण्ड का आधार बहुदेव-वाद का सिद्धान्त था। यह कल्पना करना औचित्य की सीमा का अतिक्रमण होगा कि उन पुरोहितो मे, जिनकी जीविका का आधार यज्ञविद्या थी, ऐसी प्रखर कल्पना वाले विरोधी लोग भी थे जो इन्द्र मे, जिसको केन्द्र बनाकर याज्ञिक कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ था, विश्वास न रखते हो[1]। यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि ऐसे विचारक उन वर्गो मे से जो पुरोहितो को बहुत अप्रिय लगते थे। ऋग्वेद का 'अराति' (दान न देने वाला, कृपण) शब्द इन लोगो के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

उपनिपदो मे मिलने वाले बहुत से सन्दर्भो से यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभर कर आता है कि क्षत्रिय लोग भी प्राचीन काल के बौद्धिक और साहित्यिक क्रियाकलाप में पर्याप्त हिस्सा लेते थे। यही तक नही शाङ्खायन ब्राह्मण मे हमे राजा प्रतर्दन ब्राह्मणो के साथ यज्ञविद्या पर वार्तालाप करता हुआ मिलता है—

अथ ह स्माऽऽह दैवोदासि. प्रतर्दनो नैमिषीयाणा सत्रमुपगम्योपासद्य विचि-कित्सा पप्रच्छ, यद्यतिक्रान्तमुल्वण सदस्यो बोधयेत, ऋत्विजा वाऽन्यतमो बुध्येत कथ वोऽनुल्वण स्यात् ? इति त उ ह तूष्णीमासु.।[5]

शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवे काण्ड मे विदेह के राजा जनक का नाम वार-बार आता है जिसने अपने ज्ञान द्वारा बहुत से पुरोहितो की बोली बन्द कर दी थी। ऐसे ही एक प्रसग मे राजा जनक ने श्वेतकेतु, सोमशुष्म और याज्ञवल्क्य आदि पुरोहितो से यह प्रश्न पूछा था कि वे अपना अग्निहोत्र किस प्रकार करते है।

'जनको ह वैदेहो ब्राह्मणैर्धावयद्भिः समाजगाम श्वेतकेतुनाऽऽरूणेयेन, सोम-शुष्मेण सात्ययज्ञिना, याज्ञवल्क्येन, तान्होवाच कथं कथमग्निहोत्र जुहुथेति।'[6]

तीनों पुरोहितो मे से कोई भी इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नही दे पाया फिर भी राजा जनक ने याज्ञवल्क्य को सौ गौएँ भेट मे दी क्योकि उसने और लोगों की अपेक्षा यज्ञ के भाव को समझने मे अधिक गहराई से विचार किया था। यह उपहार देने से पूर्व राजा जनक ने याज्ञवल्क्य को यह स्पष्ट बताया था कि उसे भी अग्निहोत्र का वास्तविक अभिप्राय ज्ञात नही हैं।

'त्व नेदिष्ठ याज्ञवल्क्याग्निहोत्रस्यामीमासिष्ठा धेनुशत ददामीति होवाच।'[7]

राजा के जाने के पश्चात् उन पुरोहितो ने परस्पर यह स्वीकार किया कि 'सचमुच ही इस क्षत्रिय ने अपनी वाणी से हमे निरुत्तर कर दिया। अच्छा तो हम ब्रह्मोद्य के लिए इसका आह्वान करेंगे।' याज्ञवल्क्य ने ऐसा करने से उन्हे मना किया और कहा--'हम ब्राह्मण हैं, वह केवल एक क्षत्रिय है, यदि हम इसे हरा भी देंगे तो हम लोगो से क्या कहेगे कि हमने किसे हराया? पर यदि उसने हमे हरा दिया तो लोग हमारे बारे मे कहेगे कि एक क्षत्रिय ने ब्राह्मणो को हरा दिया। इसलिए ब्रह्मोद्य मे आह्वान की बात मत सोचो।' स्वय याज्ञवल्क्य जनक के पास जाकर उससे शिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना करता है—

'ते होचु. अति वै नोऽय राजन्यबधुरवादीत्। हंत! एन ब्रह्मोद्यमाह्वयामहा इति। स होवाच याज्ञवल्क्य —ब्राह्मणा वै वयं स्म। राजन्यबधुरसौ। यद्यमु वय जयेम कमजैष्मेति ब्रूयाम्। अथ यद्यसावस्मान् जयेत्। ब्रह्मणान् राजन्यबन्धुरजैषीदिति नो ब्रूयु। मेदमादृढ्वामिति।'[8]

ऋग्वेद के सारे ऋषि भी ब्राह्मण या पुरोहित नही थे। ऐतरेय ब्राह्मण मे दी गयी ऋषि कवष ऐलूष की कथा से यह पता चलता है कि वह एक दासी का पुत्र था जिसे प्रथमत. पुरोहितो ने यज्ञ से बहिष्कृत कर दिया था और वह मरुस्थल मे भूख और प्यास से मरणासन्न था। अन्त मे उस पर 'सरस्वती' और 'आप.' प्रसन्न हुए और उनकी कृपा से उसने कुछ सूक्तो का दर्शन किया जिसे देखकर पुरोहितो ने उसे अपने वर्ग मे सम्मिलित कर लिया।

'ऋषयो वै सरस्वत्या सत्रमासत ते कवषमैलूष सोमादनयन् दास्या पुत्र. कितवोऽब्राह्मण कथ नो मध्येऽदीक्षिष्टेति। त बहिर्धन्वोदवहन्।'[9]

दासीपुत्र से ऋषि पद को प्राप्त कर लेने की कथा सत्यकाम जाबाल की भी है जो छान्दोग्योपनिषद्[10] मे वर्णित है। अध्यात्मज्ञान विवेचन मे भाग लेने वाली दो प्रसिद्ध स्त्रियो-मैत्रेयी और गार्गी के नाम बहदारण्यक उपनिषद्[11] मे मिलते है। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद[12] मे भी कई स्त्री ऋषिकाओ के नाम आते है। उपनिषदो मे अन्य राजाओ के नाम भी आते है जिनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण पुरोहित उनके समीप गये थे। श्वेतकेतु के पिता गौतम परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए राजा प्रवाहण[13] के पास गये थे। राजा प्रवाहण ने अनिच्छा होते हुए भी गौतम को पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उपदेश दिया। इसी प्रकार उद्दालक आरुणि ने

आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए आये हुए पाँच ऋषिओ को कैकेय देश के राजा अश्वपति[14] के पास इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए भेजा।

उपरिनिर्दिष्ट तथ्यो के आधार पर यह परिणाम स्पष्ट रूप से निकाला जा सकता है कि जिस समय पुरोहित वर्ग यज्ञविद्या विषयक कर्मकाण्ड के थोथे चिन्तन मे बाल की खाल उधेड़ने में लगा हुआ था उसी काल मे दूसरे वर्गों के कुछ लोग उन गहरे प्रश्नो का समाधान खोजने मे भी लगे हुए थे जिनका विशद वर्णन आगे जाकर उपनिषदो मे हुआ। ये लोग पुरोहित वर्ग से नही थे अपितु अरण्यवासी परिव्राजक सम्प्रदाय के थे जिन्होने न केवल संसार और उसमे उपलब्ध विषयो का परित्याग ही नही किया था अपितु अपने को पुरोहितों के यज्ञों और उत्सवो से भी दूर रखते थे। इन परिव्राजको के विभिन्न सम्प्रदाय आगे चलकर फैलते गये जो एक प्रकार से ब्राह्मण-धर्म की प्राचीन मान्यताओ के विरोधी थे। ऐसा ही एक सम्प्रदाय बौद्ध-धर्मावलम्बियो का तथा दूसरा जैन-धर्मावलम्बियो का हुआ जिनका विकास आगे चलकर कुछ शताब्दियों में अपनी चरम सीमा तक पहुँचा।

ऊपर किये गये विवेचन मे यह परिणाम भी नही निकाल लेना चाहिए कि प्राचीन भारत के दार्शनिक चिन्तन मे ब्राह्मणो का अथवा पुरोहित वर्ग का कोई भाग ही नहीं था। क्षत्रिय तथा उच्च वर्ग के सभी सदस्यो की शिक्षा ब्राह्मणो के ही परिवारों और सम्प्रदायों मे होती थी। इस प्रकार निश्चय ही ब्राह्मणो तथा अन्य शिक्षित वर्गों मे दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा पारलौकिक विषयो पर विचारो का आदान-प्रदान निरन्तर चलता रहा होगा। दूसरी ओर यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक ब्राह्मण न तो आवश्यक रूप से पुरोहित था और न ही यज्ञविद्या की क्रियात्मक कला मे प्रवीण था। धनी और निर्धन दोनो ही प्रकार के ब्राह्मण थे जो सामान्य सासारिक जीवन व्यतीत करते थे। इनमे से बहुत से ऐसे भी थे जिनकी सहानुभूति बहुदेववाद के सिद्धान्त मे सशय प्रकट करने वाले लोगो के साथ थी। स्वभावत उन्हें एकदेववाद का सिद्धान्त अधिक रुचिकर लगा होगा। अन्तत. भारतीय विचारधारा के इतिहास मे यह तथ्य अखण्डित रूप मे सदा प्रकट रहा है कि यज्ञविद्या के प्रवर्तक आचार्य अपने सिद्धान्त के विपक्षी मतो को भी आत्मसात् करने में उद्यत रहे थे। अरण्यवासी परिव्राजको, ब्रह्मविद्या की खोज मे लगे ज्ञानियो तथा याज्ञिक कर्मकाण्ड मे लगे पुरोहितो को एक-दूसरे का विरोधी न बनने देकर एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य करने वाले समाज का अंग बनाने के लिए आश्रमव्यवस्था का जन्म हुआ। इस प्रकार आरण्यको और उपनिषदो मे एक नई समन्वयवादी विचारधारा प्रवाहित हुई।

आरण्यक

ब्राह्मणो के परिशिष्ट के रूप मे उनके अन्त मे जुड़े हुए भाग को आरण्यक नाम

दिया गया है। आरण्यक शब्द का सरल अर्थ 'अरण्य सम्बन्धी' या अरण्य मे होने वाला होता है। तथापि इस शब्द के वास्तविक अर्थ के विषय मे विद्वानो मे कुछ अनिश्चितता-सी ही बनी हुई है। ऐतरेय ब्राह्मण की भूमिका मे सायण ने 'आरण्यक-रूपं ब्राह्मणम्'[15] का प्रयोग किया है। दूसरी ओर ऐतरेय आरण्यक की भूमिका मे 'आरण्यक' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है 'अरण्ये एव पाठ्यत्वात् आरण्यकमितीर्यते।'[16] इन दो पृथक् व्याख्याओ के कारण कुछ विद्वानो का यह मत है कि आरण्यक नाम ऐसे साहित्य के लिए प्रस्तुत किया गया है जो अरण्य मे रहने वाले तपस्वियो के लिए याज्ञिक कर्मकाण्ड के स्थान पर कुछ अन्य प्रकार की विषयवस्तु उपस्थित करने के लिए रचना गया था। इसके विपरीत, दूसरे विद्वानो का मत यह रहा कि 'आरण्यक' शब्द का प्रयोग उस सब साहित्य के लिए किया गया जिसकी विषयवस्तु ब्राह्मण ग्रन्थ जैसी ही थी परन्तु उनका पठन पाठन नगर और ग्राम मे दूर अरण्यवासियो द्वारा किया जाता था और इस साहित्य की रचना भी उन्ही अरण्यो मे वहाँ के निवासियो द्वारा की गई।

यद्यपि विषयवस्तु की दृष्टि से आरण्यको और ब्राह्मणो मे कोई भेद नही है अर्थात् जिन श्रौत यज्ञो पर ब्राह्मणो मे विवेचन हुआ है उन्ही यज्ञो पर आरण्यको मे भी विचार किया गया है। तथापि ब्राह्मणो और आरण्यको मे वास्तविक भेद उनकी विवेचना पद्धति मे है। ब्राह्मणो मे हम यह देख चुके है कि यज्ञ के स्थूल रूप पर प्रधानत विचार किया गया है अर्थात् किसी विशिष्ट यज्ञ की कोई विशेष क्रिया क्यो की जाती है और किस प्रकार की जाती है इस प्रकार का विवेचन हमे ब्राह्मणो मे अधिकांशत मिलता है। आरण्यको मे यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। इस प्रकार की व्याख्या के लिए अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, दर्शन और प्रतीकवाद का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। यह विषय इतना गूढ और सूक्ष्म समझा जाता था कि इस पर विचार अरण्य के एकान्त मे विशिष्ट रूप मे दीक्षित शिष्यादि के साथ ही किया जाता था। इस रहस्यात्मक और गूढ़ विषय को न तो प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता था और न ही इस पर विचार-विनिमय करने मे समर्थ होता था। इसलिए आरण्यको का अध्ययन अध्यापन और उन पर विचार-विमर्श ग्राम, नगर से दूर अरण्य के एकान्त मे किया जाता था। अत. उन ग्रन्थो को जिनमे ऐसे गूढ तथा रहस्यात्मक विषय का वर्णन था उन्हे आरण्यक नाम दिया गया। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि आरण्यको का वर्ण्यविषय यज्ञ की अन्योक्ति-परक, लाक्षणिक, अध्यात्मवादी, रहस्यवादी, दार्शनिक और प्रतीकवादी व्याख्या करना था।

जिस प्रकार आरण्यको की विषयवस्तु मे एकरूपता नही है उसी प्रकार उनकी संरचना मे भी एकरूपता नही है। आरण्यको का कुछ भाग सहिता जैसा, कुछ ब्राह्मण जैसा और कुछ सूत्र शैली मे है। यह स्थिति इस कारण उत्पन्न हुई

कि आरण्यकों की विषयवस्तु उस-उस आरण्यक से सम्बद्ध वैदिक संहिता तथा उस संहिता के संप्रदाय विशेष के ब्राह्मण के द्वारा उस आरण्यक तक पहुँची थी। भाषा और शैली की दृष्टि से यह ब्राह्मणों और उपनिषदों के बीच में एक संयोजक कड़ी के रूप में दिखायी देते हैं। यह स्वाभाविक था कि याज्ञिक-कर्मकाण्ड की भौतिक व्याख्या से आध्यात्मिक व्याख्या की ओर बढ़ते समय निर्मित होने वाले साहित्य में भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों का प्रभाव दृष्टिगोचर हो। इस तथ्य का अवलोकन तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक में वर्णित अग्निचयन की व्याख्या के प्रसंग में किया जा सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अग्निचयन के चार विशेष प्रकारों का वर्णन है। व्याख्या की ब्राह्मण शैली के अनुसार विषय के प्रारम्भ में मन्त्रों की लम्बी गणना, तत्पश्चात् विषय के साथ उनकी एकरूपता, व्याख्या प्रसंग में आने वाले शब्दों की व्युत्पत्तियाँ, प्रक्रिया विषयक विचार-विमर्श, ब्रह्मोद्य शैली के प्रश्न, आख्यान, विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करने के परिणाम-स्वरूप मिलने वाले फल तथा प्रतीकात्मक व्याख्या आदि सभी कुछ उस ब्राह्मण में दिया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में पाँचवे प्रकार के विशिष्ट आरुणकेतुक अग्नि-चयन का वर्णन है। वहाँ न केवल यह सब प्रक्रिया संक्षिप्त हो गयी है अपितु रहस्यात्मक और प्रतीकात्मक व्याख्या पर अधिक बल दिया गया है। आरण्यकोंमें ऋग्वेद और यजुर्वेद के आरण्यक ही वस्तुतः आरण्यक शैली के ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। ऋग्वेद के आरण्यकों में ऐतरेय आरण्यक [7] और शांखायन आरण्यक[13] प्रसिद्ध हैं।

ऐतरेय-आरण्यक ऐतरेय-ब्राह्मण से जुड़ा है। यह पाँच भागों में विभक्त है; प्रत्येक भाग को आरण्यक नाम दिया हुआ है। आरण्यकों का विभाजन अध्यायों में है और अध्यायों का खण्डों में। प्रथम आरण्यक में 5 अध्याय; द्वितीय में सात; तृतीय में 2 और पञ्चम में 3 अध्याय है। चतुर्थ आरण्यक में महानाम्नी ऋचाएँ दी हुई हैं। इनमें से पहले तीन आरण्यक मिलकर एक पृथक भाग बनाते हैं और पिछले दो आरण्यकों से स्पष्टतया पृथक् प्रतीत होते हैं। इनकी भाषा-शैली सरल है और ब्राह्मण जैसी है।

पहले आरण्यक में 'महाव्रत' की व्याख्या दी हुई है। आरण्यक में वर्णित इसकी विधि रहस्यात्मक और प्रतीकात्मक कल्पनाओं से परिपूर्ण है 'जो दीक्षित अनुयायियों को ही बतायी जा सकती थी और इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण में इस विषयक विचार नहीं है। ऋग्वेद के दोनों ही आरण्यकों —ऐतरेय और शांखयान-के रचियताओं ने एक वर्ष तक चलने वाले 'गवामयन' सत्र के अन्तिम से पहले दिन इस महाव्रत को सम्पन्न करने का विधान किया गया है। सोमयज्ञों में परिगणित होने के कारण इसकी दैनिक प्रक्रिया तीन भागों में विभक्त है। प्रातः मध्याह्न तथा सायं समय में सोम का अभिषवण किया जाता है तथा उसकी आहुति दी जाती है।

इस प्रक्रिया को करते समय उद्गाता और होता क्रमश. सामन् स्तोत्रों और शस्त्रो का पाठ करते है। शस्त्रपाठ का यह कार्य होता एक झूले पर बैठकर करता है और होता के द्वारा की जाने वाली यह क्रिया अत्यन्त पवित्र और सश्लिष्ट है। इसका महत्त्व सम्पूर्ण ऋग्वेद के समान बताया गया है।[19]

ऐतरेय आरण्यक का दूसरा आरण्यक विषयवस्तु के आधार पर स्पष्टतया दो भागो मे विभक्त है। प्रथम भाग मे—जिसमे तीन अध्याय है—माध्यन्दिन सवन के समय पढे जाने वाले शस्त्र के विषय मे कल्पना प्रसूत व्याख्याएँ हैं। यह शस्त्र प्राण की महिमा के विषय में है। आरण्यकों मे दी गई व्याख्या पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनो क्षेत्रो मे लागू होती है। इस द्वितीय आरण्यक का दूसरा भाग-चौथे से सातवा अध्याय तक—स्वरूप मे उपनिषद् जैसा है। ये पिछले चार अध्याय ही ऐतरेय उपनिषद् के नाम से जाने जाते हैं।

तीसरे आरण्यक मे ऋग्वेद संहिता के कुछ पदों की यथा—सहिता, पद, क्रम इत्यादि की—दीक्षितो के लिए उपयुक्त रहस्यात्मक व्याख्याएँ दी गयी है। इन अध्यायो की विषयवस्तु को 'सहिताया उपनिषद्' कहा गया है। पाँचवा आरण्यक एक प्रकार से प्रथम आरण्यक का सूत्ररूप मे परिशिष्ट है इसमे 'महाव्रत' के माध्यन्दिन सवन से सम्बद्ध 'निष्कैवल्य शस्त्र' का वर्णन किया गया है। 'महाव्रत' के विषय मे इस आरण्यक मे लिखा है : 'नादीक्षितो महाव्रतं शसेत् ।'[20] यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण के रचियता को ऐतरेय आरण्यको के प्रथम तीन आरण्यको का लेखक भी माना जाता है पर यह बात तर्कसगत नही हैं क्योकि दूसरे आरण्यक मे स्वयं इसे एक आचार्य के रूप मे उद्धृत किया गया है—'एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेय ।'[21]

ऋग्वेद से ही सम्बद्ध शाखायन आरण्यक की विषय-वस्तु ऐतरेय आरण्यक' से बहुत मिलती-जुलती है। इसमे 15 अध्याय है जिनमे से कुछ बहुत छोटे है। इसमे कौषीतकी के समान शाखायन को प्रमुख आचार्य के रूप मे उद्धृत नही किया गया है परन्तु इस आरण्यक के 15वे अध्याय मे यह वर्णित है—

'अथ वश ।ॐ। नमो ब्रह्मणे, नम आचार्येभ्य । गुणाख्याच्छांखायनादशमाभिर-धीतम् । गुणाख्य शाखायन कहोलात् कौषीतके· । कहोल. कौषीतकिरुद्दालका-दारुणे· ।'

निम्न चार विषय जो इस आरण्यक की विषयवस्तु के मुख्य भाग है इस सम्प्रदाय के गृह्यसूत्र मे भी इसी क्रम मे वर्णित है। प्रथम दो अध्यायो मे महाव्रत तीसरे से छठे अध्याय मे उपनिषद्, सातवे से आठवे मे संहिता और नवे अध्याय मे मन्थ है। पहले और दूसरे अध्याय के विषय मे यह बात ध्यानाकृष्ट करने वाली है कि इनमे शस्त्रो पर लेखक ने उतना विस्तृत विवेचन नही किया है जितना कि ऐतरेय आरण्यक के लेखन ने किया है। इसके विपरीत होता के दोलारूढ़ होने की प्रक्रिया पर लेखक ने विस्तृत व्याख्या की है।ऐतरेय आरण्यक की अपेक्षा इसमे

यह विषय अधिक स्पष्टता के साथ पर सार रूप में वर्णित है। तीसरे से छठे अध्याय में कौषीतकी उपनिषद् का माहात्म्य है। सातवें और आठवे अध्याय में कोण्ठरव्य और माण्डूकेय के मतों का प्रतिपादन है। नवे अध्याय मे उपनिषदों के एक समान विषय-इन्द्रियों की परस्पर स्पर्धा का विषय है। दसवे में प्राणाग्निहोत्र; ग्यारहवें में अन्य विषयों के साथ मृत्यु के अरिष्ट लक्षण; बारहवें में गण्डे-तावीज को धारण करने की प्रक्रिया; तेरहवें में आत्मा का माहात्म्य, चौदहवें मे वेदज्ञान की आवश्यकता और पन्द्रहवें में वंशपरम्परा(आचार्यपरम्परा)का वर्णन है। कौषीतकी ब्राह्मण से सम्बद्ध तथा उसी पर आधारित होने के कारण यह आरण्यक जहां एक ओर अधिक व्यवस्थित और विस्तृत है वहीं दूसरी ओर शैली की दृष्टि से ऐतरेय आरण्यक की तुलना में यह अधिक संघटित और अर्वाचीन है।

तैत्तिरीय आरण्यक[22] तैत्तिरीय संहिता का ही निरन्तर प्रवहमान रूप है। इसमें 10 प्रपाठक हैं जिनमें 7वें मे 9वां तैत्तिरीयोपनिषद् और 10वां महानारायणोपनिषद् के रूप में हैं। इनमें मे 10वां प्रपाठक पीछे मे जोड़ा गया है। पहले 6 प्रपाठकों में 12 से 42 तक के अनुवाक हैं। यह भाग उपनिषद् भाग की अपेक्षा पहले संगृहीत हुआ था। इनमें उन याज्ञिक प्रक्रियाओ और विधिविधानों पर विचार किया गया है जिनका इसी नाम के ब्राह्मण में विस्तृत वर्णन नहीं हुआ। प्रथम प्रपाठक में आरुणकेतुक अग्नि की स्थापना का वर्णन है। इसमें मुख्यत: उन मन्त्रों का संग्रह है जिनका प्रयोग वेदिनिर्माणार्थ इष्टिकाचयन के समय किया जाता था। इनके साथ ही इस अनुष्ठान की विशेषता और उसे जानने का महत्त्व भी वर्णित है। द्वितीय प्रपाठक में वेदाध्ययन की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। इसमें कर्मकाण्ड की अपेक्षा आचरण की शुद्धता, आचार्य, माता-पिता, विद्वत्समाज के प्रति व्यवहार की बातें अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में वर्णित हैं। तीसरे प्रपाठक में चातुर्होत्रचिति के समय प्रयुक्त मन्त्रों का वर्णन है। इसी प्रपाठक के 17वें से 21वें अनुवाक में अन्त्येष्टि संस्कार के मन्त्र हैं। चौथे और पांचवें प्रपाठक में प्रवर्ग्य के मन्त्र दिये गये हैं। छठे में पितृमेध की आहुतियों का वर्णन है। इस विधि में प्रयुक्त होने वाले मन्त्र अधिकांशत: ऋग्वेद से संगृहीत हैं।

परम्परा के अनुसार प्रथम दो प्रपाठकों के रचयिता कठ नामक ऋषि माने जाते है जो एक कठ आरण्यक[23] के भी लेखक थे। काठक सम्प्रदाय के इस विषयक अन्य ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं। तथापि ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार का कोई एक आरण्यक अवश्य रहा होगा।[24] कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध मैत्रायणी आरण्यक[25] का प्रकाशन हुआ है। वस्तुत: यह आरण्यक इसी नाम की उपनिषद् के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के संस्करण मे सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण के 14वें काण्ड को आरण्यक काण्ड नाम दिया जाता है। इसके चौथे से नौवें अध्याय

मे प्रवर्ग्य अनुष्ठान का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस वेद का अन्य कोई आरण्यक उपलब्ध नही है। सामवेद के आरण्यक काण्ड के विषय मे ऊपर लिखा[26] जा चुका है। छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम अध्याय की विषयवस्तु आरण्यक जैसी ही है। इसी श्रेणी मे जैमिनीय या तलवकार उपनिषद् ब्राह्मण भी आते है। इसी प्रकार अथर्ववेद से सम्वद्ध भी कोई आरण्यक उपलब्ध नही है।

ब्राह्मण धर्म मे आश्रम की व्यवस्था प्रतिष्ठित हो जाने के वाद वानप्रस्थियो और परिव्राजको के लिए इनका अध्ययन आवश्यक कर दिया गया। आरुणिक उपनिषद्[27] में यह कहा जाता है कि वानप्रस्थ को वेदो मे से केवल आरण्यक और उपनिषद् का ही अध्ययन करना चाहिए। इन आरण्यको का अन्तिम भाग ही उपनिषद् नाम से जाना जाता है जिन पर विस्तार से विचार अनुपद किया जायेगा। ब्राह्मण ग्रन्थो के इस अन्तिम भाग को सामान्यत. वेद का अन्तिम भाग कहा जा सकता है। यद्यपि आजकल वेदान्त से अभिप्राय 'एकेश्वरवादी उपनिषद्' से ही लिया जाता है परन्तु 'वेद का अन्तिम भाग' इस अर्थ मे आरण्यको का भी ग्रहण किया जा सकता है। ब्राह्मणो के ये अन्तिम भाग काल की दृष्टि से भी पीछे की रचनाए है और तिथिक्रम की दृष्टि से वैदिक काल के अन्त मे ही आते है।

दूसरी ओर हमे इस वात को भूल नही जाना चाहिए कि प्राचीन वैदिक साहित्य का सम्पूर्ण भाग लिखित पुस्तको के रूप मे नही था अपितु गुरुमुख द्वारा अपने शिष्य को सम्प्रेषित किया जाता था। इसलिए पृथक्-पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थो के वे भाग—जिन्हे हम काण्ड या अध्याय के नाम से जानते है—विभिन्न याज्ञिक सम्प्रदायो के आचार्यो द्वारा प्रवचन किये गये सिद्धान्तो के अतिरिक्त कुछ नही है। इन प्रवचनो मे सगृहीत सम्पूर्ण ज्ञान शिष्यो को एक निश्चित काल मे पढ़ाया जाता था जो कई वर्ष के समय मे पूरा होता था। इस काल मे शिष्य को गुरु के समीप रहकर उसकी सेवा करनी अनिवार्य थी। ऐसे ग्रन्थो का अध्ययन, जो समझने मे कठिन थे और जिनका विषय रहस्यवादी, प्रतीकात्मक और आध्यात्मिक सिद्धान्तो से परिपूर्ण था, स्वभावत इस काल के अन्तिम वर्षो मे अध्यापन का विषय वनता था। इसलिए यह भी वेदाध्ययन का अन्तिम भाग कहा जा सकता है।

उपनिषद्

यह ऊपर दिखाया जा चुका है कि वेद के अन्तिम भाग रूप आरण्यक के साथ उपनिषद् भी न केवल विभिन्न वैदिक सम्प्रदायो से सम्वद्ध है अपितु ब्राह्मणो के ही भाग है। इस दृष्टि से हम उपलब्ध प्राचीन उपनिषदो को किसी न किसी वैदिक सहिता के साथ सम्वद्ध रूप मे जानते है। यथा —ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यक मे सगृहीत है जो ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का ही भाग है। इसी प्रकार कौपीतकी

उपनिषद् अथवा कौषीतकी ब्राह्मण उपनिषद् कौषीतकी आरण्यक मे सम्मिलित है और ऋग्वेद के कौषीतकी ब्राह्मण का ही एक भाग है। कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीयोपनिषद् और महानारायणोपनिषद् तैत्तिरीय शाखा के तैत्तिरीय आरण्यक के भाग है जो तैत्तिरीय ब्राह्मण से सलग्न है। बृहदारण्यकोपनिषद् शुक्ल-यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवे काण्ड का अन्तिम भाग है। इस काण्ड का प्रथम एक तिहाई भाग आरण्यक रूप है। बृहदारण्यकोपनिषद् उपनिषदो मे विशाल-तम और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। छान्दोग्योपनिषद् जिसका पूर्व भाग आरण्यक रूप है सम्भवत सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण से सम्बद्ध है। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण सामवेद के जैमिनीय या तलवकार सम्प्रदाय के आरण्यक का तथा केनोपनिषद्, जिसे तलवकारोपनिषद भी कहते है, इसी के भाग है।

महानारायणोपनिषद् को छोडकर, जिसे आगे चलकर तैत्तिरीय आरण्यक के साथ जोड दिया गया था, उपरिलिखित सभी उपनिषदे इस उपनिषद् साहित्य की प्राचीनतम कृतिया है। भाषा और शैली में ये ब्राह्मणो से मिलती-जुलती है। इनकी भाषा सामान्यतया सरल परन्तु कही-कही इनका गद्य अपरिष्कृत रूप मे है। कथानक-प्रधान स्थलों मे भाषा का सौष्ठव चित्ताकर्षक है। केनोपनिषद् का आधा भाग छन्दोमय है और यह प्राचीन उपनिषदो मे अपेक्षाकृत नवीन है। प्रत्येक उपनिषद् मे कुछ भाग प्राचीन और कुछ भाग पीछे से जोड़ा गया है। अत ड्यूसन[28] की सम्मति मे इनमे से प्रत्येक भाग का कालनिर्धारण पृथक्-पृथक् रूप मे किया जाना चाहिए, तथापि इन उपनिषदो के अन्तिम भाग को भाषा के आधार पर प्रथम भाग से अत्यन्त विच्छिन्न करके नही देखा जा सकता। ऐसा माना जा सकता है कि बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसी बडी उपनिषदों की रचना बहुत से लम्बे और छोटे प्रसगो तथा कथानको को, जो शायद प्रारम्भ मे स्वतन्त्र उपनिषद् के रूप में रहे हो, एकत्र गूथकर की गई होगी। इस प्रकार इस समस्या का भी समा-धान निकल सकता है कि एक ही पाठ कई उपनिषदो मे दोहराया हुआ मिलता है। प्राचीन उपनिषदों के अपने-अपने पाठ का अधिक हिस्सा ब्राह्मणो और आरण्यको के काल से बहुत पीछे का नही हो सकता और यह समय बुद्ध और पाणिनि से निश्चय ही पहले का है। इसलिए उपरिलिखित छ उपनिषदे—ऐतरेय, बृहदा-रण्यक, तैत्तिरीय, कौषीतकी, केन और छान्दोग्य —निश्चय ही उपनिषद् साहित्य के विकास की प्राचीनतम अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है। इनमे वेदान्त के सिद्धान्त अपने विशुद्ध प्रारम्भिक रूप मे विद्यमान है।

कुछ अन्य उपनिषदे जिनका अधिकाश भाग पद्यमय है अपेक्षया पीछे के समय की है, फिर भी ये निश्चित रूप से बुद्ध से पूर्व के समय की ही है। कालक्रम की दृष्टि से अपेक्षया पश्चात्कालीन इन उपनिषदो का सम्बन्ध भी किसी न किसी वैदिक सम्प्रदाय के साथ जुड़ा हुआ है यद्यपि ये उपनिषदे किसी आरण्यक का अश

नही है। इस श्रेणी की उपनिपदो मे कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, महा-नारायणोपनिपद्, ईशोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् और प्रश्नोपनिषद् सम्मिलित है। इनमे से कठोपनिपद् या काठकउपनिषद् के नाम से ही सूचित होता है कि इसका सम्बन्ध कृष्ण-यजुर्वेद की इसी नाम वाली शाखा से है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोप-निपद् और महानारायणोपनिषद् भी जिसका सम्बन्ध हम तैत्तिरीय आरण्यक के साथ ऊपर दिखा चुके है, कृष्ण यजुर्वेद की है। ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि-माध्यन्दिन सहिता का ही 40वा अध्याय मात्र है। मुण्डकोपनिपद् और प्रश्नोपनिपद् का सम्बन्ध अथर्ववेद के साथ है। इनमे से मुण्डकोपनिषद् का आधा भाग गद्यमय है और आधा भाग पद्यमय है। यद्यपि इन छः उपनिपदो मे भी एकेश्वरवादी वेदान्त का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है तथापि इनमे भी हम वेदान्त के इस एकेश्वरवादी सिद्धान्त को बहुत अश नक साख्य और योग के एकेश्वरवादी विचारो के साथ मिश्रित रूप मे देखते है।

मैत्रायणीय उपनिषद्, जिसका सम्बन्ध इसके नाम के आधार पर कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी सहिता के साथ माना जाता है, एक पश्चात्कालीन रचना है और इसका समय बुद्ध से पीछे का माना जाता है। इसकी रचना प्राचीन उपनिषदो की तरह गद्यमय है परन्तु इस गद्य मे वैदिक भाषा का प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता। इस उपनिषद् की भाषा-शैली और विषय-वस्तु के आधार पर इसे हम लौकिक सस्कृत साहित्य की समकालिक मान सकते है। अथर्ववेद से सम्बन्ध रखने वाली माण्डूक्योपनिपद् सम्भवत इसी पिछले समय की रचना है। शकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य मे जहा एक ओर बारह उपनिपदो मे से उद्धरण दिये है वहा इन दोनो उपनिपदो मे से एक भी उद्धरण प्रस्तुत नही किया है। यद्यपि माण्डूक्यो-पनिषद् और मैत्रायणीयोपनिपद् प्राक्तन उपनिपद् काल की रचनाए है पुनरपि इन्हे हम बारह उपनिपदो के साथ गिनकर 'वैदिक-उपनिपद्' नाम के अन्तर्गत भान सकते है। प्राचीनतम भारतीय दर्शन का इतिहास लिखते हुए इन चौदह उपनिषदो को हम आदि स्रोत के रूप मे ले सकते है।

अवशिष्ट उपनिषदे—जिनकी संख्या दो सौ से अधिक है और जिन्हे परम्परा के अनुसार किसी-न-किसी वैदिक सम्प्रदाय के साथ सम्बद्ध माना जाता है—अधि-काशत बहुत पीछे की है। उनमे से कुछ का ही सम्बन्ध वैदिक सम्प्रदायो के साथ है। इनमे से अधिकाश उपनिपदे धार्मिक या दार्शनिक रचनाए है और इनमे बहुत पीछे के दार्शनिको और धार्मिक सम्प्रदायो के विचारो और सिद्धान्तो का सग्रह है। कालक्रम के पौर्वापर्य की दृष्टि से इनमे से अधिकाश का सम्बन्ध वेद की अपेक्षा पुराणो और तन्त्रो के साथ है। उद्देश्य और विपयवस्तु की दृष्टि से इस पश्चात्-कालीन उपनिपद् साहित्य को हम निम्न प्रकार से वर्गीकृत कर सकते है—

(1) साख्य वेदात उपनिपदे, जिनमे वेदान्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया

है—10 हैं, (2) योग उपनिषदें भी 10 हैं, (3) सन्यास-उपनिषदे, जिनमे सन्यासी जीवन की महिमा का वर्णन किया गया है 9 हैं, (4) विष्णु की महिमा का वर्णन करने वाली वैष्णव उपनिषदे 16 है, (5) शिव को अन्तिम सत्ता के रूप मे मानने वाली शैव उपनिषदे 14 है और (6) शाक्त उपनिषदे 18 है।

ये उपनिषदे कभी गद्य मे कभी श्लोको मे और कभी-कभी गद्य और पद्य के मिश्रित रूप मे लिखी गई है। इनमे से श्लोक मे लिखी हुई उपनिषदे पुराण और तन्त्रो की समकालिक है। गद्य मे लिखी गई कुछ उपनिषदे प्राचीन भी हो सकती है और इनका सम्बन्ध सम्भवत. वेदो के साथ दिखाया जा सकता है। ऐसी उपनिषदो मे जाबालोपनिषद्, सुबालोपनिषद्, गर्भोपनिषद् और परमहस उपनिषद् हैं। जाबालोपनिषद् को शकराचार्य ने प्रमाण के रूप मे उद्धृत किया है। सुबालोपनिषद् को रामानुज ने प्रमाण के रूप मे उद्धृत किया है और इसमें ब्रह्माण्ड विद्या', शरीर-क्रियाविज्ञान, मनोविज्ञान तथा अध्यात्मवाद का वर्णन है। गर्भोपनिषद् स्थूल रूप से गर्भविज्ञान पर लिखी हुई उपनिषद् प्रतीत होती है; परन्तु इसका उद्देश्य पुनर्जन्म के रूप मे अगले जीवन में गर्भ प्रवेश से बचने के लिए गर्भ की आकृति पर ध्यान केन्द्रित करना है। शैव उपनिषदों में अथर्वशिरसोपनिषद् का नाम धर्मसूत्रो मे मिलता है और उसे एक पवित्र उपनिषद् माना गया है। इसके पाठ से पाप धुल जाते हैं ऐसा वर्णन किया गया है। इन उपनिषदों का सम्यक् काल निर्णय एक समस्या है क्योंकि इनके एक से अधिक संस्करण उपलब्ध होते है।

वेद से असम्बद्ध उपनिषदे हमे बड़े-बड़े संग्रहो के रूप मे प्राप्त होती हैं पर ये प्राचीन नही है। दार्शनिक शंकराचार्य, जिनका काल 800 ई० के आसपास है, बहुत-सी उपनिषदो को उद्धृत करते हैं और वह इन्हे वेद का भाग समझते है। रामानुजाचार्य जिनका काल 1100 ई० के आसपास है कुछ उपनिषदो के नाम का उद्धरण 'छन्दोगा.', 'वाजसनेयिन.', 'कौपीतकिनः' इत्यादि नामो के साथ देते हैं। केवल सुबालोपनिषद् को उन्होने इसी नाम के साथ उद्धृत किया है। मुक्तिकोपनिषद् मे हमे यह लेख मिलता है कि 108 उपनिषदो का अध्ययन करने से मुक्ति प्राप्त होती है और इसके साथ ही इन 108 उपनिषदो के नामों का उल्लेख किया गया है। इन 108 उपनिषदो की चारो वेदो के साथ सम्बद्ध संख्या भी इस प्रकार बताई गई है—ऋग्वेद 10, शुक्ल यजुर्वेद के साथ 19; कृष्ण-यजुर्वेद के साथ 32, सामवेद के साथ 16 और अथर्ववेद के साथ 31 है।[29] यह वर्गीकरण किसी प्राचीन परम्परानुसार नही है क्योंकि रामानुज ने गर्भोपनिषद् और चूलिकोपनिषद् को —जिसका दूसरा नाम मन्त्रिकोपनिषद् भी है—अथर्ववेद से सम्बद्ध माना है जबकि मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार प्रथम का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद तथा द्वितीय का सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेद के साथ है। इन पश्चात्कालीन उपनिषदो को सामान्यतया अथर्ववेद से सम्बद्ध माना जाता है। ऐसा करने का कारण शायद यह

प्रतीत होता है कि इस वेद का पवित्र ज्ञान के रूप में परिगणन सन्देहास्पद-सा रहा था अत किसी भी साहित्य का नाम अथर्ववेद के साथ जोडना कठिन नही था। इसके अतिरिक्त एक तथ्य यह भी ध्यान देने योग्य है कि अथर्ववेद का सम्बन्ध सदा यातु और रहस्य के साथ माना जाता रहा है अत. रहस्यवाद विपयक ग्रन्थो को इस वेद के साथ सम्बद्ध करना आसान था।[30]

उपनिषद् शब्द की निष्पत्ति उप और नि उपसर्गो के साथ √सद् धातु से हुई है जिसका शब्दार्थ किसी के समीप बैठना होता है। प्रारम्भ मे इसका प्रयोग शिष्य द्वारा गुरु के समीप बैठकर रहस्यमय ज्ञान को प्राप्त करने के लिए हुआ था। कुछ आगे चलकर 'रहस्यमय ज्ञान' के रूप मे इसका अर्थ परिवर्तन हुआ। भारतीय साहित्य मे 'उपनिपद्' और 'रहस्यम्' को पर्यायवाची माना गया है। उपनिपद् साहित्य मे 'इति रहस्यम्', 'इत्युपनिषद्' ऐसा वहुत स्थानों पर साथ-साथ लिखा हुआ मिलता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' मे यह कहा गया है कि ब्रह्म का यह सिद्धान्त पिता अपने पुत्र अथवा विश्वस्त शिष्य को ही बताये किसी अन्य को नही चाहे वह कोई भी हो और यदि वह समुद्र से घिरी हुई तथा ऐश्वर्य से पूर्ण सारी पृथ्वी को भी उसे दान मे क्यो न दे—

इद वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्राणाय्याय वाऽन्तेवासिने, नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भि परिगृहीता धनस्य पूर्णा दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति।[31]

उपनिषदो के प्रारम्भिक अर्थ-रहस्य को ध्यान मे रखते हुए यदि प्राचीनतम उपनिषदो की विपयवस्तु पर दृष्टिपात किया जाए तो उनमे प्राय ऐसा विपय, जो परस्पर असम्वद्ध है—दृष्टिगोचर होगा। प्रत्येक वह सिद्धान्त जो जन-सामान्य मे लिए नही था और जिसे एक सीमित सम्प्रदाय मे प्रचारित किया जाता था—चाहे वह अत्यधिक गहन दार्शनिक सिद्धान्त हो अथवा स्थूल तादात्म्यवाद या प्रतीकवाद हो अथवा जादू रूप मे प्रयुक्त की जाने वाली यज्ञ की कोई प्रतीकात्मक विधि हो—सभी को उपनिपद् कहा जाता था। हमे यह सब विपय प्राचीन उपनिषदो मे एक ही स्थान पर एकत्रित किया हुआ मिलता है। इस प्रकार का सम्मिश्रण अथर्ववेद से सम्बन्ध रखने वाली उपनिपदो मे अधिक है।

कौषीतकी उपनिषद् मे मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक विपय की व्याख्या के साथ—मृतक-सस्कार-यज्ञ-प्रक्रिया विचार—जिसके द्वारा कुछ इहलौकिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है—अथवा कामाग्नि का जादू, वच्चो की अकाल मृत्यु को रोकने के लिए किये जाने वाले विशिष्ट विधान तथा एक ऐसा रहस्य (उपनिपद्) जिसके जानने से मनुष्य को अपने शत्रुओ को समाप्त करने की जादूशक्ति प्राप्त हो जाती है—इन सभी को साथ-साथ वर्णित किया गया है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिपद् मे सृष्टि-उत्पत्ति, शिव और आत्मा से सम्वन्ध रखने वाले गहन दार्श-

निक विचारो के साथ 'ओ३म्' की रहस्यात्मकता सम्बन्धी कल्पनाए तथा रोगमुक्ति के लिए रहस्यपूर्ण विधिविधानो को एक साथ उपस्थित किया गया है। अथर्ववेद की उपनिपदो मे एक गरुडोपनिपद् है जिसमे एकमात्र सर्पविपयक जादू की वाते दी गई है इस उपनिपद् की विपयवस्तु को स्वय अथर्ववेद मे ही रखा जा सकता था।

'उपनिपदो का दर्शन' अथवा 'उपनिपदो के ग्रन्थ' जैसे वाक्याशो का प्रयोग करते हुए हमे दो वाते ध्यान मे रखनी चाहिए। जव हम 'उपनिपदो के दर्शन' की वात कहते है तो यह कथन इस सीमित अश में ही सत्य है कि इन उपनिपदो मे विभिन्न प्रकार के दार्शनिक सिद्धातो के साथ आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक विपय भी सगृहीत है। इसलिए 'उपनिपद्-दर्शन' सम्बन्धी ग्रन्थ का प्रयोग भी एक सीमित दृष्टि से ही किया जा सकता है क्योकि इनमे न तो एक ही दार्शनिक के विचार है और न ही किसी एक दार्शनिक सम्प्रदाय के विचारो का सग्रह है जिनके द्वारा हम किसी एक आचार्य या ऋपि तक क्रमिक रूप मे पहुंच सके। इन उपनिपदों में विभिन्न आचार्यो के—जो पृथक्-पृथक् समय मे विद्यमान रहे थे—मत और विचार एक ही स्थान पर उपस्थित कर दिये गये है।

तथापि यह सत्य है कि कुछ ऐसे आधारभूत सिद्धान्त है जिनमे दार्शनिक विचारो की एकरूपता का आभास मिलता है और जो प्रामाणिक उंपनिपदो मे स्पप्टत दृप्टिगोचर होते है। अव इन्ही के विपय मे हम यहा विचार करेंगे। इन्ही के विपय मे—जैसा कि ड्यूसन"[2] ने कहा है—'उपनिपद् संघटना' शब्दो का प्रयोग किया जा सकता है। उपनिपदो के प्रत्येक अध्याय मे न तो गहन बुद्धिमत्ता के प्रदर्शन की और न प्रत्येक उपनिपद् मे प्लेटो जैमे प्रश्नोत्तर रूप वार्तालापो के मिलने की आशा करनी चाहिए। इसका कारण ऊपर पहले ही बताया जा चुका है कि ये ग्रन्थ अधिकांशत भिन्न-भिन्न काल के और भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के दर्शन के संग्रह मात्र है।

यह वस्तुत पर्याप्त आश्चर्यकारक है कि उपतिषदो के अत्यन्त प्राचीन और सुन्दर भागो मे उसी प्रकार के प्रश्नोत्तरी रूप वार्तालाप दृष्टिगोचर होते है जैसे कि महान् ग्रीक दार्शनिक के ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है और जिस प्रकार प्लेटो के ये वार्तालाप प्राचीन ग्रीक लोगो के जीवन और क्रियाकलापो के आश्चर्यकारक रूप से सजीव चित्र उपस्थित करते है उसी प्रकार प्राचीन उपनिषदों मे सगृहीत वार्तालाप प्राचीन भारतीय राजसभाओ के जीवन का आन्तरिक दृश्य आश्चर्यकारक रूप मे दिखाते है। इन राजसभाओ मे पुरोहित और प्रसिद्ध यायावर आचार्य और विद्वान्—जिनमे विदुषी स्त्रिया भी होती थी—राजा के समक्ष दार्शनिक विचारविमर्श करने के लिए उपस्थित होते थे। इन धार्मिक और दार्शनिक वार्तालापो मे प्राय. राजा भी भाग लेता था जो अपने ज्ञान द्वारा उन विद्वान्

ब्राह्मणों को निरुत्तर कर देता था। उपनिषदों के इन्ही वार्तालापो द्वारा प्राचीन काल की उन शिक्षा-सस्थाओ की झाकी मिलती है जहाँ यायावर विद्वान् लम्बी-लम्बी यात्रा करके किसी विद्वान् आचार्य के व्याख्यानो को सुनने के लिए जाते थे। इन आचार्यो के आश्रम मे दूर-दूर से आकर शिष्य ऐसे एक रूप हो जाते थे जैसे नाना दिशाओ से आने वाला जल एक रूप हो जाता है, अथवा जैसे वर्ष के बारह महीने एक सम्वत्सर का रूप धारण कर लेते है।

उपनिषदो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उन मूलभूत सिद्धान्तो या विचारो को कहा जा सकता है जिनके आधार पर ऊपर 'उपनिषद्-दर्शन' की बात कही गई है। वह आधारभूत सिद्धान्त जो सब प्रामाणिक उपनिपदो मे सर्वत्र व्याप्त मिलता है इन दो वाक्यो मे सगृहीत है :—

'सर्व खल्विद ब्रह्म' तथा 'अयमात्मा ब्रह्म'

उपनिपत्कालीन दार्शनिको का समग्र विचार-विमर्श 'ब्रह्म' और 'आत्मा' इन दो तत्त्वो को केन्द्र मानकर चलता है। उपनिषद्-दर्शन को सम्यक् प्रकार से हृदयङ्गम करने के लिए इन दो तत्वो को समीचीनतया जानना अत्यन्त आवश्यक है। 'ब्रह्मन्'[33] शब्द की मूल व्युत्पत्ति क्या थी यह सशयात्मक है। भारतीय परम्परा के अनुसार 'ब्रह्म' शब्द की निष्पत्ति √बृह वृद्धौ धातु से की जाती है। इस दृष्टि से 'ब्रह्म' शब्द का सरलार्थ होगा जो सबसे अधिक महान् है और परिणाम स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है। रॉथ और बॉथलिग के सेन्ट पीटसबर्ग सस्कृत कोप मे 'ब्रह्मन्' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'वह भक्ति जो आत्मा की अभीप्सा और उसकी चरम पूर्ति के रूप मे प्रतीत होती है और देवताओ के प्रति उन्मुख रहती है।' ड्यूसन[34] के अनुसार 'ब्रह्मन्' शब्द का अर्थ 'मनुष्य की वह अभीप्सा या आकाक्षा है जो पवित्रता और दिव्यता के प्रति ऊर्ध्वमुख रहती है।' विन्टरनिट्स[35] की सम्मति मे ये अर्थ दैव सम्बन्धी यहूदी और क्रिश्चियन भावो और विचारो से अधिक मिलने-जुलते है। किन्तु जैसा कि हम सहिताओ और ब्राह्मणो के अध्ययन से जानते है कि ये अर्थ मनुष्यो और देवताओ सम्बन्धी भारतीयो के मूल विचार से सर्वथा विपरीत है। उसकी सम्मति मे ब्रह्म शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ अवश्य अनिश्चित है परन्तु स्वय वेदो मे 'ब्रह्मन्' शब्द असख्य बार आया है और इसका अर्थ 'प्रार्थना' अथवा 'यातु-सूत्र' हे, वहाँ कही भी दिव्यता के प्रति भक्ति या प्रशसा का विचार दृष्टिगोचर नही होता है। वहाँ तो इसका अभिप्राय एकमात्र ऐसे सूत्रो या मन्त्रो से है जिनमे रहस्यमय जादूशक्ति निवास करती थी और जिनके द्वारा मनुष्य दिव्य शक्तियो से कोई वस्तु छीनकर अथवा अनुग्रह के साथ प्राप्त करना चाहता था। आगे आने वाले समय मे इन सूत्रो और मन्त्रो को पुस्तको और सम्प्रदाय ग्रन्थो मे एकत्रित किया गया तो इस साहित्य को 'त्रयी-विद्या' (तीन प्रकार का ज्ञान) का नाय दिया गया और इसे संक्षेप मे 'ब्रह्म' नाम से भी पुकारा गया

क्योंकि इस वेद या ब्रह्म का मूल देव को माना जाता था और इसलिए दोनों शब्दो को एक ही अर्थ के साथ जोड़ दिया। इसके साथ-साथ एक और भी प्रक्रिया चल रही थी और वह थी यज्ञ सम्बन्धी प्रक्रिया। इस यज्ञविधि को न केवल सर्वातिशायी अपितु अतिदैवीय शक्ति का रूप दिया जा रहा था और यह यज्ञ वेद में प्रतिष्ठित था और इसलिए इस ब्रह्म को सर्वप्रथम उत्पन्न (ब्रह्म प्रथमज) वस्तु के रूप में वर्णित करके अन्त मे उसे 'ब्रह्म स्वयम्भू' के रूप में स्वीकार किया गया। विन्टरनिट्स की सम्मति में इस प्रकार ब्रह्म को दैवीय सिद्धान्त के रूप में मानना पुरोहितों के दर्शन के अनुरूप है और प्रार्थना तथा यज्ञ-सम्बन्धी ब्राह्मणो के विचारों के प्रकाश में सुव्याख्येय है। निश्चय ही विन्टरनिट्स का यह मत पाश्चात्य विचारधारा की पूर्वाग्रहता का परिणाम है।

'आत्मन्' शब्द का इतिहास अपेक्षया सरल है। इस शब्द की व्युत्पत्ति भी अनिश्चित है। कुछ विद्वान इसे √अन् प्राणने धातु से निष्पन्न मानते हैं और इसका अर्थ श्वास, प्रश्वास, आत्मा आदि करते है। ड्यूसन[36] और उसके समान विचार रखने वाले कुछ लोग इसे तो सार्वनामिक धातुओं से निष्पन्न मानते हैं और इसके प्रारम्भिक अर्थ की व्याख्या 'यह मैं' (अस्मि) इस रूप में करते है। इस शब्द की व्युत्पत्ति चाहे कुछ भी रही हो 'आत्मन्' शब्द एकमात्र दार्शनिक विचार ही नहीं है पर एक ऐसा शब्द है जो संस्कृत मे अत्यधिक प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ 'स्व' है जो अत्यन्त स्पष्ट है। संस्कृत साहित्य मे और उपनिषदों मे भी इसका प्रयोग 'जीव', 'शरीर', शरीर का मध्य भाग आदि अर्थो मे हुआ है। उपनिषदों के दर्शन मे 'ब्रह्मन्' और 'आत्मन्' ये दोनो मूलभाव एकाकार हो गये है। शाण्डिल्य का प्रसिद्ध सिद्धान्त 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' से ही प्रारम्भ होकर 'एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमित. प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्य.'[37] पर समाप्त होता है।

'ब्रह्म' और 'आत्मा' के तादात्म्य को उपनिषदो मे 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्माऽस्मि' तथा 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि सिद्धान्त-वाक्यो द्वारा समझाया गया है। ब्रह्म का स्वरूप उपनिषदो में अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णित किया गया है। सक्षेप में कहा जा सकता है कि ब्रह्म को वह शक्ति बताया गया है जो सर्वसत्तात्मक तथा सब वस्तुओ मे व्याप्त है जो इस सृष्टि का सर्जन करती है और अन्त मे इस सबको अपने अन्दर समेट लेती है। इस शाश्वत अनन्त शक्ति को आत्मरूप कहा गया है जिसे नामरूपात्मक सम्पूर्ण बाह्य जगत् को एकैकश: त्याग करने के बाद मानव अपने अन्दर अपनी वास्तविक सत्ता मे अपने व्यक्तिगत 'स्व' में अपनी आत्मा के रूप मे देखता है। यह आत्मशक्ति और ब्रह्मशक्ति एक ही है। इस 'आत्मा' का दर्शन, श्रवण, मनन और निदि-

ध्यासन ही उसके साथ तादात्म्य प्राप्ति का या अमृतत्त्व प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे जिस तादात्म्यवाद का प्रारम्भ हुआ था उसकी सुस्पष्ट और युक्तियुक्त परिसमाप्ति उपनिषदो मे बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् की एकात्मकता और तादात्म्यकता की प्रतिष्ठा के साथ हुई। ऐकात्म्य और तादात्म्य के स्वरूप को सार रूप मे 'यज्ञो वै यजमानः,' 'यज्ञो वै प्रजापतिः', 'यज्ञो वै विष्णु', 'विष्णु वैं प्रजापति', 'प्रजापति बैं ब्रह्म', 'ब्रह्म वै प्रजापति', 'अयमात्मा ब्रह्म' इन वाक्यखण्डो मे देख सकते है।

इतने गहन दार्शनिक सिद्धान्तो को अत्यन्त सरल भाषा मे उपनिषदो मे स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे आख्यानो द्वारा समझाया गया है। छान्दोग्योपनिषद् का उद्दालक अरुणि के पुत्र श्वेतकेतु का आख्यान, कठोपनिषद् का नचिकेतोपाख्यान; बृहदारण्यकोपनिषद् का याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी सवाद एव जनक की राजसभा मे विद्वान् ब्राह्मणो का याज्ञवल्क्य के साथ सवाद इसके उदाहरण है। 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' के साथ-साथ उपनिषदो मे इस पराशक्ति के लिए 'एकं,' 'सत्', 'पुरुष' ईश् आदि शब्दो का भी प्रयोग किया गया है। ईशोपनिषद मे उस शक्ति की सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन इस रूप मे किया गया है—'ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्या जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥; तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥, यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥[38] उपनिषदो मे आत्मा के साथ एक अन्य शब्द का भी वर्णन किया गया है और वह है 'प्राण.'। यह प्राण श्वास, प्रश्वास और जीवन का मूल आधार माना गया है। उपनिषदो मे बहुत से स्थलो पर इसके माहात्म्य का वर्णन है—'प्राणो ब्रह्म क ब्रह्म ख ब्रह्मेति स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म।'[39] इसे चेतन और ज्ञाता के साथ एकाकार भी कहा गया है। यह प्राण मनुष्यो की इन्द्रियो का नियामक भी है। इस प्राण के नियन्त्रण मे रहने वाली इन्द्रिया पांच प्राकृतिक शक्तियो की—वाणी अग्नि की, नासिका वायु की, चक्षु सूर्य की, कर्ण दिशाओ की, और मनस् चन्द्रमा की—प्रतिनिधि है। उपनिषदो मे प्राय इन प्राकृतिक शक्तियो और इन्द्रियो की परस्पर क्रियाशीलता का वर्णन मिलता है। यह विषय वास्तव मे मनोविज्ञान के अन्तर्गत आता है पर इसे हम उपनिषदो के अध्यात्मवाद से पृथक् नही कर सकते। छान्दोग्योपनिषद् के पाचवे अध्याय मे प्राण और ज्ञानेन्द्रियो के विवाद की रोचक मनोवैज्ञानिक कथा मिलती है—अथ ह प्राणा अहꣳ श्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳ, श्रेयानस्म्यहꣳ, श्रेयानस्मीति, ते ह प्राणा प्रजापति पितरमेत्योचुर्भगवन्को न श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीर पापिष्ठतरमिव दृश्येत स व श्रेष्ठ इति, न वै वाचो न चक्षुꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति।[40]

उपनिषदो मे मिलने वाले इस प्रकार के हृदयग्राही सुन्दर आख्यानो और विवरणों के विषय मे ड्यूसन ने कहा है कि ये वर्णन अभिव्यक्ति की गहराई और समृद्धि मे सारे भारतीय साहित्य मे—शायद सब देशो के साहित्य में—अनुपम है ।

उपनिषद्-दर्शन का दूसरा मूलभूत सिद्धान्त पुनर्जन्म का सिद्धान्त है जिसका उपनिषदो मे स्थान-स्थान पर वर्णन हुआ है। यह वही सिद्धान्त है जिसका उपदेश राजा प्रवाहण ने श्वेतकेतु के पिता ब्राह्मण गौतम को दिया था। कठोपनिषद् मे तात्त्विक दृष्टि से नचिकेता ने इस पर सक्षेप में विचार किया है 'अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे। सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजयते पुनः।'[41] इस सिद्धान्त के साथ ही इसकी तर्कसगत पूर्ति के रूप मे उपनिषदो का तीसरा मूलभूत सिद्धान्त 'कर्मवाद' का है । इस सिद्धान्त को उपनिषदो मे आचार सिद्धान्त के रूप मे विकसित किया गया है । मनुष्य अच्छा या बुरा जो भी कर्म करता है उसका फल उसे भोगना पड़ता है और एक जन्म मे किये जाने वाले सभी कर्मो का फल उसी जन्म मे मिलता हुआ दृष्टिगोचर नही होता। 'यहा तक कि प्राचीन शास्त्रो मे वर्णित ज्योतिष्टोम आदि यज्ञो के फलस्वरूप मिलने वाला स्वर्ग भी इस जीवन की समाप्ति पर शरीर नाश के पश्चात् ही मिलना स्वीकार किया गया है । ऐसी अवस्था मे अन्य अनेक कर्मों के फल जब इस जन्म मे मिलते हुए दिखायी नही देते तो यह स्वाभाविक था कि मृत्यु के उपरान्त कर्मफल को भोगने के लिए एक दूसरे जन्म की कल्पना की जाए । इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि कर्म का सिद्धान्त और पुनर्जन्म का सिद्धान्त परस्पर एक-दूसरे के पूरक रहे है। कर्मवाद के इस सिद्धान्त का वर्णन वृहदारण्यकोपनिषद् के तीसरे अध्याय के दूसरे ब्राह्मण मे याज्ञवल्क्य और जारत्कारव आर्तभाग के वार्तालाप मे हुआ है । कर्मवाद के इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप ब्राह्मणो की अपेक्षा उपनिषदो मे नैतिक तत्त्व का पक्ष अधिक प्रबलतर हो गया है। यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि आत्मा के आध्यात्मिक सिद्धान्त के मूल मे एक गहन आचारवादी भाव अन्तर्निहित है और उसके अनुसार सर्वत्र और सब प्राणियो मे एक ही आत्मा का दर्शन करने के कारण हम सबसे स्नेह करने के अधिकारी है । ईशोपनिषद् मे यह भाव इस रूप मे वर्णित है—'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ।'[42]

नैतिक आधार पर कर्म और आचरण की पवित्रता का जितना सुन्दर उपदेश तैत्तिरीयोपनिद् के शीक्षाध्याय के एकादश अनुवाक मे मिलता है ऐसा अन्यत्र दुर्लभ है 'सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद मत करो, आचार्य को प्रियदक्षिणा देने के उपरान्त सन्तति का क्रम भङ्ग न करना, स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद नही करना चाहिए। देवता और पितर सम्बन्धी कार्यो से प्रमाद नही करना चाहिए। माता को देव मानने वाले बनो, पिता को देव मानने

वाले बनो, आचार्य को देव मानने वाले बनो, अतिथि को देव मानने वाले बनो, जो प्रशंसनीय कर्म हैं उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिए दूसरों का नहीं। जो कोई हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण हों उनको तुम्हें आसन प्रदान द्वारा सेवा करनी चाहिए। श्रद्धा के साथ दान देना चाहिए, अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिए···यदि तुम्हें कर्म के विषय में सन्देह अथवा व्यवहार के विषय में संदेह हो तो वहां जो ब्राह्मण सहनशील हों, उत्तम कार्य में लगे हुए हों, अधिकारी हों, व्यवहार में रूखे न हों, धर्म की कामना करने वाले हों, वे जैसा उस अवस्था में व्यवहार करें वैसा ही तुम्हें करना चाहिए···यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदोपनिषद् है, यही अनुशासन है, ऐसा ही आचरण करना चाहिए, ऐसा ही आचरण के योग्य है।" इसी प्रकार का नैतिक उपदेश बृहदारण्यक-उपनिषद् के पांचवें अध्याय के दूसरे ब्राह्मण में उपलब्ध है। यह शिक्षा एक लघु कथा के रूप में है जो संक्षेप में इस प्रकार है —प्रजापति के तीनों पुत्रों—देवता, मनुष्य और असुरों ने अपने पिता प्रजापति के पास जाकर उनसे उपदेश देने की प्रार्थना की। प्रजापति ने तीनों के लिए एक ही उपदेश 'द' इस अक्षर द्वारा दिया और फिर उन्होंने क्रमशः तीनों से पूछा क्या तुम इसका भाव समझ गये? तीनों ने उत्तर में कहा—हां, समझ गये। प्रजापति के पुनः पूछने पर देवताओं ने उत्तर दिया कि आपने हमें इन्द्रिय-दमन (इन्द्रियों को वश में करने) का उपदेश दिया है। मनुष्यों से पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया आपने हमें दान देने का उपदेश दिया है तथा असुरों ने पूछने पर उन्होंने कहा कि आपने हमें दया करने का उपदेश दिया है। 'द' 'द' 'द' इस रूप में बादल के साथ कड़कने वाली बिजली हम सब को सदा यही याद दिलाती है कि सदा इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए, लालच न करके दान देना चाहिए और क्रोध न करके प्राणियों पर दया करनी चाहिए।

उपनिषद्-दर्शन का चौथा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ज्ञान का सिद्धान्त है। उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का अन्तिम ध्येय ब्रह्म के साथ ऐकात्म्य स्थापित करना है अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकता को अनुभव करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश करके ही की जा सकती है। जो मनुष्य जीव और ब्रह्म अथवा आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति कर लेता है उसी को मुक्ति प्राप्त होती है। इस उच्च उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सब कर्मों का—अच्छे या बुरे—त्याग करना पड़ता है। यज्ञादि उत्तम कर्म भी फल देने के लिए नया जन्म देंगे और इस प्रकार शुभ से शुभ कर्म भी जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा नहीं दे सकता। केवल ज्ञान ही इस जन्म-मरण रूप चक्र से मुक्ति प्रदान कर सकता है। ईशोपनिषद् में कर्म की अनिवार्यता का वर्णन है और ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् के दूसरे मन्त्र में वर्णित सिद्धान्त—'कर्म करते हुए ही इस संसार में सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं

है, इस प्रकार कर्म करते रहने पर मनुष्य कर्मलिप्त नहीं होता'—ज्ञान के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतीत होता है किन्तु वास्तविकता ऐसी नही है। ईशोपनिषद् का सर्वाङ्ग-पूर्ण अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वहा ज्ञान और कर्म मे सामजस्य ही दिखाया गया है विरोध नही। ईशोपनिषद् के अनुसार कर्मफल की कामना का त्याग करने मे मनुष्य कर्म से लिप्त नही होता और विद्या अविद्या का साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करने से आत्मा और परमात्मा, जीव और ब्रह्म का ऐकात्म्य प्राप्त होने के द्वारा अमृतत्व अथवा मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट परिणाम दृष्टिगोचर होता है कि प्रधान प्राचीन उपनिषदो मे ज्ञान द्वारा जीव-ब्रह्मैक्य की प्राप्ति और जन्म-मरण के वन्धन से छुटकारे की बात सर्वत्र वर्णित की गयी है।

ज्ञान केवल शक्ति ही नही है अपितु जीवन का सबसे ऊँचा उद्देश्य है और उसकी प्राप्ति का अभिप्राय ही ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त करना है। उपनिषदो मे स्थान-स्थान पर ज्ञान की महत्ता का वर्णन किया गया है इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए देवता और मनुष्य दोनो कठोर से कठोर तप करते है। वर्षो तक शिष्य अपने गुरु के समीप तप और ब्रह्मचर्यपूर्वक ज्ञान-प्राप्ति के लिए निवास करते है। उपनिषद् मे वर्णन आता है कि इन्द्र आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रजापति के पास सौ वर्ष से अधिक समय तक तप करता रहा। सत्यकाम जावाल अपने आचार्य हारिद्रुमत गौतम की आज्ञानुसार वर्षो तक गौए चराते हुए भ्रमण करता रहा। स्वय सत्यकाम जावाल का शिष्य उपकोसल कामलायन वारह वर्ष मे अधिक समय तक गुरुमुख से ज्ञानप्राप्ति के लिए आचार्यकुल मे रहा। उपनिषदों में वर्णित आख्यानो के अनुसार आत्मा और ब्रह्म का ज्ञानप्राप्त करने के लिए राजाओ ने हजारो गौए और अनन्त सोने की राशि ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणो को दान में दी। दूसरी ओर ज्ञानप्राप्ति के लिए वहुत से ब्राह्मण क्षत्रिय राजाओ की सेवा मे पहुँचे। ज्ञानप्राप्ति के लिए किसी मनुष्य को कितना त्याग करना पड़ सकता है इसका सकेत हमे कठोपनिषद् मे वर्णित यम और नचिकेता के संवाद से मिलता है। 'मरने के वाद मनुष्य का क्या होता है? 'आत्मा का स्वरूप क्या है'? 'अमृतत्त्व' क्या है? आदि मूल प्रश्न थे जिनका उत्तर नचिकेता यम से जानना चाहता था और यम उसे नाना प्रकार के सांसारिक सुखो के लालच देकर ज्ञान-प्राप्ति रूप वर देने मे छुटकारा पाना चाहता था। अन्त मे नचिकेता का दृढ निश्चय देखकर और सम्यक् परीक्षा करने के पश्चात् ही यम ने उसे आत्मा की अमरता का ज्ञान दिया।

इस ज्ञान के महत्त्व ने जब शनैः-शनैः सामान्य जन को भी प्रभावित करना प्रारम्भ किया तो उसका परिणाम इस रूप मे दृष्टिगोचर होता है कि ससार त्याग की भावना आगे चलकर वलवती होती चली गई। उदाहरण के रूप मे

प्राचीन उपनिषदों के पश्चात् रचित मैत्रायणी उपनिषद्[43] से वृहद्रथ की कथा उद्धृत की जा सकती है—जो अपने पुत्र को राज्य सौंपकर जंगल मे चला गया। उसे विश्वास हो गया था कि यह शरीर नश्वर है और इसलिए वह सन्यासवाद का अनुयायी बन गया। राजा बृहद्रथ ने जंगल मे तपस्या करनी शुरू की, उसने अपनी भुजाओं को ऊपर करके और सूर्य पर दृष्टि गड़ाकर एक हजार दिन तक तपस्या की। एक दिन उसके पास शाकायन्य ऋषि पहुँचे। उसकी तपस्या से प्रभावित होकर उसे ऋषि ने एक वर देने की इच्छा प्रकट की। राजा बृहद्रथ ने कहा—'मैं आत्मा का स्वरूप नही जानता और मैंने सुना है कि आप उसके ज्ञाता हैं; कृपया मुझे उसका उपदेश दीजिए।' जिस प्रकार कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता को आत्मविषयक प्रश्न पूछने की अपेक्षा अन्य कोई वस्तु वर रूप में मांगने के लिए उसे बहुत प्रकार के लालच दिये थे, उसी प्रकार मुनि शाकायन्य ने उसे इस प्रश्न की जगह अन्य कामनाएं पूरी करने विषयक वर मांगने के लिए कहा। राजा बृहद्रथ ने इस शरीर की जुगुप्सित रचना और नश्वरता का वर्णन करते हुए अपने आत्मविषयक प्रश्न के उत्तर को जानने की ही इच्छा व्यक्त की। इसी प्रसंग में उसने संसार की नश्वरता के बहुत से उदाहरण दिये और वह अपने प्रश्न का उत्तर जानने के लिए दृढ़ बना रहा। अन्त मे भगवान् शाकायन्य ने उसे आत्मतत्त्व का ज्ञान प्रदान किया।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस कथा के सदृश अन्य बहुत-सी कथाएं बौद्ध तथा पीछे की उपनिषदो मे मिलती है। यह मैत्रायणी उपनिषद् भाषा और शैली के आधार पर वेद की भाषा की अपेक्षा लौकिक संस्कृत के अधिक समीप है और बुद्ध के बाद की रचना है। ओल्डनबर्ग[44] ने इस उपनिषद् के 7वें प्रपाठक के 8वे खण्ड के आधार पर इसमें बौद्ध विचारधारा के प्रभाव की बात मानी है—'ये चान्ये ह चाटजट-नटभटप्रव्रजितरङ्गावतीरणो राजकर्मणि पतितादय.'—। प्राचीन वैदिक उपनिषदो मे नैराश्यवाद की भावना के बीज, संसार की अनित्यता, नश्वरता और अवास्त-विकता के रूप में देखे जा सकते है। उनमे स्थान-स्थान पर यह वर्णित है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब कुछ नश्वर है और पीड़ा देने वाला है। बृहदारण्यकोपनि-षद् के तीसरे अध्याय के पांचवे ब्राह्मण में काहोल कौषीतकेय ने याज्ञवल्क्य से साक्षात् और अपरोक्ष आत्मरूप ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की। ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए याज्ञवल्क्य ने अन्त मे कहा—'अतोऽन्यदार्त्तम्।' तैत्तिरी-योपनिषद् के दूसरे अध्याय के आठवें और नवें अनुवाक मे ब्रह्म की आनन्दमयता का विस्तृत वर्णन है और इस विषय का उपसंहार 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति' इस उक्ति के साथ किया है। यही बात पुन. तीसरे अध्याय के छठे अनुवाक में कही गई है। ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुजगत् को हेय मानने का सिद्धान्त ही आगे चलकर भारतीय दर्शन मे नैराश्यवाद के रूप में

विकसित हुआ।

उपनिषद्-दर्शन के उपरान्त विकसित होने वाले संपूर्ण भारतीय दर्शन का मूल उपनिषदों में देखा जा सकता है। बादरायण के वेदान्त सूत्रों की रचना उपनिषद्-दर्शन के ब्रह्मवाद को केन्द्र मानकर ही हुई। इसी प्रकार बौद्ध तथा बौद्धेतर अन्य नास्तिक और आस्तिक दर्शनों का विकास भी उपनिषद्-दर्शन की भूमि से ही हुआ है। इतने विशाल दार्शनिक साहित्य की आधारभूमि होने के कारण उपनिषदों को बहुत प्रारम्भ में ही 'प्रकाशित ज्ञान' की महिमा प्रदान की गई। इसका एक अवश्यम्भावी दुष्परिणाम भी हुआ। उपनिषदों के अन्दर जो दार्शनिक ज्ञान की सर्जकता तथा स्वतन्त्र और स्फूर्तिमय चिन्तन की धारा विद्यमान थी वह आगे के दार्शनिक विकास में क्षीण से क्षीणतर होती चली गई।

उपनिषद्-दर्शन के विषय में पाश्चात्य दृष्टिकोण दो पृथक् धाराओं में वर्गीकृत मिलता है। शॉपेनहाअर[15] ने उपनिषद-दर्शन को उच्चतम मानव ज्ञान और बुद्धिमत्ता का फल तथा अतिमानवीय विचारों से परिपूर्ण माना है। उसकी दृष्टि में इस दर्शन की उत्पत्ति को एकमात्र मानवीय स्वीकार करना अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार उपनिषद्-दर्शन के विषय में ड्यूसन[16] का विचार है कि उपनिषद् के ऋषियों ने ब्रह्माण्ड के अन्तिम रहस्य पर यदि बहुत अधिक वैज्ञानिक नहीं तो भी अत्यन्त गहरा और सूक्ष्म प्रकाश डाला है। इसके विपरीत, विन्टरनिट्स[17] ऐसा मानता है कि इन दार्शनिक काव्यों (उपनिषदों) का मनुष्य के मन को इतना अधिक प्रभावित करने का कारण उनका प्रकाशित ज्ञान होना नहीं है क्योंकि प्रकाशित ज्ञान के अन्तर्गत तो ब्राह्मणों में वर्णित थोथे कथन और मूर्खतापूर्ण सन्दर्भ भी संगृहीत हैं जिन्हें साक्षात् दैवी ज्ञान माना गया है। उसकी सम्मति में उपनिषदों की काव्यमयी भाषा में अभिव्यक्त परिस्थितियां ही थीं जो बुद्धि और हृदय को प्रभावित करती थीं। अपनी रचना के हजारों वर्ष बाद भी उपनिषदों में हमें जानने के लिए अब भी बहुत कुछ है क्योंकि उपनिषद् के विचारक सत्य को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते दृष्टिगोचर होते हैं और उनकी दार्शनिक कविताओं में मानव की सत्य के प्रति सदा से अतृप्त रहने वाली भावना अत्यन्त आग्रह के साथ प्रकट की गई है। उपनिषदों में अतिमानवीय विचार नहीं हैं अपितु सत्य के समीप पहुँचने के मानवीय और परिपूर्णतः मानवीय प्रयत्न विचार संगृहीत हैं। यही कारण है कि हमारे लिए यह इतने अधिक मूल्यवान हैं।

पाद-टिप्पणी व सन्दर्भ

1. विन्टरनिट्स द्वारा उद्धृत, HIL, पृ० 197
2. Winternitz, M., HIL, P. 197
3. देखिए पूर्ववर्णित ऋग्वेद

4. ऋ० 2 12 5, 10 129.6-7
5 शा० ब्रा० 26 5
6 श० ब्रा० 11 6 2 1
7 वही 11.6 2.4
8. वही 11 3 1 2-4
9. ऐ० ब्रा० 8 1
10. छा० उ० 4.4
11. वहृदारण्यकोपनिषद् 2.4; 3:6, 8
12. ऋ० 1 26.7 रोमशा ब्रह्मवादिनी; 1.179.1, 2, लोपामुद्रा, 5 28 6 विश्ववारा आत्रेयी;
13 छा० उ० 5 3; व० उ० 6 2;
14. वही 5 11
15. ऐ० ब्रा०, भूमिका, पृ० 5
16 ऐ० आ०, भूमिका
17. ऐतरेय आरण्यक, सम्पा०, अनु०—ए० वी० कीथ, मास्टर पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली, 1981, ऐतरेय आरण्यक सायण भाष्य सहित, सम्पा०—राजेन्द्र-लाल मित्रा, कलकत्ता 1876
18. शाङ्खायन आरण्यक, सम्पा०—ए० वी० कीथ, लन्दन 1908
19. श० ब्रा०, 10 1.1 5, एगलिंग, श० ब्रा०, सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, पृ० 110
20 ऐ० आ०, 5 3 8
21 वही 2.1 8
22 तैत्तिरीय आरण्यक सायण भाष्य सहित, सम्पा०—राजेन्द्रलालमित्र, कलकत्ता, 1871 भट्ट-भास्कर मिश्र भाष्य सहित, सम्पा०—महादेव शास्त्री और पी० के० रङ्गाचार्य, तीन भाग, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1985
23 Schroeder, L V , Wiener Zeitschrift fur die Kunde, des Morgenlandes 11, P 118 उसकी सम्मति मे यह परम्परा यथार्थ है। वह कठ आरण्यक की सस्थिति के विषय मे आश्वस्त था।
24 Gonda, HIL, P. 430; Schroeder, L.V., Die Tubinger Katha-Handschriften, P 52
25 मैत्रायणी आरण्यक, सम्पा०—एस० डी० सातवलेकर, पारडी 1956
26 देखिए, पूर्ववर्णित सामवेद
27 आरुणिकोपनिषद्, 'सर्वेषु वेदेष्वारण्यकमावर्त्तयेदुपनिषदमावर्तयेदुपनिषद-

मावर्तयेदिति ।' 2

28. Deussen P. AGPh, P. 22
29. मुक्तिकोपनिषद्, 12 13.
30. उपनिषद् शब्द का वास्तविक अर्थ रहस्य था और इस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग अन्य शास्त्रो में भी हुआ ।
31. छा० उ० 3.11.5; 6.
32. Deussen, P., AGPh 1, 2
33. इसके दूसरे अर्थ के लिए देखिए पूर्ववर्णित ब्राह्मण
34. Deussen, P. AGPh. P. 39
35. Winternitz. M., HIL, P. 216
36. Deussen. P., AGPh 1.1, P. 285
37. छा० उ० 3.14
38. ई० उ० 1; 5; 7
39. छा० उ० 4.10.5
40. वही 5.1.6; 7; 15
41. कठोपनिषद् 1,1.6
42. ई० उ० 6.
43. मैत्रायण्युपनिषद् 1 प्रपाठक
44. Oldenberg, Zur Geschichte der altindishen Prosa, P. 33
45. Hecker, M. F., Schopenhauer und die indishe Philosophie, PP. 7
46. Deussen, System des Vedanta, PP. 50
47. Winternitz, M., HIL, P. 233

SELECT BIBLIOGRAPHY

(सन्दर्भ ग्रन्थ सूची)

Amold, E.V. — Vedic metre in its Historical Development, Cambidge 1905.

Aufrecht, Th. — Das Aitareya Brahmana (herausgegeben) Born, 1972.

Aufrecht, Th — Die Hyman des Rigueda (herausgegeben) 2 Vols., Berlin 1861-1863.

Bloomfield, M. — The Atharva-Veda and the gopatha-Brahmana, Strassburg 1899

Bloomfield, M. — Hymns of the Atharva-Veda, Varanasi 1967.

Bloomfield, M. — Rigveda Repetitions, 2 Vols. (3 parts) Cambridge Mass., 1916.

Bloomfield m. and F. Edgerton — Vedic Variants, 3 Vols., Philadesphia, 1930; 1932; 1934;

Caland, W. — Das Jaiminiya-Brahmana in Auswahl, Amsterdam Academy 1960.

Caland, W. — Pancavimsa-Brahmana (translated) Calcutta 1931.

Caland, W. — The Satapatha Brahmana in the Kanviya recension, Lahore *1926-1939*.

Dandekar, R.N. — Vedic Bibliography Vol I, Bombay 1946; Vol II Poona, 1961; Vol III, Poona 1973; Vol IV, Poona 1985.

Deussen, P. — The Philosophy of the Upanisads (English translation by A.S. Geden) New York 1972.

Eggeling, J. — The Satapatha-Brahmana (Madhyandina

School, translated), The Sacred Books of the East 5. Vols Delhi 1966.

Geldner, K. F. — Der Rigveda in Auswahl, I glossar; II Kommentar, Stuttgart 1907; 1909.

Geldner, K.F. — Der Rigveda (ubersersetzt), 3 Vols., Cambridge Mass. 1951; IV Index by J. Nobel, 1957.

Gonda, J. — The Dual deities in the Religion of the Veda, Amsterdam Acad. 1974.

Gonda, J. — Ellipsis, brachylogy and other forms of brevity in Speech in the Rgveda, Amsterdam Acad. 1960.

Gonda, J. — Epithets in the Rgveda, the Hague 1959.

Gonda, J. — The Vedic god Mitra, Leiden 1972

Gonda, J. — Loka, world and Heaven in the Veda, Amsterdam Acad. 1966.

Gonda, J. — The so-called secular, humorous and satirical Hymns of the Rgveda, in Orientalia Nrerlandica, a Volume of Oriental Studies, Leiden 1948, p. 312.

Gonda, J. — Stylistic Repetition in the Veda, Amsterdam Acad. 1959

Gonda, J. — The Vision of the Vedic poets, the Hague, 1963.

Gonda, J. (ed) — A History of the Indian Literature Vol I. Vedic Literature (Samhitas and Brahmanas) Wiesbaden 1975.

Grassman, H. — Rig-veda(ubersetzt), 2 Vol, Leipzig 1876-1877.

Griffith, R.T.H. — The Hymns of the Rig-veda translated with a Popular commentary, 4 Vols Varanasi, 1963.

Haug, M. — The Aitareya Brahmana of the Rigveda (edited, translated and explained), 2

vol., Allaharbad 1922.

Hillebrandt, A. Vedische mythologie, 3 Vols, reprint Hildesheim 1965.

Kane, P.V. History of Dharmasatra, 5 Vols (7 parts), Poona 1930-1962.

Keith, A.B. The Aitareya Aranyaka, Oxford 1969.

Keith, A.B. Rigveda Brahmanas, Cambridge, Mass. 1920.

Keith, A.B. Religion and Phicosophy of the Veda and Upanishads, Cambridge mass. 1925; Delhi 1969.

Keith, A.B. The Veda and the Black yajus School entitled Taittiriya Samhita (translated), Cambridge Mass. 1914.

Levi, S. La Doctrine du Sacrifice dans les Brahmanas, Paris 1966

Luduig. A. Der Rigveda (ubersetzt) 6 Vols. Prag-Leipzig, 1876-1888.

Macdonell, A.A. A history of Sanskrit Literature, Delhi 1961

Macdonell, A.A. Vedic mythology, Strassburg, 1897.

Macdonell, A.A. A Vedic Reader for Students, Oxford, 1928.

Macdonell, A.A. and A B. Kaith Vedic Index of names and subjects, 2 Vols, Varanasi, 1958.

Max Muller, F. A history of ancient Sanskrit Literature, London 1926.

Oldenberg, H. Die Hymnen des Rigveda, Berlin, 1888.

Oldenberg, H. Die Religion des veda, Berlin, 1970.

Oldenberg, H. ·Vedic Hymns (translated) Part 2, Hymns to Agni, Oxford 1897.

Pischel, R. and K. Geldner Vedische studien, 3 Vols. Stuttgart, 1889, 1892; 1901.

Renou, L. Bibligrophie, Vedique, Paris 1931.

Renou, L. Les ecoles vediques et la formation du Veda, Paris 1947.

Renou, L. Hymnes speculatifs dn Veda, Paris, 1956.

Renou, L. La poesie religieuse del 'Inde antique, Paris 1942.

Von, Schroeder, L. Indiens Literatur und Cultur in historischer Entwicklung, Leiprig 1922.

Von, Schroeder, L. Mysterium und mimus im Rigveda, Leipzig 1908.

Shende, N.J. The Religion and Philosophy of the Atharva veda, Poona 1952.

Weber, A, Indische studien, 18 vols, Berlin 1849-1898.

Whitrey, W.D. Atharva-veda Samhita (translated) revised by Ch. R. Lanman, Cambridge Mass. 1905

Winternitz, M. A history of Indian Literature, I, Calcutta 1927 (Eng. Trans by mrs S. Ketkar.

Periodicals

1. Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute Poona.
2. All India Oriental Conferences (Proceedings of).
3. American Jonrnal of Philology, Baltimore.
4. Adyar Library Bulletin, Madras.
5. Acta Orientalia, Leiden.
6. The Aryan Path, Bombay.
7. Bulletin, Deccan College Research Institute, Poona
8. Bulletin of the School of Oriental (and African) studies, London.
9. East and west, Rome.
10. History and Cnlture of the Indian People (I, The Vedic Age) edited by R.C. majumdar and A.D. Pusalkar, London, 1951.

11. Indian Antiquary, Bombay.
12. Indian Culture, Calcutta.
13. Indian Historical Quarterly Calcutta.
14 International Philosophical Quarterly, Bronx. N.Y.
15. Journal of the American Oriental Society, New Haven, Baltimore.
16. Journal of the Asiatic Society of Bengal (Letters) Calcutta.
17. Journal of the Asiatic Society, Bombay.
18. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, Bombay,
19. Journal of the Ganganath Jha Reserch Institute or J.G. Kendriya Sanskrit Vidyapeeth, Allahabad.
20. Journal of the Oriental Institute, Baroda.
21. Journal of Oriental Research, madras.
22. Journal of the Royal Asiatic Society London.
23. Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal, Calcutta.
24. Journal of the Sri-Venkatesvara Oriental Institute, Tirupati.
25. Journal of the university of Bombay.
26 Journal of the university of Poona, Humanities section.
27. New Indian Antiquary, Bombay.
28. Our Heritage, Calcutta.
29. Proceedings of the American Philosophical Association, philadephia.
30. The Poona Orientalist, Poona.
31. Purana, edited by the All-India Kashiraj Trust, Varanasi.
32. Quarterly Journal of the mythic society, Bangalore.
33. Transactions of the American Philological Association.
34. Vishveshvaranand Indological Journal, Hoshiarpur.

□□